"पूज्य माता-पिता

के

चरणों

में

सादर समर्पित"

—विष्णुदेव

प्राक्कथन

अपनी प्रथम पुस्तक "नीतिशास्त्र की रूपरेखा" पाठकों के हाथ देते हुए मुझे अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। यह पुस्तक बी० ए० (पास तथा आनर्स) के विद्यार्थियो के हित को ध्यान में रखकर लिखी गई है। नीतिशास्त्र, दर्शन-शास्त्र का एक अभिन्न एव अविच्छिन्न अंग है। अतएव नीतिशास्त्र का अध्ययन दर्शन का एक वांच्छनीय अध्ययन है। विद्यार्थियो के लिये इधर नीतिशास्त्र पर कुछ किताबे अवश्य निकली है पर मेरे विचार से उनमे से किसी एक से विद्यार्थियो को समस्त आवश्यकताएँ पूरी नही होती। यही कारण कि मैंने इस विषय पर लेखनी उठाने का साहस किया। प्रस्तुत पुस्तक मे पाश्चात्य नीतिशास्त्र और भारतीय नीतिशास्त्र दोनो की समुचित विवेचना की गयी है। विगत पाँच वर्षों से नीतिशास्त्र मेरे पठन-पाठन का एक मुख्य अग रहा है। इस सिलसिले मे विद्यार्थियो की जो व्यावहारिक कठिनाइयां मेरे समक्ष आईं उन सबो का समाधान मैंने इस पुस्तक मे करने का प्रयास किया है। जहाँ तक हो सका है मैंने भाषा की सरलता और व्याख्या की स्पष्टता पर जोर दिया है। इस पुस्तक मे न केवल पाश्चात्य और भारतीय नीतिशास्त्रो की पृथक-पृथक व्याख्या की गयी है, प्रत्युत जहाँ जहाँ सम्भव है, तुलनात्मक विवेचना पर भी ध्यान दिया गया है। भारतीय नीतिशास्त्र के सिद्धांतो की पुष्टि एवं स्पष्टीकरण के लिये भारतीय दार्शनिको की सूक्तियो को जगह-जगह मौलिक रूप मे संस्कृत मे रख दिया गया है। आशा है, यह पुस्तक विद्यार्थियो के लिये उपयोगी सिद्ध होगी।

मैं प्रो० उमाचरण झा, दर्शन विभाग, राँची कालेज का अनुगृहीत हूँ जिन्होने समय-समय पर अपने सुलझे हुए विचारो से इस पुस्तक के लिखने मे सहायता प्रदान की है। प्रो० पाण्डेय ब्रम्हेश्वर विद्यार्थी ने भारतीय नीतिशास्त्र के लिखने मे जो मेरी सहायता की है उसके लिये मै उनका हृदय से आभारी हूँ। श्री राजकिशोर प्रसाद श्री राजेन्द्र झा, श्री लालराम नाथ साह देव, श्री नरेन्द्र तिवारी और श्री पंञ्चम राय, इन सभी विद्यार्थियो का आभारी हूँ, जिन्होने इस पुस्तक की हस्तलिपि तैयार की है। मै इस पुस्तक के प्रकाशक मोतीलाल बनारसी दास का भी अनुगृहीत हूँ, जिन्होंने इसके प्रकाशन का भार वहन किया है।

राँची }

विष्णुदेव नारायण ओझा

विषय सूची

प्रथम भाग

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

छठवाँ अध्याय

सातवाँ अध्याय

आठवाँ अध्याय

नववाँ अध्याय

दसवाँ अध्याय

ग्यारहवाँ अध्याय

बारहवाँ अध्याय

तेरहवाँ अध्याय

चौदहवाँ अध्याय

पंद्रहवाँ अध्याय

दूसरा भाग

भारतीय नीतिशास्त्र की रूप-रेखा

———

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

नीति-शास्त्र की परिभाषा:—नीति-शास्त्र की कोई ऐसी परिभाषा देना जो सर्वमान्य हो, बहुत कठिन मालूम पड़ता है। इसका प्रमुख कारण है कि विद्वानो ने इसके स्वभाव और अन्य सम्बन्धो को भिन्न-भिन्न रूपो में अपने ही दृष्टिकोण से देखा है। इसके अतिरिक्त इसका संबंध हमलोगो के रोज के जीवन से इतना नजदीक है कि इसे कुछ शब्दो की परिधि में बाँधना आसान नही। फिर भी, हम इसकी परिभाषा निम्नलिखित ढंग से कर सकते हैं :—

नीति-शास्त्र नियमित मानवीय आचरण की चरम (ultimate) समस्याओ का क्रमिक अध्ययन है।

'Ethics is the systematic study of the ultimate problems of right human conduct

इस प्रकार सर्वप्रथम हम पाते हैं कि नीति-शास्त्र मानवीय आचरण का अध्ययन करता है। इसका सम्बन्ध मनुष्य-मात्र से है। प्रसिद्ध विद्वान अरस्तू ने मनुष्य को विचारशील प्राणी कहा है। वस्तुतः मनुष्य की महत्ता उसकी इस विचारने की शक्ति (Power of Reflection) मे ही है। प्राण तो मनुष्य-जैसा जानवरों में भी हुआ करता है। लेकिन जहाँ एक जानवर अपने मे प्राण के अस्तित्व से बिलकुल अनभिज्ञ रहता है, वही एक मानव भलिभाँति जानता है कि उसमें जीवन है। इतना ही नहीं, वह अथक परिश्रम करता है कि उसका यह जीवन उच्च कोटि का हो सके।

विज्ञान, सभ्यता, संस्कृति आदि सबोका श्रेय विचारने की शक्ति ही को है। नीति-शास्त्र का उद्गम-स्थान भी यही है।

प्रसिद्ध विद्वान सैमुएल अलक्जेन्डर ने अपनी पुस्तक (Space, Time and Deity) में बहुत ही विस्तृत रूप से दिखलाया है कि आदर्श का विकास तब तक नहीं होता, जब तक मनस (Mind) का विकास नहीं होता। मनस का विकास होते ही एक विषम परिस्थिति उठ खड़ी होती है। मनस बीती हुई घटनाओं पर मुड़कर देखता है। उसकी विवेचना और आलोचना करता है। उसका मूल्यांकन करता है। सत्य शिवं, सुन्दरम्—इन सभी आदर्शों का विकास सीधा नहीं होता। इनका प्रादुर्भाव मनुष्य और विश्व के परस्पर संघर्ष से ही होता है। अतः हम पाते हैं कि जीवन का आदर्श चेतना-शक्ति पर या विचारने की शक्ति पर निर्भर है। चूँकि यह शक्ति सिर्फ मनुष्यों में ही पायी जाती है, इसलिए आदर्श का सम्बन्ध सिर्फ मनुष्यों से ही होता है। जानवरों के कार्य-कलापों पर हम नैतिक निर्णय नहीं दे सकते। अतः नीति-शास्त्र का सम्बन्ध मनुष्यों और सिर्फ मनुष्यों से ही है।

अब हमें देखना है कि आचरण क्या है? आचरण चरित्र का द्योतक है। यह निष्प्रयोजन नहीं हुआ करता। इसका 'भला' या 'बुरा', 'उचित' या 'अनुचित' कोई उद्देश्य अवश्य हुआ करता है। लेकिन सिर्फ उद्देश्य पूर्ण हो जाने से ही हमारा काम नहीं चलता। बहुत-से ऐसे जड़ पदार्थ हैं, जिनका कुछ उद्देश्य होता है; फिर भी, हम उन्हें आचरण नहीं कह सकते। एक भूकम्प (Earthquake) बड़े-से-बड़े शहर को बर्बाद कर सकता है। एक आँधी गाँव-का-गाँव उजाड़ सकती है। लेकिन उद्देश्य पूर्ण होने पर भी ये सब इनके आचरण नहीं। मनुष्य को ही लें। हमारी आँखों में कुछ उड़कर आ जाने के पूर्व ही हमारी आँखें बन्द हो जाती हैं। यहाँ बन्द होने का उद्देश्य है आँखों की रक्षा करना। तो क्या हम इसे आचरण कह सकते हैं? कदापि नहीं। तो, प्रश्न है कि आचरण में उद्देश्य के अतिरिक्त है क्या? चेतना या अनुभव? नहीं। आँखें बन्द करने में तो चेतना का समावेश है। हम इसका अनुभव करते हैं। अतः चेतना से भी हमारा काम नहीं चलता। चेतना के साथ-ही-साथ इच्छा का होना भी जरूरी है। किसी काम को करने के समय हम अच्छी तरह समझें कि इस परिस्थिति में हमारे विचार में सबसे

अच्छा यही है। इसका होना या न होना हमारी इच्छा पर निर्भर है। इस-लिए आचरण का अर्थ है "ऐच्छिक क्रिया" । नीति-शास्त्र ऐच्छिक क्रिया का विज्ञान है।

हमने देख लिया कि नीति-शास्त्र मानवीय आचरण का अध्ययन करता है। अब देखना है कि मनुष्य की अन्यतम समस्याएँ क्या हैं ? नीति शास्त्र का सम्बन्ध आचरण से है। आचरण का अध्ययन भिन्न-भिन्न तरीकों से किया जा सकता है। सर्वप्रथम इसे बाह्य या स्वतन्त्र रूप से देख सकते हैं। ऐसा ही अध्ययन एक व्यवहारवादी किसी जानवर या मनुष्यों के आचरण का करता है। दूसरा तरीका हो सकता है कि हम उसके साथ या पूर्व होनेवाली मानसिक क्रियाओं का अध्ययन करें। ऐसा एक मनोवैज्ञानिक करता है। लेकिन नीति-शास्त्र इन सबोंसे भिन्न है। इसका सम्बन्ध मूल्यांकन से है। हमारे सामने एक कसौटी होती है, जिसपर सभी प्रकार के आचरणों को कसा जाता है। अगर वे खरे उतरते हैं, तो "उचित" हैं अन्यथा "अनुचित"। इसमें हम देखते हैं कि हमारा आचरण कैसा "होना चाहिए।" "होता है" से हमारा कोई मतलब नहीं। "होता है" की तो हम सिर्फ आलोचना करते हैं। यह सदा हमें एक आदर्श की ओर संकेत करता है।

मनुष्य के सामने समस्याओं का पहाड़ होता है। समस्या रूपी कम्बल उसपर इस प्रकार चिपट गया है कि लाख प्रयत्न करने पर भी मनुष्य उससे छुटकारा नहीं पा सकता। एक के समाधान में ही दूसरी समस्या का आरम्भ होता है। राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, यौनिक आदि सभी समस्याएँ मुँह बाये हमारे सामने खड़ी होती हैं। उन सबोंके समाधान में ही हम सदा परीशान रहते हैं। भूख की ही समस्या को लें। हमें भूख लगती है, जिसके फलस्वरूप हम खाना खाते हैं। लेकिन खाने का अपने में कोई महत्त्व नहीं है। इसका भी विशेष उद्देश्य है, जीना। जीने का उद्देश्य है जीवन का आनन्द उठाना। आर्थिक समस्याओं को लें। हम पैसा चाहते हैं। लेकिन क्यों ? इसलिए कि इससे हमारी अन्य समस्याओं का समाधान होता है। अतः पैसा का उद्देश्य दूसरा ही होता है। पैसा सिर्फ जमा करने के लिए व्यर्थ है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि ये छोटी-मोटी समस्यायें हैं और इनका समाधान वस्तुतः बड़ी समस्याओं के लिए ही होता है । तो, हम पूछ सकते हैं कि आखिर कोई ऐसी समस्या है या नहीं, जिसका उद्देश्य कुछ दूसरा नहीं हो ? जिसका समाधान सभी समस्याओं का समाधान हो ? इसके परे मनुष्य के सामने कोई समस्या नहीं हो ? यही मनुष्य की चरम समस्या है या नहीं ? अगर है, तो एक या एक से अधिक ? इस प्रकार नीति–शास्त्र का सम्बन्ध मानवीय आचरण की चरम समस्या से है ।

हमारे आचरण नियमित होने चाहिए । नियमानुसार कार्य करना भी मनुष्य की एक भारी विशेषता है । मनुष्य होने के नाते हमारे लिए "उचित" है कि हम किसी काम को उल्टे–पल्टे ढंग से न कर सुचारु रूप से नियमानुकूल कर । नीति–शास्त्र का सम्बन्ध इन्ही नियमित आचरणो से है । नियम का आदर्श से अलग कोई स्थान नहीं । नियम और आदर्श जुड़वाँ शब्द हैं । आदर्श की प्राप्ति के लिए नियम होने ही चाहिए । चूँकि नीति–शास्त्र आदर्शनिष्ठ विज्ञान है, इसलिए हमारे आचरण नियमित होने चाहिए ।

अन्त मे नीतिशास्त्र इन सबोका अध्ययन क्रमिक ढंग से करता है । किसी चीज का ज्ञान प्राप्त करने का सही तरीका यह है कि हम ज्ञात से अज्ञात की ओर बढे । स्पष्ट से अस्पष्ट की ओर बढ़े । क्रमिक का व्यवहार इसी अर्थ मे होता है । नीतिशास्त्र, जैसा हम देखते हैं, पहले यह देखता है कि 'आचरण' क्या है ? 'उचित' 'अनुचित' क्या है ? नैतिक निर्णय का आधार क्या होना चाहिए ? फिर अन्त मे आदर्श का निरूपण करता है । अतः नीतिशास्त्र अपने विषयों का यथाक्रम अध्ययन है ।

इसलिए नीतिशास्त्र नियमित मानवीय आचरण की चरम समस्याओ का क्रमिक अध्ययन है ।

नीति-शास्त्र का स्वरूप
Nature of Ethics

नीतिशास्त्र विज्ञान है:—नीतिशास्त्र एक विज्ञान है । लेकिन इसपर

कुछ लोगोंको आपत्ति है। हम देख चुके हैं कि नीतिशास्त्र का सम्बन्ध 'ऐच्छिक क्रिया' से है। 'ऐच्छिक क्रिया' का अर्थ है कि यह हमारी इच्छा पर निर्भर हो। चूँकि इसका सम्बन्ध इच्छा से है, इसलिए नीति-शास्त्र बेहिसाबी (incalculable) है। हम निश्चयात्मक ढंग से यह भविष्य-वाणी नहीं कर सकते कि अमुक परिस्थिति में अमुक आदमी ऐसा करेगा। उस कार्य का होना उस व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है। उसके सामने बहुत-से विकल्प (alternatives) होते हैं, जिनमें किसी एक को वह चुन सकता है। इसके विपरीत विज्ञान की विशेषता है कि इसमें भविष्यवाणी की गुंजाइश है। बल्कि यही इसकी विशेषता है। खगोल-शास्त्र (astronomy) में जब यही क्षमता आई कि वह ग्रहणों की भविष्यवाणी कर सकता था, तभी उसे विज्ञान माना गया। अतः इस भविष्यवाणी के अभाव में नीतिशास्त्र विज्ञान नहीं।

लेकिन यह आपत्ति निर्मूल है। पहली बात है हमारी इच्छाओं को बिल्कुल बेहिसाब मान लेना ही ठीक नहीं। हमारी जितनी भी क्रियाएँ हैं, वे सभी अन्ततोगत्वा प्राकृतिक कारणों के फलस्वरूप हैं। हम उनका ठीक-ठीक पता नहीं लगा सकते। इसका कारण है कि मनुष्यों की मानसिक क्रिया-प्रतिक्रिया के बारे में हमारे ज्ञान परिपक्व नहीं हैं। मनुष्य का विकास सबसे अन्त में हुआ है; इसलिए उसकी प्रकृति भी जटिलतम है। मनोवैज्ञानिकों के प्रयास से एक ऐसा दिन भी आ सकता है, जब हम ग्रहण की तरह यह भी दावे के साथ कह सकेंगे कि कौन मनुष्य किस परिस्थिति में क्या काम करेगा। अतः यह आपत्ति सही नहीं।

दूसरी बात है कि इसके अतिरिक्त विज्ञान का एक दूसरा अर्थ भी होता है। विस्तृत अर्थ में विज्ञान का मानी है ज्ञान या सत्य की प्राप्ति के लिए किसी भी प्रकार का क्रमिक अध्ययन। यहाँ यह एक विधि जैसा है। यह एक प्रकार की शक्ति है, एक तरीका है। नीति-शास्त्र का उद्देश्य है—मनुष्य की आधारभूत समस्याओं का ज्ञान प्राप्त करना। इसके लिए यह इससे संबंधित सभी चीजों में सम्बन्ध स्थापित करते हुए, उनका क्रमिक अध्ययन करता है। अतः नीतिशास्त्र विज्ञान है।

नीति-शास्त्र आदर्शनिष्ठ विज्ञान है:—एक दृष्टिकोण से विज्ञान को दो भागों में बाँटा जाता है—वर्णनात्मक और आदर्शनिष्ठ। जब हम किसी वस्तु का वर्णन या अध्ययन ज्यों-का त्यों करते हैं, तो वह वर्णनात्मक विज्ञान कहलाता है, जैसे—एक रसायनवेत्ता हाइड्रोजन और आक्सीजन को दो एक के अनुपात में मिलाकर दिखला देता है कि उससे पानी बनता है। एक मनोवैज्ञानिक किसीके मन का विश्लेषण करता है, तो उसका वह सिर्फ वर्णन मात्र करता है। वह उसके मन की आलोचना नहीं करता। वह यह नहीं कहता कि यह आदमी 'भला' है या 'बुरा'। 'चाहिए' से, 'आदर्श' से उसका कोई सम्बन्ध नहीं।

दूसरी तरफ एक तार्किक सही तरीके से तर्क करने की शर्तों की छानबीन करता है। उसका निर्णय वर्णनात्मक नहीं, विवेचनात्मक होता है। वह बताता है कि यह तरीका गलत है। इतना ही नहीं, वह हमें सही मार्ग पर ले भी चलता है। हमारा पथ-प्रदर्शक बनता है। उसके हाथों में एक आदर्श हुआ करता है—सत्य की प्राप्ति। यह उद्देश्य ही इसकी कसौटी है। सौंदर्य-शास्त्र की भी यही स्थिति है। यह भी सौंदर्य आँकने की शिक्षा देता है। इसके सामने भी सौंदर्य का एक आदर्श होता है और इसी आदर्श के आधार पर यह हमारे परखने की शक्ति या क्रिया की आलोचना करती है। इस प्रकार हम पाते हैं कि इन दोनों के सामने एक आदर्श होता है। इसी आदर्श के आधार पर ये हमारे निर्णयों का मूल्यांकन करते हैं। इन्हें हम आदर्श निर्धारात्मक विज्ञान कहते हैं।

नीति-शास्त्र भी इसी कोटि का विज्ञान है। हम देख चुके हैं कि नीति-शास्त्र एक ऐसी कसौटी की खोज करता है, जिसपर हमारे आचरणों को कसकर वह उनपर नैतिक निर्णय दे सके। सर्वप्रथम यह हमारे कार्यों की आलोचना करता है। अगर कोई आदमी बेईमान है, या झूठ बोलता है, तो नीति-शास्त्र अपना निर्णय देता है कि यह काम 'अनुचित' है, 'बुरा' है। लेकिन वह यहीं नहीं रुकता। आगे की ओर भी संकेत करता है। वह आदर्श रखता है कि हमें 'ईमानदार होना चाहिए', 'सत्यभाषी होना चाहिए।'

ईमानदारी या सच्चाई हमारा आदर्श है। इस आदर्श पर जब हम अपने कार्य को देखते हैं, तो पाते हैं कि हम कितने नीचे हैं। फिर हमे आदेश होता है कि आदर्श सामने है, चेष्टा करो कि इसे पा सको। अतः नीति-शास्त्र आदर्शनिष्ठ विज्ञान है।

नीति-शास्त्र—व्यावहारिक विज्ञान (A practical science) है:—इस सम्बन्ध मे भी विद्वानो में मतभेद है। कुछ लोग इसे व्यावहारिक विज्ञान मानते हैं और कुछ सिर्फ सैद्धांतिक विज्ञान (peculative science)। मतभेद का कारण है व्यावहारिक विज्ञान के अर्थ मे विभिन्नता।

एक मत के अनुसार जिस विषय का सम्बन्ध हमारे प्रति दिन के जीवन से होता है, उसे व्यावहारिक विज्ञान कहा जाता है। इसके अनुसार हर विज्ञान के दो पहलू होते हैं। एक ओर हम उसका अध्ययन सिर्फ ज्ञान के लिए ही करते हैं। यहाँ यह सिर्फ सिद्धान्त-निरूपण ही करता है। लेकिन इसके साथ-ही-साथ, दूसरी ओर इसका प्रयोग किसी और व्यावहारिक कार्य के लिए किया जाता है। यहाँ इसका रूप व्यावहारिक हो जाता है और तब हम उसे व्यावहारिक विज्ञान कहते हैं। मुइरहेड (Muirhead) साहब का यही मत है। इनके अनुसार हर विज्ञान में हम दोनो ही चीजे पाते है। नीति-शास्त्र इसके अपवादमे नहीं है। उदाहरण के लिए हम शारीरिक विज्ञान (Physiology) को ले सकते हैं। पहले अर्थ में इसका अध्ययन सिर्फ ज्ञान-भर के लिए, अर्थात् शरीर की बनावट के ज्ञान-भर के लिए किया जाता है। लेकिन जब एक डाक्टर रोगी के उपचार के लिए अपने इस ज्ञान का प्रयोग करता है, तो वह व्यावहारिक विज्ञान बन जाता है। भौतिक-शास्त्र, (Physics) रसायन-शास्त्र, (Chemistry) आदि में तो यह बात और भी स्पष्ट है। नीति-शास्त्र में भी जहाँ एक ओर, हम उसमें मनुष्य की चरम शुभ पदार्थ (Highest good or summum bonum) की छानबीन करते हैं, वहीं दूसरी ओर, इस ज्ञान के आधार पर अपने आचरण को ढालने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार हम नीति-शास्त्र में भी अन्य विज्ञान की तरह अन्य पहलुओ को पाते हैं।

अतः मुइरहेड साहब का कहना है कि विज्ञान को इन दो हिस्सों में बाँटना ही व्यर्थ और बेईमानी है। हर विज्ञान मे हम दोनों बातें पाते हैं।

दूसरा मत मैकेन्जी (Mackenzie) महोदय का है। उन्होंने बहुत ही सुन्दर ढंग से आदर्शनिष्ठ और व्यावहारिक विज्ञान मे विभेद किया है। पहले प्रकार के विज्ञान का सम्बन्ध एक आदर्श से होता है, इसे हम भली-भाँति देख चुके हैं; लेकिन व्यावहारिक विज्ञान का अर्थ है कि उसमे इस आदर्श-प्राप्ति के साधन भी मौजूद हों। इन साधनों के माध्यम से ही हम उस आदर्श तक पहुँच सकते हैं।

इस अर्थ मे स्पष्ट है कि नीति-शास्त्र व्यावहारिक विज्ञान नहीं है। यह सही है कि किसी भी विज्ञान की अपेक्षा इसका सम्बन्ध हमारे जीवन से अत्यन्त ही नजदीक है। लेकिन इससे यह व्यावहारिक नही कहा जा सकता। यहाँ हम मनुष्य के सर्वोच्च शुभ (Highest good) और आचरण के आदर्शों का अध्ययन करते हैं। इन सबोंका ज्ञान तो हमें अवश्य होता है लेकिन हम इस पर चल सकें, हमारे आचरण अच्छे हो सके, हम दुर्गुणों से बच सकें, इसके लिए नीति-शास्त्र हमे कोई साधन या मार्ग नहीं देता। इसलिए नीति-शास्त्र आदर्शनिष्ठ होते हुए भी व्यावहारिक नही।

इन दोनों विरोधी सिद्धान्तों मे मुइरहेड साहब का मत ही उचित जान पड़ता है। मैकेन्जी का यह कहना कि साधन के अभाव में नीति-शास्त्र व्यावहारिक विज्ञान नहीं है, सही नहीं जान पड़ता।

साधन तो किसी मूर्त्त वस्तु की प्राप्ति के लिए होता है। आदर्श का कोई मूर्त्त अस्तित्व नहीं होता। वह तो काल्पनिक एवं अमूर्त्त (abstract) होता है। फिर इसके पाने के लिए कोई मूर्त्त साधन हो ही, यह आवश्यक नहीं। मेरी दृष्टि में, आदर्श मे स्वयं ही इतनी शक्ति है कि हममे यह प्रभाव उत्पन्न कर सके कि हम वहाँ तक पहुँचने के लिए साधन खोज लें। साधन प्राप्त करना तो कर्त्ता का काम है। यह आदर्श थोड़े ही होगा।

इस कथन की पुष्टि सुकरात के "ज्ञान ही सद्गुण है" (knowledge is virtue) से भी होती है। जिसे कर्त्तव्य-ज्ञान हुआ नहीं ही, वह सदाचारी

क्या होगा ? ज्ञान होने पर तो सदाचारी होना कम-से-कम आसान अवश्य हो जाता है। शङ्कर ने भी मुक्ति का मार्ग ज्ञान को ही माना था। अतः नीति-शास्त्र व्यावहारिक है।

नीतिशास्त्र की उपयोगिता:—अब हम इस अध्याय के अन्त में देखें कि इस शास्त्र की उपयोगिता क्या है ? हम भलीभाँति जानते हैं कि किसी भी ज्ञान में दो प्रकार की उपयोगिता पाई जाती है। पहला है निरपेक्ष उपयोगिता (absolute value)। इसमें ज्ञान का पठन-पाठन हम सिर्फ ज्ञान के लिए ही करते हैं। अपने से परे इसका कोई भी उद्देश्य नहीं होता। दूसरी ओर, इसकी सापेक्ष उपयोगिता (relative value) भी है। इसमें इस ज्ञान का प्रयोग किसी और भी क्षेत्र में किया जा सकता है।

नीतिशास्त्र में भी यही बात है। एक ओर हम मनुष्य के चरम आदर्श (ultimate end) आदि का चिन्तन एवं मनन करते हैं, जो सिर्फ ज्ञान ही के लिए होता है। यहाँ इसका उद्देश्य सिर्फ ज्ञान-प्राप्तिका मार्ग है। हम जानते हैं कि स्वान्तः सुखाय सबसे बड़ा सुख है। यही इसकी निरपेक्ष उपयोगिता है।

लेकिन, हम इस ज्ञान के आधार पर अपने चरित्र को सुधारना चाहते हैं। राष्ट्र-परिषद् जब सामाजिक और राजनैतिक विधान बनाने बैठती है, तो वहाँ उसे बराबर इस बात का ख्याल रखना पड़ता है। यही कारण है कि प्राचीन काल में प्लेटो, अरस्तू, आदि ने नीतिशास्त्र और राजनीति-शास्त्र का विवेचन साथ-साथ किया। नीतिशास्त्र का कार्य है व्यक्ति का आदर्श-निर्धारण करना और राजनीति-शास्त्र का कार्य है राज्य और सरकार का आदर्श-निरूपण, जिसमें व्यक्ति के आदर्शों की पूर्त्ति हो सके। अतः राजनीति-शास्त्र, नीतिशास्त्र की अवहेलना कर ही नहीं सकता। फिर न्याय-शास्त्र के लिए भी नीति-शास्त्र का अध्ययन अपेक्षित है। उदाहरण के लिए हम स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति को लें। न्याय-शास्त्र जब दंड का विधान करता है, तो मानकर चलता है कि व्यक्ति में इच्छा-स्वातन्त्र्य है। परन्तु व्यक्ति में वस्तुतः इच्छा स्वतंत्र है या नहीं, इसका विवेचन नीति-शास्त्र करता है। यही इसकी सापेक्ष उपयोगिता है।

आश्चर्य की बात है कि बहुत सारे आचार्यों ने नीति-शास्त्र के अध्ययन को अनुपयोगी माना है। उनका कहना है कि उपयोगिता के ख्याल से इसका कोई भी स्थान नहीं। इसके लिए उन्होंने तर्क भी दिये हैं।

यह साधारण-सी बात है कि किसी विषय के अध्ययन से यह आशा की जाती है कि उसका उपयोग व्यावहारिक जीवन में हो सकेगा। एक तर्क-शास्त्र के विद्यार्थी से यह आशा की जाती है कि वह एक साधारण मनुष्य से अच्छी तरह तर्क कर सकेगा। उसी प्रकार एक नीति-शास्त्र के विद्यार्थी से यह आशा की जा सकती है कि अन्य मनुष्यों की अपेक्षा उसके आचरण संयमित एवं नियमित होंगे।

लेकिन वास्तविक जीवन मे हम कुछ उल्टा ही पाते हैं। तर्क-शास्त्र नहीं जाननेवाला मनुष्य कभी-कभी तर्क करने मे निपुण होता है और एक तर्क-शास्त्र का ज्ञाता उसमें बिल्कुल ही असफल। उसी प्रकार नीति-शास्त्र का एक महान पण्डित चरित्रहीन हो सकता है और एक साधारण संत या मानव अक्षरशः नैतिक नियम का पालन करता हुआ दीख पड़ता है। इस प्रकार अगर इस अध्ययन का हमारे जीवन में कुछ मूल्य ही नहीं, तब इसका अध्ययन ही क्यो? इसकी उपयोगिता ही क्या?

ऐसे तो यह शका सही जान पड़ती है; लेकिन जब हम नीचे उतर कर देखते हैं, तो पाते हैं कि यह सही नहीं है।

इस गलत विचार का कारण है, नीति-शास्त्र के सम्बन्ध में गलत भावनाओं (False assumption) मे विश्वास करना। हम आरंभ से ही कहते आ रहे हैं, कि नीति-शास्त्र आदर्शनिष्ठ विज्ञान है। यह हमें बतलाता है कि हमारे आदर्श क्या हैं। हमारे आचरण कैसे होने चाहिए। आचरण करना तो मनुष्यो मे एक स्वाभाविक क्रिया है। बिना नीति-शास्त्र के ज्ञान के भी कोई आचरण कर सकता है। लेकिन नीति-शास्त्र का अध्ययन और ज्ञान उसकी कर्त्तव्यनिष्ठता को और भी मजबूत बनाता है। उसे पूर्णता की ओर ले चलता है। इस ज्ञान का उद्देश्य है कि बुरे काम से बचे और सही-सही आचरण करे। जैसा हम कह चुके हैं कि नीति-शास्त्र इस आदर्श-

प्राप्ति के लिए हमें कोई साधन या बना-बनाया मार्ग नहीं देता; वह तो सिर्फ एक आदर्श देता है, जिसकी ज्योति सदा हमें आकर्षित करती रहती है। अगर कोई मनुष्य रास्ता भूल जाय, तो हम उसे मार्ग बता दे सकते हैं। उसपर चलना तो उसका काम है। एक लंगड़े आदमी को हम रास्ता दिखला दे सकते हैं। उसपर चलने के लिए, हम उसमें चलने की शक्ति का जन्म नहीं दे सकते। नीति-शास्त्र भी यही करता है।

साराश यह है कि नीति-शास्त्र एक सुधारात्मक विज्ञान (Correction science) है, सृजनात्मक (Creative) नहीं। अतः यह शका निमूल है।

इसे दूसरी तरह से देखें। आपका नौकर, जो अनपढ है, हो सकता है कि सही हिन्दी बोलता होगा। इसके विपरीत व्याकरण पढ़कर भी कोई सही नहीं बोल सकता। तो, इसका क्या अर्थ होगा कि व्याकरण पढ़ना बेकार है?

नीति-शास्त्र की उपयोगिता और प्रकार से भी बताई जा सकती है। हम कह चुके हैं कि ज्ञान का महत्त्व अपने में भी होता है। 'ज्ञान ज्ञान के लिए' (Knowledge for knowledge sake) एक वास्तविक सत्य है। प्रसिद्ध यूनानी विद्वान सुकरात के इस कथन में कि "ज्ञान ही सद्गुण है" (Knowledge is virtue) एक महत्त्वपूर्ण सत्य छिपा है। अनजाने सही काम करने से जान-बूझकर गलत करना कही अच्छा है। अगर हमें वस्तु-स्थिति का यथार्थ और सत्य ज्ञान है, तो कभी-न-कभी ऐसा समय अवश्य आवेगा, जब हम उसके अनुसार अपना आचरण बना लेंगे। लेकिन ज्ञान के अभाव में उचित-अनुचित का बोध न होने पर हमारी हालत एक जुआरी की-सी होती है। हम कभी भी कुछ भी कर सकते हैं। हम भलीभाँति जानते हैं कि सिर्फ ऐच्छिक क्रियाओं पर ही हम नैतिक निर्णय दे सकते हैं और ऐच्छिक क्रिया (Voluntary action) के लिए आदर्श का उचित एवं सही ज्ञान होना चाहिए। अतः "ज्ञान ही सद्गुण है", ऐसा कहना बिल्कुल उचित है। भारतीय दार्शनिक शकराचार्य ने भी मुक्ति का मार्ग ज्ञान ही बतलाया था, कर्म नहीं।

अन्त में, यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि रुचि (Interest) और ज्ञान (Knowledge) मे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। जिस चीज मे हमारी रुचि होती है, उसके सम्बन्ध मे हम ज्यादा-से-ज्यादा ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। फिर जैसे-जैसे ज्ञान का दीपक बढ़ता है, वैसे ही हमारी रुचि भी बढ़ती जाती है। अन्त मे इन दोनो के फलस्वरूप वह ज्ञान हमारे जीवन के साथ ऐसा घुलमिल जाता है कि हम सदा उसके अनुकूल ही आचरण करने का प्रयास करते हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि नीति-शास्त्र का अध्ययन अभी बहुत उपयोगी है। यही वजह है कि ससार के सभी सभ्य एवं सुसंस्कृत देशो मे इसका बहुत ही ऊँचा स्थान है।

—o—

दूसरा अध्याय

नैतिक, नीति-शून्य और अनैतिक कार्य

Moral, Non-moral and immoral action

नीति-शास्त्र में इन शब्दों का प्रयोग बोलचाल की भाषा से कुछ भिन्न प्रकार का होता है। साधारणतया हम भले कार्यों को नैतिक और बुरे कार्यों को अनैतिक कहते हैं। सत्य बोलना नैतिक और असत्य बोलना अनैतिक कहा जाता है। पर, जैसाकि हमने कहा, नीति-शास्त्र में इनका प्रयोग दूसरे ही अर्थ में किया जाता है।

नीति-शास्त्र मे नैतिक कार्य उन्हें कहा जाता है, जिसमे नैतिक गुण वर्त्तमान हो। नैतिक गुण अच्छा या बुरा दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। नैतिक गुणो के कारण ही हम किसी कार्य पर नैतिक निर्णय देकर उसे शुभ या अशुभ कहते हैं। सत्य बोलने मे भला गुण है। इसलिये इसे शुभ और झूठ बोलने मे बुरापन है, इसलिये इसे अशुभ कहा जाता है। अतः जिस किसी कार्य का भला या बुरा कुछ भी कहा जा सके अर्थात् जिन क्रियाओ पर हम नैतिक निर्णय दे सके, उन्हें नैतिक कार्य कहा जाता है। इस अर्थ मे अनैतिक कार्य भी नैतिक कार्य के अन्तर्गत ही आते हैं। मान लीजिये, किसी ने चोरी की। इस चोरी को हम अनैतिक कार्य कहते हैं। परन्तु यह नैतिक कार्य भी है, इसलिये नही कि यह अच्छा है, वरन इसलिये कि इसमे वे गुण मौजूद हैं, जिनके कारण इसपर नैतिक निर्णय देकर इसे हम बुरा कहते है। अब वे कौन-से गुण हैं, जिनसे कोई कार्य नैतिक होता है, इसे हम आगे देखेगे।

नीति-शून्य कार्य वे हैं, जिनमे नैतिक गुण वर्त्तमान हो और उनके अभाव

मे उस कार्य को हम भला या बुरा, उचित या अनुचित कुछ भी कहने में असमर्थ हो। ऐसे कार्यों पर नैतिक निर्णय नहीं दिये जा सकते। अब प्रश्न है कि आखिर कौन-सा कारण है, जिससे हम किसी कार्य पर नैतिक निर्णय दे ही नहीं सकते। नैतिक निर्णय देने का अर्थ है किसी व्यक्ति को उसके कामों के लिए दायी ठहराना। मान लीजिये, आपके मित्र ने आपके यहाँ आने का वादा किया। पर निर्धारित समय पर वह जानबूझ कर नहीं आया। यहाँ वचन की पाबन्दी न रहने के कारण आप उसे 'बुरा' कहते हैं। लेकिन यदि आने के समय उसे किसीने घर में बन्द कर दिया, जिसके फलस्वरूप वह आने में असमर्थ रहा, तो उसे हम उचित या अनुचित कुछ भी नहीं कह सकते। इसका अर्थ है कि काम करने की जवाबदेही (responsibility) जब कर्त्ता को दी जाती है, तभी उसके कार्य को हम बुरा या भला भी कह सकते हैं, अन्यथा नहीं।

नीति-शून्य कार्य

क्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं—ऐच्छिक और अनैच्छिक (Voluntary and Involuntary)। पहले का अर्थ है, वैसी क्रिया, जिसपर हम नियंत्रण रख सके और दूसरे का अर्थ है, अनियन्त्रित अर्थात् जिनपर हमारा कोई वस न हो। इसके देखने से ही पता चल जाता है कि ऐच्छिक (Volnntary) क्रिया पर ही हम नैतिक निर्णय (Moral judgement) दे सकते हैं। जब किसी काम का होना हमारे वस की बात है, तब तो अवश्य ही उसके करने पर उसके लिये हम जवाबदेह होते है। यहाँ हमारे काम को अच्छा या बुरा कहा जा स: । लेकिन जब काम करना हमारे अधिकार मे हो ही नहीं, वह काम हमारे रोकने पर भी आप-ही-आप हो जाता है; तो हमारा क्या दोष? इस तरह के अच्छे काम के लिये भी न तो हम अच्छे कहे जा सकते हैं और न बुरे काम के लिये बुरे ही। इसे ही हम अनैच्छिक क्रिया कहते हैं। अतः अनैच्छिक क्रिया का अर्थ है, वैसी क्रिया, जिसपर हमारा वस (Control) न हो; जिसके संपादन मे हमारी इच्छा का समावेश

नहीं हो। उसका होना या न होना हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं हो। उसी आधार पर निम्नलिखित क्रियाओं को नीति-शून्य कार्यों के अन्दर रख सकते हैं :—

सर्वप्रथम निर्जीव पदार्थों को अपने कार्यों पर नियन्त्रण रखने का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि किसी बड़े भूकम्प के कारण एक शहर ध्वंस हो जाय या बाढ़ के फलस्वरूप हजारों की जानें जायँ, तो इसमें भूकम्प या बाढ़ का क्या कसूर? इसके होने में इन दोनों का कोई भी हाथ न था। अतः निर्जीव पदार्थों के कार्य नीति-शून्य हैं। उनपर हम नैतिक निर्णय नहीं दे सकते।

वनस्पति और पशुओं की क्रियाओं पर भी हम नैतिक निर्णय नहीं दे सकते, क्योंकि उनके कार्य नीति-शून्य होते हैं। उनमें प्राण तो अवश्य होता है; परन्तु बुद्धि के अभाव में इच्छा-शक्ति नहीं रहती। यदि कोई वृक्ष किसीके शरीर पर गिर जाय, तो उसे हम भला या बुरा कुछ भी नहीं कह सकते। इसी प्रकार यदि कोई भैंस किसी राही को पटक देता है, तो इसके लिये उस भैंस को हम दोषी नहीं ठहराते। चूँकि वृक्ष या पशु सोच नहीं सकते, अतः कार्यों का दायित्व भी उनपर नहीं लादा जा सकता। इसी कारण इनके कार्य नीति-शून्य माने जाते हैं।

इसी प्रकार हमारे आकस्मिक कार्य भी नीति-शून्य होते हैं। ये ऐसी क्रियाएँ हैं, जिनके घटित होने में हमारा हाथ नहीं रहता, वरन् आकस्मिक रूप में आप-ही-आप हमारे अनजाने में हो जाया करती हैं। इसमें इच्छा का स्थान नहीं होता। अतः इन क्रियाओं का दायित्व भी कर्त्ता पर नहीं हो सकता। मान लीजिये, कोई आदमी पत्थर फेंककर आम तोड़ रहा है। उसने भलीभाँति देख लिया कि अगल-बगल में कोई आदमी नहीं है, जिसे चोट आने की आशंका हो। फिर भी अचानक बगल की झाड़ी से कोई आदमी निकलता है और पत्थर उसे जा लगता है। इसे हम एक आकस्मिक घटना कहेंगे। चूँकि इसके करने में कर्त्ता की इच्छा नहीं है; अतः इसका दायित्व उसपर नहीं है और वह कार्य नीति-शून्य है।

फिर प्रतिक्षेप क्रियाएँ (reflex action) भी अनैच्छिक होती हैं।

यह एक स्वतः (automatic) क्रिया है। इसमें हमारी इच्छा के प्रयोग के लिये बिल्कुल स्थान नहीं होता है। जैसे, अगर किसीका हाथ गलती से आग पर पड़ जाय, तो वह स्वतः ही खिंच जाता है। इसी प्रकार हमारी आँखें आप-ही-आप बन्द हो जाया करती हैं। अब यदि कोई पिता अपने पुत्र को आज्ञा दे कि उसकी आँख में धूल झोंकने पर भी पलक न गिरने पावे और पुत्र ऐसा करने में असमर्थ हो, तो इससे वह पिता की आज्ञा का उल्लंघन करने के लिये दोषी नहीं ठहराया जा सकता।

पागल, बेवकूफ और छोटे बच्चों के कार्य भी नीति-शून्य माने जाते हैं। स्पष्ट है कि ये सभी अपने कार्यों पर नियन्त्रण नहीं रख सकते। पागल और बेवकूफ के सम्बन्ध में तो यह स्पष्ट है ही है। बच्चों को चूँकि उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं रहता, अतः उनके कार्यों की भी हम आलोचना नहीं कर सकते। मान लीजिये, एक बच्चा किसी मिठाई की दूकान में मिठाई उठाकर खा जाता है। इसके लिये बच्चे को अशिष्ट नहीं कहा जा सकता। भला, छोटे बच्चे को अपने और पराये का ज्ञान ही कहाँ है? अतः ये सभी कार्य नीति-शून्य हैं और इनपर नैतिक निर्णय नहीं दिये जा सकते।

सम्मोहन (Hypnotism) के वश में किया गया कार्य भी नीति-शून्य माना जायगा। इसमें कर्त्ता के मस्तिष्क पर सम्मोहक का अधिकार होता है। अतः उसके द्वारा किये गये कार्यों में उसकी इच्छा-शक्ति का समावेश नहीं होता। इसलिये ऐसे कार्य भी अनैतिक हैं और इनपर नैतिक निर्णय नहीं दिया जा सकता।

ऊपर की क्रियाओं को देखते हुए शंका हो सकती है कि अभ्यासजनक कार्य(habitual action) अनैच्छिक क्रिया ही है; क्योंकि इसमें भी सोचने-समझने की आवश्यकता नहीं होती। लेकिन ऐसा सोचना उचित नहीं। यह सही है कि आदत हो जाने पर फिर उस काम को करते समय, उसके संबंध में चुनाव या संघर्ष आदि की आवश्यकता नहीं होती। इससे इसमें इच्छा-शक्ति का अभाव ही रहता है। लेकिन वस्तुतः ऐसी प्रतिक्रिया अर्जित है। आरम्भ में उस काम को करने के समय हमें उन सभी स्थितियों से होकर गुजरना

पड़ता है, जो किसी भी ऐसी क्रिया के लिये आवश्यक है। लेकिन एक ही काम को बार-बार करने के कारण अभ्यास हो जाने पर उस क्रिया को करने में हमें चेतना-रूप से इच्छा-शक्ति का प्रयोग नहीं करना पड़ता। लेकिन उसकी तह में पहले की क्रियाओं की स्पष्ट छाप रहती है। अतः अभ्यस्त क्रियाओं पर हम नैतिक निर्णय दे सकते हैं। अब हमे देखना है कि ऐच्छिक क्रिया क्या है।

नैतिक कार्य
Moral Action

अभी हमने देखा कि जिस कार्य में चुनाव, संघर्ष, इच्छा-शक्ति और कर्त्ता के नियन्त्रण आदि का अभाव हो, उसे नीति-शून्य कार्य कहते हैं। ऐसी क्रियायें को अनैच्छिक क्रियाएँ कहते हैं। इसके विपरीत जिस कार्य के सम्पादन में चुनाव, संघर्ष इच्छा-शक्ति और कर्त्ता का नियन्त्रण रहे, उसे ऐच्छिक क्रिया कहते हैं। चूँकि इन क्रियाओ का पूरा दायित्व कर्त्ता पर रहता है, इसलिये ऐसे कार्यों पर हम नैतिक निर्णय दे सकते हैं और फलस्वरूप ये कार्य नैतिक-कार्य कहे जाते हैं। अब हम ऐच्छिक क्रिया की ही व्याख्या करेंगे।

ऐच्छिक क्रिया
Voluntary Action

इतना तो स्पष्ट है कि ऐच्छिक क्रिया में कर्त्ता पूर्णतया स्वतन्त्र होता है। वह जो कुछ भी करता है, जानबूझकर अपनी इच्छा से; भावावेश में नहीं। ऐच्छिक क्रिया के अध्ययन की सुविधा के लिये हम उन्हें तीन भागों मे बाँट सकते हैं :—

१—मानसिक स्थिति।
२—शारीरिक स्थिति।
२—परिणाम की पूर्णता की स्थिति।

अब इन्हें हम एक-एक कर देखेंगे।

मानसिक स्थिति

किसी भी क्रिया का उद्‌गम स्थान मस्तिष्क ही होता है। फिर अन्त में

इस अमूर्त प्रेरणा को हम मूर्त (concrete) कार्य का रूप देते हैं। यहाँ हमें देखना है कि कार्य के करने के पहले किस प्रकार हमारे मस्तिष्क में भिन्न-भिन्न क्रियाएँ होती हैं।

अभाव (Want)—सर्वप्रथम हम किसी अभाव (Want) का अनुभव करते हैं। यह अभाव चाहे तो वास्तविक हो सकता है या काल्पनिक। वर्त्तमान के अभाव को,जो अभी हमारे सामने समस्या बनकर खड़ी हो, वास्तविक अभाव कहते हैं। इसके विपरीत वे आवश्यकताएँ जो अभी तो नहीं हैं, परन्तु आगे आनेवाली हैं और जिनकी कल्पना-मात्र से ही हम चिन्तित हो जाते हैं, काल्पनिक अभाव है।

फिर यह अभाव आर्थिक, नैतिक, विद्या सम्बन्धी या अन्य किसी भी प्रकार का हो सकता है।

इच्छा (Desire)—स्पष्ट है कि अभाव की स्थिति दुःखदायी होती है। इससे त्राण पाने के लिये हम किसी वस्तु की कल्पना करते हैं, जिससे इस अभाव की पूर्त्ति हो सकती है। फिर प्रस्तुत स्थिति में हम उस वस्तु की प्राप्ति करना ही आदर्श समझने लग जाते हैं। कल्पना में उस वस्तु को पा जाने के लिये संतोष अथवा आनन्द का अनुभव होता है। इस वस्तु को पाने के लिये हम व्यग्र हो उठते हैं। इस दूसरी स्थिति को इच्छा (Desire) कहते हैं। जब साधारण कोटि की इच्छा होती है, तो हम इसके बाद तुरत कार्य शुरू ही कर देते हैं। परन्तु कभी-कभी इच्छाओं में भी संघर्ष उठ खड़ा होता है।

इच्छाओं का संघर्ष (Conflict of desires)—विद्वानों ने इसे प्रेरणाओं का संघर्ष भी कहा है। परन्तु संघर्ष इच्छाओं का होता है, प्रेरणाओं का संघर्ष असम्भव है। इसकी विवेचना हमने प्रेरणा के अध्ययन के सिलसिले में की है और पाठक उसे देख सकते हैं।

खैर, प्रश्न है कि इच्छाओं का संघर्ष होता क्यों है। मनोवैज्ञानिकों ने इसके तीन कारण माने हैं :—

१—वैयक्तिक त्रुटियाँ (Personal deficiencies)

२—वातावरण सम्बन्धी बाधाएँ

२—इच्छाओं का संघर्ष

मान लिया कि किसी मनुष्य को हजार रुपये की आवश्यकता है। उसने निश्चय किया कि वह कर्ज लेने या चोरी करने के बदले जी-तोड़ परिश्रम कर इतना कमा ही लेगा। परन्तु वह सदा अस्वस्थ रहने के कारण कठिन परिश्रम नहीं कर सकता। अतः उसके मन मे संघर्ष होता है कि वह कर्ज ले या चोरी करे या जान की बाजी लगाकर कमाये। यह संघर्ष है वैयक्तिक त्रुटि के कारण।

वातावरण-सम्बन्धी बाधाओ के कारण भी कर्त्ता के मन में संघर्ष उठ खड़ा होता है। मान लीजिये, कोई मनुष्य अन्तर्जातीय विवाह करने के लिये तैयार होता है। उसने लड़की से शादी करने का दिन भी निश्चित कर लिया है। परन्तु उसके माता-पिता और समाज के लोग इस विवाह के लिये तैयार नहीं। उसे घर से निकाल देने और समाज से बहिष्कृत कर देने की धमकी दी जा रही है। अब उसके मन मे संघर्ष होता है कि वह अपनी इच्छा का पालन करे या समाज अथवा माता-पिता की।

सबसे अधिक संघर्ष तो इच्छाओ का ही होता है। चूँकि एक ही समय में कर्त्ता की रुचि (Interest) बहुमुखी होती है, अतः भिन्न-भिन्न प्रकार की विरोधी इच्छाएँ एक ही समय अपनी पूर्ति चाहती हैं। फलस्वरूप इच्छाओ का संघर्ष उठ खड़ा होता है। उदाहरण के लिये किसी विद्यार्थी को लीजिये। वह पढ़ाई, परीक्षा आदि में रुचि रखता है और साथ ही मनोरंजन की चीजो में भी। उसकी परीक्षा नजदीक है और इसी समय शहर मे बहुत बढ़िया सिनेमा आ गया। अब उसकी इच्छा सिनेमा जाने की है और पढ़ने की भी। फलस्वरूप संघर्ष उठ खड़ा होता है कि वह सिनेमा जाय या पढ़े। यही इच्छाओ का संघर्ष है।

तर्क-वितर्क (**Deliberation**)—संघर्ष की स्थिति बहुत ही कष्टदायक होती है। इस स्थिति मे कोई अधिक समय तक नहीं रह सकता। इस संघर्ष की स्थिति से वह तर्क-वितर्क के द्वारा ही मुक्ति पा सकता है। यहाँ वह

विरोधी इच्छाओं के गुण-दोष का मूल्यांकन करता है। किस इच्छा की पूर्ति से उसका फ़ायदा है, यह वही तय करना चाहता है।

चुनाव अथवा निर्णय (**Choice or Decision**)—इस स्थिति मे वह विरोधी इच्छाओं मे से किसी एक पर चलने का निर्णय कर लेता है। यदि वह स्वयं रास्ता तय नहीं करता, तो मित्रों से राय लेता है। चाहे जिस तरह से भी हो, वह दृढ़ निश्चय कर लेता है कि वह क्या करेगा। प्रस्तुत स्थिति मे वह उसे ही अपना सर्वोत्तम आदर्श मानकर उससे अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। यही उसके लिए प्रेरणा (Motive) का रूप धारण कर लेता है। इसके बाद वह काम करने के लिए तैयार हो जाता है।

संकल्प या प्रयोजन **Resolution or intention**—यहाँ वह अपनी प्रेरणा के फलस्वरूप आदर्श-प्राप्ति के लिए साधन आदि तय करता है। फलाफल पर विचार करता है और कर्त्तव्य करने के लिये दृढ़ संकल्प कर लेता है।

शारीरिक स्थिति

यह स्थिति नीति-शास्त्र की अपेक्षा मनोविज्ञान के लिए महत्त्वपूर्ण है। शारीरिक स्थिति का अर्थ है, वे सारी शारीरिक क्रियाएँ, जो इच्छा को मूर्त्त रूप देने में सहायक होती हैं।

परिणाम की पूर्णता की स्थिति

जब हम कार्य कर लेते हैं, तो इसके कुछ परिणाम होते हैं। सर्वप्रथम तो इसका फल या परिणाम होता है कि हम जिन इच्छाओं की पूर्त्ति चाहते थे, उनकी पूर्ति हुई। यह हुआ इच्छित परिणाम (Desired consequences)। इसके साथ ही कुछ ऐसे परिणाम भी होते हैं, जिनकी इच्छा तो हमने नहीं की थी; परन्तु मुख्य ध्येय की प्राप्ति के साथ ही उनका होना भी आवश्यक था। सबसे अन्त में वे परिणाम होते हैं, जिनकी कर्त्ता ने कल्पना नहीं की थी। परन्तु अचानक वे भी उपस्थित हो गयीं। ऐसे परिणामों के लिए कर्त्ता को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता।

ऐच्छिक क्रिया की ऊपर दी गई व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन क्रियाओं को करने मे हर स्थिति में कर्त्ता स्वतन्त्र रहता है। वह जो कुछ भी करता है, अपनी इच्छा से। अतः यहाँ कार्य का पूरा दायित्व उसके ऊपर होता है। यहाँ हम उसके कार्यों पर नैतिक निर्णय दे सकते हैं अर्थात् उसे भला या बुरा कह सकते हैं।

अतः ऐच्छिक क्रिया को ही नीति-शास्त्र में नैतिक कार्य कहा जाता है।

अनैतिक कार्य

Immoral Action

वैसे कार्य जो निन्दनीय हैं, अनैतिक कहे जाते हैं। झूठ बोलना, चोरी करना, धोखा देना आदि अनैतिक कार्य हैं; परन्तु बृहत् अर्थ में अनैतिक कार्य भी नैतिक कहे जा सकते हैं। अभी हमने देखा कि ऐच्छिक क्रियाएँ ही नैतिक कही जाती हैं। ऊपर कहे गए कार्यों के लिए हम कर्त्ता का दायित्व ठहराकर उसपर नैतिक निर्णय दे सकते हैं। संकुचित अर्थ मे नैतिक कार्य भले आचरण का द्योतक होता है।

—०—

तीसरा अध्याय

आधारभूत नैतिक प्रत्यय

Fundamental Ethical Concepts

हर विषय के अपने क्षेत्र मे कुछ विशेष प्रत्यय होते हैं, जिनका प्रयोग उस विषय मे एक विशेष अर्थ में ही होता है। उसी शब्द का अर्थ बोल-चाल की भाषा मे कुछ और ही होता है। नीति-शास्त्र के भी कुछ ऐसे ही प्रत्यय हैं। उनके प्रयोग के पूर्व हमे इन प्रत्ययो का सही अर्थ जान लेना चाहिये।

उचित और अनुचित

Right and Wrong

किसी कार्य के नैतिक गुणो को व्यक्त करने के लिये साधारणतया 'उचित' अथवा 'अनुचित' या 'शुभ' अथवा 'अशुभ' का प्रयोग किया जाता है।

'उचित' अंग्रेजी शब्द (Right) का अनुवाद है। (Right) की उत्पत्ति लेटिन शब्द (Rectus) से हुई है। Rectus का अर्थ है सीधा या नियमानुसार। इसी प्रकार 'अनुचित' अंग्रेजी शब्द Wrong का अनुवाद है। Wrong का Wring से सम्बन्धित है, जिसका अर्थ होता है ऐंठा हुआ। अतः उचित और अनुचित की उत्पत्तियों को देखने से पता लगता है कि जो आचरण नियमानुकूल किये जाते हैं, उचित और जो नियमानुकूल नहीं किये जाते अर्थात जो किसी नियम का उल्लंघन करते हैं, उन्हें अनुचित कहा जाता है। उदाहरण के लिये एक सामान्य नियम को लीजिये। 'सदा सत्य बोलना चाहिये'। यदि किसीने इसका पालन किया, तो उसके आचरण को हम उचित कहेंगे। परन्तु यदि वह झूठ

बोला, जो नियम का उल्लंघन हुआ, तो उसके इस आचरण को 'अनुचित' कहा जायगा।

इस प्रकार 'उचित' और 'अनुचित' का सम्बन्ध नियम से है। परन्तु नियम तो साधन-मात्र होता है, किसी आदर्श की प्राप्ति के लिये। अतः हमें उन प्रत्ययों को भी देखना होगा,जो आदर्श के आधार पर कार्यों का नैतिक मूल्याकन करते हैं। ऐसे प्रत्यय हैं 'शुभ' और 'अशुभ'।

शुभ और अशुभ
Good and Bad or Evil

'शुभ' का प्रयोग आदर्श के आधार पर मूल्याकन के लिये किया जाता है। 'शुभ' भी अंग्रेजी शब्द (Good) का अनुवाद है। (Good) जर्मन शब्द (Get) से निकला है, जिसका अर्थ है, किसी आदर्श-प्राप्ति के लिये सहायक। कभी तो इसका प्रयोग किसी आचरण के नैतिक गुण के लिये किया जाता है और कभी आदर्श के लिये ही। पहले मे इसका प्रयोग विशेषण के रूप में होता है और दूसरे में संज्ञा के रूप में। जैसे—जब कहते हैं कि शान्ति के लिये प्रयास करना शुभ कार्य है, तो यह विशेषण के रूप में प्रयोग हुआ। परन्तु जब कहते हैं कि शान्ति हमारा शुभ या आदर्श है, तो यहाँ इसका प्रयोग संज्ञा के रूप में हुआ। अतः यदि हम किसी आचरण को शुभ कहते हैं, तो इसका अर्थ है कि वह आदर्श प्राप्ति के सहायक हैं। लेकिन जैसा कि हम जानते हैं कि इसका प्रयोग स्वय ऐसे आदर्श के लिये भी किया जाता है, जो किसी दूसरे आदर्श का साधन नही होता। ऐसे आदर्श को सर्वोच्च शुभ (Highest good) या चरम आदर्श (Summum bonum or ultimate end) कहते हैं। इसी प्रकार जो आचरण आदर्श-प्राप्ति में सहायक न हो सका, उसे 'अशुभ' कहते हैं।

सर्वोच्च शुभ
Highest good

हमने अभी कहा है कि शुभ का प्रयोग दो अर्थों में होता है। इसी आधार पर शुभ दो प्रकार के माने जाते हैं। निरपेक्ष शुभ (Absolute

good) और सापेक्ष शुभ (Relative good)। इन्हें ही क्रमशः सर्वोच्च शुभ और साधनात्मक शुभ (Instrumental good) कहते हैं। निरपेक्ष शुभ अथवा सर्वोच्च शुभ वह है, जिसकी प्राप्ति स्वतः महत्त्वपूर्ण है। वह किसी अन्य आदर्श का साधन नहीं होता। परन्तु सापेक्ष शुभ अथवा साधनात्मक शुभ वह है, जिसकी प्राप्ति अपने लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है, वरन् उसकी प्राप्ति से किसी अन्य बड़े आदर्श की प्राप्ति होती। चूँकि यह किसी बड़े आदर्श के लिए साधन का काम करता है; अतः इसे साधनात्मक शुभ कहते हैं। उदाहरण के लिए हम व्यायाम, शुद्ध भोजन आदि को लें। ये भी सापेक्ष आदर्श हैं। इन्हें हम इसलिए चाहते हैं, ताकि हमारा स्वास्थ्य अच्छा रहे। अतः ये सभी सापेक्ष शुभ हुए। फिर अच्छा स्वास्थ्य पाना भी एक आदर्श है। धन प्राप्त करना इसी प्रकार का आदर्श है। परन्तु ये सभी सापेक्ष हैं। इन सबोंकी सार्थकता इसीमें है कि इनकी उपलब्धि से हमें सुख मिलता है; लेकिन सर्वोच्च आदर्श किसी अन्य आदर्श का साधन नहीं होता।

सर्वोच्च आदर्श है क्या, इसके सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। इसे हम नैतिक मापदंड के अध्ययन के सिलसिले में देखेंगे।

उचित और शुभ में मौलिक कौन ?

हमने देखा कि नियम के आधार पर आचरण के मूल्यांकन के लिए 'उचित' और 'अनुचित' का प्रयोग होता है। परन्तु आदर्श के आधार पर इसके लिए 'शुभ' और 'अशुभ' का प्रयोग होता है। अब हमें देखना है कि इन दोनों में मौलिक प्रत्यय कौन-सा है—उचित अथवा शुभ।

१—ऊपर से देखने से तो उचित ही मौलिक मालूम होता है; परन्तु यह ठीक नहीं। यह सही है कि सभ्यता के आरम्भ में नियम ही प्रधान रहा होगा। उस समय लोगोंने उचित आचरण दंड के भय से ही किया होगा, आदर्श मानकर नहीं। उदाहरण के लिए हम किसी छोटे बच्चे को लें। लड़कपन में उसे मारपीट कर सही रास्ते पर लाया जाता है। उस समय सिर्फ पिता के डर से वह उसकी आज्ञा मान लेता है। परन्तु सामने

होने पर वही आदमी बचपन में सिखलाये गये आचार-व्यवहार को अपना आदर्श मानकर चलता है। उसे अब वह डर से नहीं करता, वरन् शुभ समझता है। यह 'शुभ' तो उसके लिए बचपन में भी था; पर उस समय उसे इसे समझने की शक्ति न थी। उस समय उसे शुभ प्राप्ति के लिए नियमित आचरण करने पड़ते थे। अतः नियम पालन उस समय साधन था। डीआर्की ने कहा है "यद्यपि तार्किक रूप में तो यह (Right) मौलिक नहीं; परन्तु समय के हिसाब से यह पहले आता है।" • इसका अर्थ है कि नियम समय के हिसाब से तो पहले अवश्य आते हैं; परन्तु गौण रूप में वहाँ भी उनका उद्देश्य है शुभ या आदर्श की प्राप्ति। अतः शुभ का मौलिक होना ही तर्क-संगत है।

२—नीति-शास्त्र का स्वरूप ही बतलाता है कि 'शुभ' ही मौलिक है। यह एक आदर्शनिष्ठ विज्ञान है। आदर्श-निरूपण ही इसका काम है। अतः नियम तो इस आदर्श-प्राप्ति के साधन-मात्र होंगे। नियम का अस्तित्व आदर्श-प्राप्ति के लिये होता है। आदर्श नियम के पालन के लिये नहीं बनाये जाते। इस दृष्टिकोण से भी 'शुभ' मौलिक है।

३—फिर हम जानते हैं, कि नैतिक निर्णय का असल विषय कर्त्ता या उसका चरित्र है, न कि एक विशेष आचरण (Particular Conduct)। व्यक्ति की अच्छाई या बुराई के लिये हम 'शुभ' अथवा 'अशुभ' का ही प्रयोग करते हैं, न कि 'उचित' या 'अनुचित' का। इसलिये चूँकि नैतिक निर्णय शुभ के माध्यम से ही सही-सही किया जा सकता है, अतः शुभ ही मौलिक है।

४—शुभ का क्षेत्र उचित से व्यापक है। 'उचित' का प्रयोग हम सिर्फ आचरण के लिये कर सकते हैं; परन्तु शुभ का प्रयोग हम आचरण, चरित्र और कर्त्ता तीनो के लिये ही कर सकते हैं। किसी आचरण को हम 'उचित' कह सकते हैं; परन्तु किसी चरित्र अथवा व्यक्ति को हम 'उचित' नहीं कह सकते। अतः ऊपर दिये गये कारणों से 'शुभ' का प्रत्यय ही मौलिक है।

• "Though not based in logical order, it seems to be prior in time."—D'Arcy

चौथा अध्याय

नीति-शास्त्र के मनोवैज्ञानिक आधार

Psychological basis of ethics

नीति-शास्त्र में मनोवैज्ञानिक क्रियाओ की एक विशेष उपादेयता है। हम जानते हैं कि नीति-शास्त्र हमारी ऐच्छिक-क्रियाओ (Voluntary action) पर नैतिक निर्णय देता है। ऐच्छिक क्रियाएँ कुछ मानसिक व्यापारों के फलस्वरूप होती हैं। अतः इसे भलीभाँति समझने के लिये हमें कुछ मनोवैज्ञानिक क्रियाओं को जानना आवश्यक है। यहाँ हम कतिपय मनोवैज्ञानिक पदो की व्याख्या करेंगे।

शारीरिक माँग (Want)—शारीरिक माँग का तात्पर्य है जीवधारी (Organism) की ऐसी आवश्यकताएँ, जो उसके लिये अनिवार्य हो; परन्तु उन आवश्यकताओं की चेतना उसे नहीं हो। उदाहरण के लिये हम पेड़-पौधो को ले सकते हैं। विकास के लिये उन्हें हवा-धूप आदि की आवश्यकता होती है। परन्तु उनका उन्हें ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार निरीह बालको को दूध पीने की आवश्यकता होती है; परन्तु इसकी चेतना उन्हें नहीं होती। इसे और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिये हमे शारीरिक माँग (Want) और प्राकृतिक माँग (Appetite) के अन्तर को समझना होगा।

शारीरिक माँग (Want) और प्राकृतिक माँग (Appetite)—जहाँपर शारीरिक माँग में चेतना का अभाव होता है, वहाँ प्राकृतिक माँग में आवश्यकता की चेतना होती है। जिन प्राणियो में चेतना है, उन्हें प्राकृतिक माँग ही होती है—जैसे, पशुओं में। यह एक विवादास्पद प्रश्न है कि पेड़-पौधों मे चेतना है या नहीं; परन्तु इस प्रश्न से यहाँ हमारा कोई तात्पर्य

नहीं। हम मान लें कि पेड़-पौधों में प्राण है; पर चेतना नहीं। लेकिन पशुओं मे चेतना भी है। एक बाघ को जब भूख लगती है, तो इसकी अनुभूति भी उसे होती है और साथ ही गौण रूप से उसे इसका भी पता रहता है कि उसकी भूख किस प्रकार से मिटेगी। अतः प्राकृतिक मांग में आवश्यकताओं की चेतना होती है और साथ ही उस वस्तु का ज्ञान भी उसमें निहित रहता है। अभाव के फलस्वरूप उसमें सुख–दुःख की अनुभूति भी वर्त्तमान रहती है। शारीरिक मांग में इस प्रकार की चेतना का सर्वथा अभाव रहता है। यही अन्तर दोनो मे है।

इच्छा (**Desire**)—इच्छा इन दोनों ही से भिन्न है। इच्छा मे प्राकृतिक मांग की तरह आवश्यकता का ज्ञान, उससे उत्पन्न सुख या दुःख एवं आवश्यक वस्तु का ज्ञान तो रहना ही है; इनके अतिरिक्त यहांपर उस आवश्यक वस्तु को श्रेय या उचित भी होना चाहिये। भूख की अनुभूति और खाने की इच्छा मे अन्तर है। किसीको भूख हो, तो उसे ज्ञान भी है कि इसकी तृप्ति खाने से होगी। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उसे खाने की इच्छा है। भूख की अनुभूति को हम शारीरिक मांग कह सकते हैं। उसे इच्छा नहीं कह सकते। इच्छा तो उसे तभी कहेंगे, जब खाने को हम उचित भी समझें।

उदाहरण के लिये महात्मा गांधी को लें। अनशन के समय प्राकृतिक मांग की अनुभूति तो उन्हें भी होती थी। उन्हें भी भूख लगती थी; परन्तु खाने की इच्छा उन्हें नहीं होती थी; क्योंकि अनशन की स्थिति मे खाना अनुचित होता। इसलिये जहां प्राकृतिक मांग में आवश्यकता और आवश्यक वस्तु का ज्ञान होता है, वहां इच्छा में उस आवश्यक वस्तु को श्रेय भी होना चाहिये। इसलिये कहा जाता है कि "इच्छा एक विशेष दृष्टिकोण का द्योतक है।" * जो मनुष्य जैसा है, उसकी इच्छा भी वैसी ही होगी। साधारण स्थिति में गांधीजी को भूख लगने पर वह प्राकृतिक मांग इच्छा में परिणत

---

* "...... That desire implies a definite point of view", Manual of Ethics—Mackenzie; page—33.

हो सकती थी; परन्तु अनागत-काल में ऐसा नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि दोनों समय में स्थितियाँ अलग-अलग हैं।

मनुष्य जैसा होगा, उसकी इच्छा भी वैसी ही होगी। 'डीआर्की' का कहना है कि "इच्छा तो वस्तुतः इच्छा करनेवाला मनुष्य ही है।"[१]

इच्छा-संघर्ष की चर्चा हम ऐच्छिक क्रिया के विश्लेषण के सिलसिले में करेंगे।

इच्छा (Desire) और कामना या अभिलाषा (Wish)

जीवन मे इच्छा अकेली नहीं आती। हमारा जीवन इतना जटिल और बहुमुखी (Many-sided) होता है कि एक ही समय मे बहुत सारी विरोधी इच्छाएँ उठ खड़ी होती हैं। ऐसी परिस्थिति मे इच्छाओं मे संघर्ष उठ खड़ा होता है। मान लीजिये, एक विद्यार्थी है, जिसकी परीक्षा बहुत ही जल्द होनेवाली है। इसी समय एक बहुत अच्छा सिनेमा भी आता है। चूँकि उसे परीक्षा देनी है, इसलिये वह सिनेमा जाने की अपेक्षा पढ़ना उचित समझता है। परन्तु इसी समय सिनेमा देखने की इच्छा उठ खड़ी होती है। फलस्वरूप इन दोनो इच्छाओं मे संघर्ष होता है और बहुत ही तर्क-वितर्क (Deliberation) के बाद वह उनमें से एक इच्छा पर चलने का तय करता है। एक इच्छा दूसरे को दबा देती है। कामना हम उसी इच्छा को कहेंगे, जो अन्त मे अन्य इच्छाओं पर विजय पाकर प्रभावोत्पादक (Effective) बनती है। जो इच्छा दबा दी गयी, उसे हम कामना नहीं कह सकते।[२]

---

१ 'Desiring is in fact the man desiring". A Short Study of Ethics—D'Arcy; p—33.

२ "It may be convenient to limit the term wish to those desires that predominate or continue to be effective ...—A desire, then, which has become ineffective is not to be described as a wish."

Mackenzie, P—38.

कामना (Wish) और संकल्प (Will)—किसी इच्छा का अन्य इच्छाओं पर विजय पा लेने ही से वह कार्यरूप में परिणत नहीं हो जाता। कार्य में परिणत होने के लिये कामना के वाद संकल्प होना चाहिये। कामना या प्रभावोत्पादक इच्छा (Effective Desire) तो अमूर्त होता है। इच्छा करने के समय हम सभी परिस्थितियों का ख्याल नहीं रखते। यदि कार्य करने के पूर्व हम उसके सभी पहलुओं को देखने के बाद यह दृढ़ संकल्प कर लें कि इसे करना ही है, तभी वह कामना संकल्प कही जायगी। मान लीजिये, कि बहुत संघर्ष के वाद 'क' ने 'ख' को मारने की कामना की। परन्तु अन्त में वह सोचने लगता है कि 'ख' के मरने के बाद उसकी बच्ची का क्या होगा? यह विचार आते ही वह काँप जाता है। अतः कामना रहते हुए भी वह संकल्प नहीं कर सकता। यदि अन्त मे वह सभी बातों को देखकर निश्चय कर ही लेता है, तभी हम कहेंगे कि उसकी कामना ने संकल्प का रूप धारण कर लिया।

१—डीआर्की इच्छा और संकल्प का भेद करते हुए कहता है कि इच्छा और संकल्प में वही सम्बन्ध है जो, सम्भावना (Potential) और वास्तविकता (Actual) में है। इच्छा में तो इच्छित वस्तु आदर्श के रूप मे रहती है, तृप्ति सिर्फ काल्पनिक होती है; परन्तु संकल्प मे इच्छित वस्तु काल्पनिक आदर्श न होकर वास्तविक आदर्श बन जाती है। कर्त्ता उस आदर्श से अपना तादात्म्य समझने लगता है। वह अपनी शक्ति का प्रयोग कर उस आदर्श को यथार्थ बनाने के लिये सचेष्ट हो जाता है। *

---

* "The relation between Desire and Will is the relation between the potential and the actual. In desire the object is altogether ideal. The act of satisfaction exists only for the imagination. And yet it has no real existence except as an idea. In will, on the other hand, the object, that is, the act of satis-

चरित्र और आचरण (Character and Conduct)— जिस प्रकार बुद्धि, संकल्प और इच्छा आदि स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते, वरन् एक व्यक्तित्व की ही शक्तियाँ हैं, उसी प्रकार चरित्र व्यक्तित्व से बाहर की वस्तु नहीं है। चरित्र तो व्यक्तित्व का ही एक अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण अंग है । व्यक्ति जीवन में जो कुछ भी बौद्धिक, मानसिक या नैतिक शक्ति के रूप में अर्जन करता है, उसे हम चरित्र कहते हैं। चरित्र संकल्पों का समूह मात्र है, जो जीवन और उसकी समस्याओं के प्रति हमारा एक दृष्टिकोण निर्माण करता है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि चरित्र कोई स्थिर और अपरिवर्त्तनशील वस्तु है। प्रत्येक क्रिया के बाद इसमें कुछ-न-कुछ परिवर्त्तन होता है। कभी-कभी तो एक साधारण घटना भी चरित्र में आमूल परिवर्त्तन ला देती है। व्याध वाल्मीकि एकाएक किस प्रकार भक्त कवि बन गये, यह सर्व विदित है।

आचरण चरित्र का द्योतक है। चरित्र एक प्रकार की आन्तरिक शक्ति है और आचरण उसका बाह्य प्रतिरूप। कोई व्यक्ति चोरी करता है। यह उसका एक आचरण हुआ। इससे हम कहते हैं कि उसका चरित्र अच्छा नहीं। वह चोर है। इस प्रकार प्रत्येक आचरण उसके चरित्र का प्रतिरूप माना जाता है।

परन्तु, क्या आचरण सिर्फ चरित्र का प्रतिरूप भर है ? यदि ऐसा माना जाय, तो स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का स्थान ही न रहेगा। जिस तरह हमारा चरित्र हमारे आचरण का कारण होता है, उसी प्रकार हमारा प्रत्येक आचरण भी हमारे चरित्र में परिवर्त्तन लाता है। इन दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

---

faction, is adopted by the man as the end with which he identifies himself. He chooses it as his good. He exercises his power. The potential became atual"—A short study of Ethics–D'Arcy. ; Page—84

प्रेरणा
Motive

साधारणतया प्रेरणा का अर्थ है वह प्रेरक, जो किसी कार्य-विशेष के लिए हमे प्रेरित करता है। परन्तु नीति-शास्त्र में इसके भिन्न-भिन्न अर्थ लगाये जाते हैं। लॉक (Locke), बेन्थन (Benthem), मील (Mill) आदि विद्वानो ने भावनाओं को ही कार्य के लिए यथेष्ट प्रेरणा माना है। इसके अनुसार सुख और दुःख की भावनाएँ ही हमे किसी कार्य के लिये प्रेरित करती हैं। सुख-प्राप्ति अथवा दुःख की निवृत्ति, इन्हीं दोनों प्रेरणाओं के फलस्वरूप हम कोई भी कार्य करते हैं।

परन्तु यह मत सही नही है। वह सही है कि कभी-कभी मनुष्य भावावेश में कोई कार्य कर बैठता है, लेकिन नीति-शास्त्र ऐसे कार्यों पर अपना निर्णय नहीं देता। वह तो ऐच्छिक क्रिया की छानबीन करता है। ऐच्छिक क्रिया का अर्थ है वह क्रिया, जिसे कर्त्ता ने सोच-समझकर बहुत तर्क-वितर्क के बाद अपना श्रेय समझकर किया है। अतः पूर्णतया भावावेश में किये गये कार्यों से नीति-शास्त्र का कोई सम्बन्ध नही होता।

फिर सिर्फ भावना ही से कार्य सम्पन्न हो जाय, यह भी सही नही है। किसीको दुःख मे देखकर भावना के वश हम आँसू भले ही बहावे, कार्य किस प्रकार कर सकते हैं। इसके लिये तो हमे किसी वैसी वस्तु को सोचना होगा, जिससे इसका दुःख दूर हो सके। अतः साधारणतया सिर्फ भावना हमें कार्य के लिये प्रेरित कर ही नहीं सकती। सुखवादियो (मनोवैज्ञानिक सुखवाद) ने माना है कि हम सुख-दुःख की भावना ही से कार्य करते हैं। इस मत का खण्डन हम 'सुखवाद' के अध्ययन के सिलसिले में देखेंगे।

दूसरा मत ग्रीन (Green), मैकेन्जी (Mackenzie), मुइरहेड (Muirhead) और डीआर्को (D' Arcy) आदि का है। इनके अनुसार प्रेरणा का अर्थ है—किसी आदर्श का ध्यान अथवा इच्छित वस्तु का ध्यान। इसमे आगे दी गई बातें आवश्यक हैं:—

१—अभाव

२—अभाव का अनुभव

३—किसी वस्तु का ध्यान, जिससे प्रस्तुत अभाव की पूर्त्ति हो सके।

४—कल्पना में संतोष का अनुभव।

५—वर्त्तमान परिस्थिति मे वह इच्छित वस्तु और उससे उत्पन्न संतोष ही कर्त्ता द्वारा सर्वोत्तम समझा गया हो। इस सन्तोष मे कर्त्ता सिर्फ अपनी वर्त्तमान अभाव ही की पूर्त्ति नहीं समझता है, वरन् पूर्ण व्यक्तित्व की सार्थकता समझता है। इससे उसके पूरे व्यक्तित्व को सन्तोष का अनुभव होता हो।

वैसे तो प्रेरणा में ऊपर कही गयी सभी बातें आती हैं; परन्तु मूलतया अन्तिम को ही हमे प्रेरणा की संज्ञा देनी चाहिये। जभी यह स्थिति आती है, उसके परिणामस्वरूप हम कार्य करना आरम्भ कर देते हैं। अतः यदि प्रेरणा का अर्थ हम कार्य का स्रोत मानते हैं, तो वह भावना नहीं; वरन् उपर्युक्त मत ही होगा। मैकेन्जी के अनुसार नैतिक कार्य या आचरण उद्देश्यपूर्ण क्रिया है। उद्देश्य से किया गया कार्य, भावना के वश नहीं, वरन् आदर्श के ध्यान के वशीभूत ही किया जाता है। *

इसका अन्त करने के पूर्व एक चीज उल्लेखनीय है। कुछ लोग प्रेरणाओं के संघर्ष (Conflict of motives) में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार जब बहुत सारी प्रेरणाओं में संघर्ष होता है, तो तर्क-वितर्क के बाद कर्त्ता उनमें से प्रबलतम प्रेरणा का चुनाव करता है। परन्तु, यदि कार्य को हम प्रेरणा का नतीजा मानते हैं, तो फिर प्रेरणाओं का संघर्ष कैसा ?

डीआर्की महोदय ने बहुत ही सुन्दर शब्दो में इसकी आलोचना की

* "Moral activity or conduct is purposeful action; and action with a purpose is not simply moved by feeling; it is moved rather by the thought of some end to be attained."—Mackenzie; page-5

है। उनके अनुसार प्रेरणाओं का संघर्ष असम्भव है। जिसे हम प्रेरणाओं का संघर्ष कहते हैं, वस्तुतः वह इच्छाओं का संघर्ष है। एक ओर प्रेरणाओं के संघर्ष की चर्चा और दूसरी ओर प्रेरणा को कार्य-निर्धारक मानना, दोनों बातें विरोधी मालूम होती हैं। अतः संघर्ष प्रेरणाओं का नहीं, इच्छाओं का होता है। १

प्रयोजन और प्रेरणा (Intention and motive)—प्रयोजन का सही अर्थ हम प्रयोजन और प्रेरणा के सम्बन्ध को देखने पर ही समझ सकते हैं। मेकेनजी महोदय के अनुसार प्रयोजन और उद्देश्य (purpose) बहुत हद तक समानार्थक हैं। फिर भी, दोनों में अन्तर है। उद्देश्यकर्त्ता मानसिक क्रियाओं की ओर इंगित करता है, तो प्रयोजन उस लक्ष्य की ओर, जो कर्त्ता की मानसिक क्रियाओं का ध्येय है। इस अर्थ में प्रयोजन वह सभी कुछ है, जिसे प्राप्त करना हमारा उद्देश्य है; फिर उन्होंने प्रयोजन को बहुत भागों में विभाजित किया है। यहाँ हम उन सबोंकी चर्चा नहीं करेंगे। प्रयोजन का अर्थ प्रेरणा से बहुत ही विस्तृत है। प्रयोजन में क्रिया के सभी पूर्वजनित परिणाम (Foreseen consequences) निहित हैं। परन्तु प्रेरणा में सिर्फ उन्हीं परिणामों को माना जाता है, जिनकी प्राप्ति कर्त्ता का उद्देश्य रहा है। इसका अर्थ यह नहीं कि प्रेरणा से कर्त्ता अन्य बातों से आँखे मूँद लेता है, वरन् वे बातें कार्य के करने में कोई हाथ नहीं

---

1. "A conflict of motive is impossible A 'stronger motive' is an absurdity. What is called a conflict of motives is properly a conflict of desires... But to speak of a conflict of motives, and at the same time to speak of the motive as the determinant of action is to use ambiguous language". D'Arcy; page-33

3 See A Manual of Ethics—Mackenzie; page 47-48

बँटाती। फिर प्रयोजन में हम साधन (means) का ध्यान रखते हैं; परन्तु प्रेरणा में इसकी परवाह नही करते।

विश्लेषण करने पर प्रयोजन मे हम नीचे लिखी बातें पाते हैं:—

१—वह मूल लक्ष्य अथवा प्रेरणा, जिसकी प्राप्ति के लिये हम कार्य करने को उद्यत होते हैं।

२—साधन का चुनाव, जिसके माध्यम से हमें लक्ष्य की प्राप्ति हो सकेगी। हो सकता है कि वह साधन अपने में अच्छा न हो; पर लक्ष्य-प्राप्ति के लिये उसे हम मान लेते हैं।

३—इन पूर्वजनित परिणामों (foreseen consequences) का ध्यान, जो अपने मे अच्छा न हो; फिर भी, कर्त्ता मूल लक्ष्य को ध्यान मे रखकर उन्हें करने को तैयार हो।

उदाहरण के लिये हम महाभारत की उस कहानी को ले सकते हैं, जिसमें एक निर्धन ब्राह्मण ने अपनी और अपने परिवार की जान देकर भी एक भिक्षुक की क्षुधा शान्त की। अकाल के समय दिन-भर माँगने पर एक ब्राह्मण ने कुछ सत्तू जमा किया। पूरा परिवार कई दिनों का भूखा था। जभी रात में वे खाने बैठे कि दरवाजे से कराहने की आवाज आयी। पता लगा कि एक व्यक्ति भूख से तड़प रहा था। पूरा परिवार सोच मे पड गया। निर्णय हुआ कि उसे खिलाया जाय। परन्तु वह इतना भूखा था कि सबों का हिस्सा खा गया। इस प्रकार दिन-भर का संचित अन्न उसे खिलाकर उस पूरे परिवार ने अपनी जान दे दी।

इस उदाहरण के विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि वह ब्राह्मण पहले तो उस भूखे की कराह से विचलित हुआ। अतः वह उसका दुःख दूर करना चाहता था। इस दुःख का निवारण उसको खाना मिलने से हो सकता था। खाना देने मे उसे अपने भूखे रहने का खतरा था। फिर भी, उसने खाना देने का निश्चय किया। अतः इस इच्छा ने प्रेरणा का काम किया।

परन्तु, इसमें अन्य बातें भी सम्मिलित थीं। खाना देने का साधन, चूँकि उसके पास और कोई अन्न नहीं था; अतः अपना ही खाना देना

तय किया। फिर इसके अतिरिक्त उसने इस कार्य के परिणाम पर भी विचार किया। अकाल का समय था। वे कई दिनो के भूखे थे। उनके पास दूसरा कुछ भी खाने को नहीं था। अतः खाना देने का परिणाम होता, अपने भूखों रहना और फिर उससे जान भी जा सकती थी। परन्तु, इस परिणाम को सोचकर भी उन्होंने खाना देने का निश्चय किया। ये सभी बातें मिलकर प्रयोजन हुईं।

अतः स्पष्ट है कि प्रयोजन प्रेरणा से विस्तृत अर्थ का द्योतक है।

—o—

पाँचवाँ अध्याय

नैतिक निर्णय का स्वरूप और विषय
Nature and object of moral judgment

अब तक नैतिक निर्णय के बारे मे हम बहुत-कुछ जान चुके हैं। नैतिक निर्णय का अर्थ है, किसी ऐच्छिक क्रिया (Voluntary action) को एक नैतिक मापदण्ड पर कसकर उसके सम्बन्ध मे यह निर्णय देना कि वह काम 'उचित' है या 'अनुचित' (Right or wrong); 'शुभ' है या 'अशुभ' (Good or bad)। देखने से ही पता चल जाता है कि नैतिक निर्णय देने की क्रिया मे तीन बातें आवश्यक हैं। सर्वप्रथम उसमे एक 'निर्णायक' होना चाहिये, जो अपना निर्णय देता है। फिर एक 'विषय' होना चाहिये, जिसपर वह अपना निर्णय प्रदान करता है। तीसरी आवश्यक चीज है एक 'माप दण्ड' (Standard), जिसपर हम उस विषय को कसकर देखते हैं कि यह खरा है या खोटा। सभी बातो को हम देख चुके हैं।

नैतिक निर्णय का स्वरूप
Nature of moral judgment

१—नैतिक निर्णय के स्वरूप के बारे मे सबसे महत्त्वपूर्ण बात है कि वह आलोचनात्मक (Critical) होता है। तर्क-शास्त्र (Logic) और सौन्दर्य-शास्त्र (Aesthetic) आदि की ही तरह इसका निर्णय वर्णनात्मक (Descriptive) नहीं होता, वरन् आलोचनात्मक होता है। एक आदर्श के आधार पर किसी ऐच्छिक क्रिया को हम अच्छा या बुरा कहते हैं। इसी कारण नीति-शास्त्र को आदर्शनिष्ठ (Normative) विज्ञान कहा जाता है।

२–इसकी दूसरी विशेषता है कि यह निगमनात्मक (Inferential) होता है। मान लीजिये सत्य, कोई बोलता है। उसके इस आचरण पर हमें नैतिक निर्णय देना है। इसके लिये पहले एक आदर्श आवश्यक है। आदर्श है—"सदा सत्य बोलना"। इस आचरण की हम इस आदर्श से तुलना कर देते हैं कि यह शुभ है। यदि इसे अनुमान के रूप में रखा जाय, तो इसका रूप होगा:— सदा सत्य बोलना शुभ है।

यह सत्य बोलता है।

: इसका यह आचरण शुभ है।

इसका अर्थ यह नहीं कि नैतिक निर्णय देते समय हम उसे इस तार्किक पद्धति में रखते हैं। यह क्रिया तो गौण रहती है। फिर भी, हम रखना चाहें, तो इस तरह रख सकते हैं। यही कारण है कि इसे निगमनात्मक (Inferential) कहा जाता है।

३–इसके स्वरूप की तीसरी विशेषता है कि इसमें नैतिक दायित्व (Moral obligation) का समावेश होता है। जब हम किसीके झूठ बोलने पर यह निर्णय देते हैं कि यह काम बुरा है, उसे सच बोलना चाहिये, तो साथ ही हमारे ऊपर भी यह पाबन्दी हो जाती है कि हमारा अपना आचरण नैतिक हो। हमें सच बोलना चाहिये। इस प्रकार नैतिकता को पूर्णतया निभाने का दायित्व निर्णायक के कन्धों पर पड़ जाता है। यही नैतिक निर्णय का स्वरूप है। हम अब इसके विषय के सम्बन्ध में देखें।

नैतिक निर्णय का विषय

दूसरे अध्याय में हम देख चुके हैं कि नैतिक और नीति–शून्य कार्य किसे कहते हैं। जिस काम को करने में हमें पूर्ण स्वतंत्रता हो, जिसे हम स्वेच्छा से करते हैं, उन्हीं कार्यों के लिये हम जिम्मेवार ठहराये जा सकते हैं। ऐसी ही क्रियाओं को नैतिक क्रिया कहा गया है। अतः ऐच्छिक क्रियाओं (Voluntary action) पर ही नैतिक निर्णय दिये जाते हैं। लेकिन, जैसाकि हम इसके विश्लेषण में देख चुके हैं, यह एक जटिल क्रिया है। किसी भी ऐच्छिक

क्रिया के तीन अंग या हिस्से होते हैं। एक ओर जहाँ इसका प्रारम्भ कर्त्ता के अन्दर से या मस्तिष्क से होता है, वहीं अन्य दशाओं से गुजरते हुए इसकी परिणति बाह्य रूप मे होती है। हम देख चुके हैं कि ये सभी हिस्से अपने मे महत्त्वपूर्ण ही हैं। अतः सिर्फ यह कह देने से ही कि नैतिक निर्णय का विषय ऐच्छिक क्रिया है, हम कुछ भी नही जानते। हमे तो साफ-साफ बताना होगा कि इसके किस हिस्से पर हमें वास्तव मे नैतिक निर्णय देना है। यह प्रश्न भी बहुत ही विवादास्पद रहा है।

सर्वप्रथम हम उपयोगितावादी विचारकों को देखे। इसके समर्थकों मे Mill, Benthen आदि प्रधान हैं। इनका कहना है कि नैतिक निर्णय का विषय ऐच्छिक क्रिया का अन्तिम परिणाम ही है। अगर परिणाम अच्छा है, तो नैतिक दृष्टिकोण से वह काम अच्छा समझा जायगा और अगर बुरा है, तो बुरा।

लेकिन हम अभी देखेंगे कि यह मत बिल्कुल सही नहीं। परिणाम ही देखकर निर्णय देना एक भद्दी भूल है। इसे हम ठोस उदाहरण द्वारा देखें। एक डाक्टर बहुत ही तत्परता और होशियारी से किसी रोगी की दवा करता है और अन्त मे रोगी मर जाता है। एक देश-सेवक स्वतन्त्रता-संग्राम में बहुत-से साथियों को कुर्बान करके भी असफल हो जाता है। दोनो ही हालतो मे परिणाम अवश्य ही बुरे हैं; लेकिन किस सिद्धान्त या नैतिकता के आधार पर हम उनके आचरण को बुरा कहेंगे। कोई भी कार्य बहुत जटिल हुआ करता है। उसके प्रतिपादन मे अनेकों छोटी-छोटी क्रियाएँ काम करती रहती हैं, इसलिये परिणाम देखकर ही छलाग मारकर उसे नैतिक और अनैतिक कह देना उचित नहीं।

इसी प्रकार परिणाम अच्छे हो सकते हैं; फिर भी, उस काम को अच्छा नहीं कहा जा सकता। एक विद्यार्थी परीक्षा में चोरी करके पास कर जाता है। परिणाम तो बहुत सुन्दर है। लेकिन क्या हम उस लड़के के इस काम को नैतिक कह सकते हैं? डाक्टर जान्सन ने एक बहुत ही सुन्दर उदाहरण

•ड़िया है—"यदि हम सिर तोड़ने की नीयत से कुछ• पैसे एक भिखारी की ओर फेकते हैं और भिखारी उसे उठाकर उससे भोजन खरीदता है, इसका बाह्य प्रभाव तो बहुत ही सुन्दर हुआ; परन्तु मेरे लिये यह कर्त्तव्य बहुत ही बुरा है।"१

यहाँ जोड महोदय का कथन भी उल्लेखनीय है। यदि निर्णय वास्तविक परिणाम पर किये जाएँ,तो इससे दो विषम परिस्थितियाँ उठ खड़ी होती हैं। २

प्रथम, यदि यह विचार सही है, तो हमे कभी-कभी अनुचित कार्यों को करना पड़ेगा। मान लीजिये, कोई मनुष्य डूब रहा है। हम यहाँ अपने यश के लिये और डूबते हुए मनुष्य के फायदे के लिये, उसे निकाल देते हैं। परन्तु बाद में वह मनुष्य आततायी हो जाता है। अपनी स्त्री और बच्चों को मार डालता है। यदि हम उसे डूबने देते, तब तो यह सब बुरे नतीजे नही होते; अतः यदि परिणाम ही सब कुछ है, तो हमे उसे डूबने ही देना चाहिये था।

दूसरी बात है कि क्रियाएँ इतनी जटिल हुआ करती हैं कि उनके सभी परिणामों को जानना असम्भव है। अतः निश्चयपूर्वक हम परिणाम के आधार पर यह नही कह सकते कि कोई कार्य उचित है अथवा अनुचित। इन सभी कारणों से परिणाम पर नैतिक निर्णय नही दिया जा सकता।

दूसरा मत बटलर, काण्ट आदि अन्तः अनुभूतिवादियो और बुद्धिवादियों का है। इनके अनुसार किसी क्रिया का सही नैतिक मूल्य आँकने के लिये उसके पूर्व की मानसिक स्थिति को भी ध्यान मे रखना होगा-जहाँ से कि उसका जन्म हुआ है। अगर उसे करने की प्रेरणा अच्छी है, तो वह आच-

१ "If I fling half-a-crown to a beggar with intention to break his head and he picks it up and buys victuals with it, the physical effect is good, but, with respect to me, the action is very wrong."

२ Guide to the Philosophy of Morals & Politics; page—315.

रण भी अच्छा ही होगा। इस मत के भी दो रूप हो गये हैं। एक के अनुसार इसका विषय प्रेरणा (Motive) है और दूसरे के अनुसार संकल्प (Intention) या प्रयोजन। इन दोनो के भेद से हम भलीभाँति परिचित हैं। सर्वप्रथम हम पहले मत को लें।

इसके अनुसार नैतिक निर्णय का विषय सिर्फ प्रेरणा (Motive alone) ही है। जान्सन आदि का यही विचार है। इसके अनुसार हमारी प्रेरणा ही सब कुछ है। न तो उन्हें परिणाम की चिन्ता है और न साधन की परवाह। अगर उद्देश्य सही है, तो फिर सब कुछ ठीक ही है।

लेकिन यह मत भी भ्रामक है। उद्देश्य एक रहने पर भी उसकी पूर्त्ति के साधन अनेक हो सकते हैं और उस आचरण को आँकने में हमे साधन को देखना होगा। उद्देश्य के चलते हम साधन की हत्या नहीं कर सकते। इसका विचार हम अलग करेंगे। पैसा पैदा करना निन्दनीय उद्देश्य नही है। सुन्दर जीवन-यापन के लिये पैसे की आवश्यकता सबोंको होती है। सभी पैसा कमाना चाहते हैं। पूँजीपति, व्यापारी, मजदूर, डाकू आदि सबोंका उद्देश्य एक होता है—पैसा कमाना। लेकिन सबोंके मार्ग या साधन अलग-अलग हैं। अगर हम उद्देश्य को ही सब कुछ समझें, तब तो एक डाकू का आचरण और एक मजदूर का आचरण दोनों एक ही श्रेणी का हो जायगा। साधन की ओर से हम आँखें मोड़ ही नहीं सकते।

इस प्रकार हम पाते हैं कि प्रेरणा (motive) पर ही हम अपना नैतिक निर्णय नहीं दे सकते।

दूसरे मत के अनुसार उद्देश्य (motive) के साथ-ही-साथ साधन आदि बातों को भी हमे देखना है। अर्थात्, इसका विषय प्रयोजन (intention) है। हमने अभी देखा है कि एक बुरा साधन अच्छे-से-अच्छे उद्देश्य को भी दूषित कर सकता है। इससे स्पष्ट है कि मूल्यांकन के समय हमें कर्त्ता के पूरे प्रयोजन को ध्यान में रखना चाहिये। विदित है कि प्रयोजन में प्रेरणा (motive), साधन (means) और अनुमान किये गये

परिणाम (foreseen consequences) सभी निहित हैं। अगर हम इन सबोंको देखते हुये विचार करेंगे, तभी हम किसी कार्य का ठीक-ठीक मूल्य आंक सकेंगे कि वह कहाँ तक नैतिक है। अतः नैतिक निर्णय का वास्तविक विषय (object) व्यक्ति का पूर्ण प्रयोजन ही है।

इतना ही नहीं। प्रयोयन तो व्यक्ति के चरित्र का द्योतक है। हम जानते हैं कि किसी भी प्रयोजन मे व्यक्ति संघर्ष, चुनाव (choice) और स्वतन्त्र इच्छा का कितना बड़ा हाथ होता है। प्रेरणा तो सबोंमे एक ही प्रकार की होती है; लेकिन उसके फलस्वरूप इच्छाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं, और इच्छाओं मे भिन्नता का कारण है, उनकी चारित्रिक विशेषताएँ। अनशन करने पर क्या गाधीजी को भूख नहीं लगती थी ? लेकिन जहाँ साधारण आदमी भूख लगने पर खाने की इच्छा करता है, वही वे उस उपवास की हालत में अपने चरित्रबल के कारण खाने की इच्छा का तिरस्कार करते थे। जहाँ एक भोगी यौनिक क्रियायों (sexual actions) मे रत रहने पर भी सन्तोष नहीं रखता, वहीं एक संयासी अपनी उन उद्दाम वासनाओं को पैरों-तले रौंदता हुआ बढ़ता है। आखिर यह सब चरित्र की विभिन्नता ही के कारण होते हैं। अतः हमारे प्रयोयन हमारे चरित्र को व्यक्त करते हैं।

इसलिये दर्शन मे नैतिक निर्णय के विषय हमारे चरित्र या हम स्वयं ही हैं। मैकेनजी १ के अनुसार—"वास्तव में नैतिक निर्णय किसी क्रिया नहीं, वरन् कर्त्ता पर ही दिग है।" १

क्या आदर्श साधन को पवित्र बनाता है ?

Does the End Justify the means ?

नीति-शास्त्र एवं व्यावहारिक जीवन में यह प्रश्न बहुत ही विवादास्पद

---

१ 'It is never simply on a thing done, but always on a person doing, that we pass moral judgment.'

—Mackenzie; page-111

रहा है। कुछ विचारकों का मत है कि सुन्दर आदर्श के लिये बुरे-से-बुरे साधन को भी अपनाना बुरा नहीं। उनके अनुसार यदि आदर्श सही है, तो फिर अच्छे या बुरे साधन की क्या चिन्ता? कौटिल्य, नीत्से (Nietsezche) आदि इसीमे विश्वास करते थे।

दूसरे विचारकों का कहना है कि साधन आदर्श से कम महत्त्वपूर्ण नही है। बुरा साधन सर्वोत्तम आदर्श को भी निन्दनीय बना देता है। गाँधी, टालस्टाय आदि इसी सिद्धान्त मे विश्वास करते थे। गाँधी ने इसके अपवाद भी माने हैं।

यहाँ हमें आदर्श और साधन के सम्बन्ध का सही मूल्यांकन करना है। "आदर्श साधन को पवित्र बनाता है", यदि इस कथन को उचित रूप मे समझा जाय, तो यह निसन्देह सही है। परन्तु गलत ढंग से अर्थ लगाने पर ही यह निन्दनीय बन जाता है। यदि सीधे इसका यह अर्थ लगाया जाय कि किसी भी आदर्श के लिये किसी भी साधन को अपनाया जा सकता है, तब तो विश्व मे किसी भी अपराध को अपराध नहीं माना जायगा। अपने परिवार के पोषण के लिये रुपये पैदा करना वैधानिक भी है और नैतिक भी। लेकिन यदि इस उक्ति का प्रयोग अभी ऊपर दिये गये मतानुसार किया जाये, तब तो सिर्फ मजदूरी करना ही उचित नहीं होगा, वरन डकैती आदि करना उतना ही जायज समझा जायगा। पड़ोसी की सहायता करना हर किसीके लिये श्रेय है; परन्तु क्या इसी सिद्धान्त पर अपने पड़ोसी को जेल से छुड़ाने के लिये जेल तोड़ना उचित कहा जायगा? अतः इस अर्थ में आदर्श साधन को पवित्र नहीं बना सकता।

परन्तु इसकी व्याख्या दूसरी तरह भी की जा सकती है और इस दूसरे प्रकार के अर्थ मे इस कथन "आदर्श साधन को पवित्र बनाता है" को हम मान सकते हैं। यह कथन निन्दनीय तब बन जाता है, यदि हम आदर्श का अर्थ कोई भी आदर्श, जो कि हमें पसन्द हो, मान लेते हैं। परन्तु परन्तु यदि आदर्श का अर्थ चरम आदर्श (highest good) माना

जाय, तो अवश्य ही इस प्रकार का आदर्श साधन को पवित्र बनाता है। मनुष्यत्व की पूर्णता अथवा 'मानवीय हित' ही चरम आदर्श है। इसकी प्राप्ति के लिये जो भी साधन बनाये जायँ, वे अवश्य ही पवित्र माने जायँगे। उदाहरण द्वारा हम इसे समझने का प्रयास करें। एक डाक्टर किसी रोगी की जान बचाने के लिये उसका चीड़-फाड़ करता है; परन्तु उसे कोई अपराधी नहीं मानता। महात्मा गाँधी के बारे में कहा जाता है कि एक बछड़े को, जो दुःख से कराह रहा था और जिसके बचने की कोई आशा न न थी, जहर देकर उन्होंने मुक्ति दिलायी। वर्तमान परिस्थिति में यह प्रशंसनीय माना जायगा। इसी प्रकार, मान लीजिये, एक मनुष्य विदेश से एक भयानक कोटि का संक्रामक रोग ले आया है। उस बीमारी की कोई दवा न हो, जिससे वह अच्छा हो सके। एक डाक्टर अपने देशवासियों को इस भयानक बीमारी से बचाने के लिये उस रोगी को जहर देकर मार डालता है। सही है कि डाक्टर कानून की दृष्टि में दोषी है; परन्तु नैतिकता के दृष्टिकोण से यह कार्य प्रशंसा के लायक है। वह कानून ही निन्दनीय माना जायगा। आश्चर्य है कि इसी भद्दे कानून की ओट में यदि एक अफसर कुछ बगावतियों को गोली का शिकार बना देता है, तो वह पुरस्कृत होता है। कहा जाता है कि 'इसीमें जनहित है।' यदि यहाँ जनहित है' तो क्या उस डाक्टर ने कम जन-हित किया था ? यदि दूसरों की जान लेना अपने ही में बुरा होता, तो फिर किसी भी राज्य का विधान उसे अच्छा नहीं कर सकता। राज्य का विधान होनी को अनहोनी नहीं कर सकता।

अतः इस अर्थ में हम मानने को तैयार हैं कि "आदर्श साधन को पवित्र बनाता है।'

अब यह पूछा जा सकता है कि क्या इसका यह अर्थ है कि खून या झूठ, धोखेबाजी आदि उचित माने जायँगे, यदि इनसे मानवता का हित हो ? नहीं। हम यह कभी भी नहीं कहते। ऐसा हम दो कारणों से नहीं मान सकते—

सर्वप्रथम, खून, झूठ, धोखेबाजी—ये सारे ऐसे शब्द हैं, जिन्हें सुनते ही

लोग घृणा करने लगते हैं। इसके बाद वे वास्तविकता की ओर नजर दौड़ाते हैं। परन्तु, यह गलत है। नैतिक निर्णय देते समय हमें घटनाओं की अच्छाई या बुराई नहीं देखना है, वरन् वास्तविक घटना को देखकर उसपर नैतिक निर्णय देना है।

ऐसा नहीं मानने का दूसरा कारण है कि ऐसा मानने के पहले हमें यह देखना होगा कि उस परिस्थिति मे इन सभी साधनो के अतिरिक्त और कोई उत्तम साधन उपलब्ध था या नहीं; यदि हाँ, तो ऊपर कहे गये साधन निन्दनीय हैं; यदि नहीं, तो प्रशंसनीय। उदाहरण के लिये हम हिटलर को लें। १९४०-४१ में पूरा योरप उसके अत्याचारो से पीड़ित था। उसके पहले ही उसने यहूदियो पर कत्लेआम शुरू कर दिया था। उस जमाने म कोई सोच सकता था कि क्यो न हिटलर का खून कर इन सभी अत्याचारो को बंद कर दिया जाय। पर क्या यह उचित होता? उस युग मे लोग शायद उचित समझते। परन्तु आज हम सोचते हैं कि अच्छा हुआ कि ऐसा न हुआ। इसके लिये राष्ट्रो ने इज्जत के साथ अपनी रक्षा और हक के लिये लड़कर अपने यश मे चार चाँद लगा लिये। यहूदियो को इजरायल मे अपनी मातृभूमि पाकर जो इज्जत मिली है, क्या वह हिटलर को मारकर शान्ति पाने से मिल सकती थी? अतः जहाँपर उत्तम साधन उपलब्ध हो, वहाँ बुरा साधन अपनाना मानवता के हित के लिये भी निन्दनीय है।

सारांश है कि इस कथन को सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता; अपवाद-रूप मे इसको अवश्य अपनाया जा सकता है। एक पिता अपने पुत्र को सही रास्ते पर लाने के लिये दण्ड देता है। इसे कभी निन्दनीय नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार एक चोर को दण्ड देना नाजायज नहीं; क्योंकि ऐसा उसे सही रास्ते पर लाने, दूसरो को इससे सबक सिखलाने एवं समाज के हित के लिये किया जाता है।

अतः विशेष परिस्थितियो मे 'आदर्श साधन को पवित्र बनाता है।'

—:०:—

छठवाँ अध्याय

नीतिशास्त्र की मान्यताएँ

Postulates of Morality

नीति-शास्त्र की दार्शनिक समस्याएँ

पुस्तक के आरम्भ में ही हमने देखा है कि नीति-शास्त्र और अन्य विज्ञानों में अन्तर है। जहाँ नीति-शास्त्र आदर्शनिष्ठ (Normative) है, वहाँ प्राणि-शास्त्र, मनोविज्ञान, भौतिकविज्ञान आदि वर्णनात्मक (Descriptive) हैं। परन्तु यह विभाजन भी पूर्णतया सन्तोषप्रद कदापि नहीं हो सकता। यद्यपि हर प्राकृतिक विज्ञान का दर्शन पर सदा से आरोप रहा है कि इसकी समस्याएं तात्विक (Metaphysical) हैं; फिर भी, वे स्वयं भी इससे वंचित नहीं हैं। किसी भी विज्ञान को इन्द्रियों की सीमा पार करके तात्विक (Metaphysical) विचारों का सहारा लेना पड़ेगा ही। उदाहरण के लिये आप कार्य-कारण नियम को ले सकते हैं। सभी विज्ञान मानते हैं कि बिना कारण के कोई कार्य नहीं हो सकता; लेकिन इस व्यापक नियम का आधार तो कुछ ही अनुभव हैं; अतः 'कुछ' से 'सब' पर जाने के लिए आपको तात्विक प्रणाली अपनानी ही होगी। यही कारण है कि आज के युग के सबसे प्रधान विज्ञान—प्राणिशास्त्र और भौतिकविज्ञान दिनों-दिन दार्शनिक होते जा रहे हैं।

दूसरी ओर मापदण्ड (Norm) का वर्णनात्मक होना भी आवश्यक है। यह मानवीय अधिकार, कर्त्तव्य, शुभ, अशुभ आदि की समुचित व्याख्या करता है; लेकिन मापदण्ड सिर्फ वस्तुस्थिति का मात्र वर्णन न होकर आदर्श भी हुआ करता है। यह हमें बतलाता है कि हमारा क्या कर्त्तव्य होना

चाहिये। यह हमे सिखलाता है कि इसे हमे अपने आचरण में उतारना चाहिये—

"मापदण्ड एक आदर्श है और आदर्श होने के नाते इसे आचरण मे उतारना ही हमारा ध्येय होता है।" १ अब यहाँ पर प्रश्न उठता है कि आखिर मनुष्यो में यह शक्ति है या नहीं कि वे इस आदर्श को अपने आचरण मे उतार सकें ? क्या आदर्शानुकूल वे अपने मे परिवर्तन ला सकते हैं ? क्या मनुष्य को इतनी स्वतन्त्रता है कि वह आदर्श-प्राप्ति के लिये प्रयास करे ?

इन्ही प्रश्नो के उत्तर में नीति-शास्त्र कुछ मान्यताओ पर विश्वास करता है। यदि ये मान्यताएँ सही नही, तो पूरा नीति-शास्त्र ढकोसला हो जायगा। यही समस्याएँ इसकी दार्शनिक समस्याएँ हैं; क्योंकि इसका समाधान नीति-शास्त्र स्वयं नहीं कर सकता।

नैतिकता की मान्यताएँ

वैसे तो इस शास्त्र के प्रारम्भ से ही स्पष्ट या गौण रूप मे विचारकगण मान्यताओं में विश्वास करते आ रहे हैं; पर सैद्धान्तिक रूप में इसको जन्म देने का श्रेय प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक काण्ट को है। अपनी पुस्तक (Critique of Practical Reason) में वह मानता है कि मान्यताएँ व्यावहारिक बुद्धि के लिये आवश्यक हैं। उसके मत मे नैतिकता की तीन मान्यताएँ हैं—आत्म-स्वातन्त्र्य, वरण में विश्वास, अमरता में और ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास। वह मानता है कि ये मान्यताएँ नैतिकता के लिये उतनी ही जरूरी हैं, जितनी प्राकृतिक विज्ञान के लिये उनके सैद्धान्तिक सिद्धान्त।

जब हम कुछ भी करते हैं, तो हमें ऐसा अनुभव होता है कि हम इसे करने या न करने के लिये पूरे स्वतन्त्र हैं। इसी प्रकार जब तक मनुष्य सभी प्रकार से सम्पन्न रह सुख में रहता है, तो उसे कभी विश्वास नही होता

---

१. "A norm is an ideal and, as an ideal, is meant to be realised or carried out in conduct"
Fundamental of Ethics—W.M. Urban, Page-354.

कि उसके इस जीवन का कभी अन्त भी होगा। उसे ऐसा लगता है, जैसे वह अमर हो। अन्त में जीवन-संघर्ष में मनुष्य पाता है कि उसकी सभी इच्छाओं की पूर्त्ति नहीं हो सकती। उसके सामने बाधाएँ होती हैं। वह सोचता कुछ है और होता कुछ अन्य ही है। इस प्रकार वह विश्वास कर लेता है कि मनुष्यों से बढकर एक ईश्वर है, जो विश्व का कर्त्ताधर्त्ता है।

काण्ट के मत मे व्यावहारिक जीवन-यापन के लिये ये ही तीन मान्यताएँ हैं।

नीति-शास्त्र और विज्ञान की मान्यताओं में अन्तर

सर्वविदित है कि विश्व के हर विज्ञान की जड मे कुछ मान्यताएँ होती हैं। वे विज्ञान उसे मानकर ही आगे चलते हैं। जिस विज्ञान का जैसा विषय होगा, उसके अनुकूल उसकी मान्यता भी वैसी ही होगी। रेखागणित पहले कुछ स्वयंसिद्ध प्रमाणों (Axiom) में विश्वास करता था और आज भी बहुत मान्यताओं में आस्था रखता है। प्राकृतिक और वर्णनात्मक विज्ञान आदि कुछ साधारण मान्यताओं (जैसे—प्रकृति-समरूपता, कार्य-कारण नियम आदि) मे विश्वास करते हैं। ऐसा माना जाता है कि ये सब विश्वास अनुभव से सिद्ध नहीं किये जा सकते, फिर भी अनुभव ही उनको मान लेता है। बहुत पहले इसी कारण से उन्हें स्वयंसिद्ध माना जाता था; पर आज वे केवल मान्यतामात्र हैं। नीति-शास्त्र भी इससे अछूता नही रहा है। हम अभी देखेंगे कि किस प्रकार इसका विज्ञान से भेद है; लेकिन इसके पहले हम यह देख लें कि स्वयंसिद्ध (Axiom) और मान्यता (Postulate) मे क्या अन्तर है।

"मान्यता हमारी बुद्धि की माँग एवं उपज है; परन्तु इसके विपरीत स्वयंसिद्ध सिद्धान्त हमारे अन्तर्ज्ञान की उपज है, जिसे हमारा अन्तर्ज्ञान तुरत ही पहचान लेता है"। १

१ "A postulate, as the word indicates, is a demand made by our reason, in contrast is an axiom,

बुद्धि अपने अभाव की पूर्त्ति के लिये किसी विज्ञान की तार्किक व्याख्या के लिए मान्यताओं का सहारा लेती है; लेकिन स्वयंसिद्ध प्रमाण तर्क के द्वारा सिद्ध नही किये जा सकते। वे बुद्धिजन्य नही, वरन् अन्तर्निरीक्षण द्वारा जाने जाते हैं।

अब हम नैतिक और वैज्ञानिक मान्यताओं का अन्तर देखेगे—

काण्ट इन दोनो के अन्तर से पूर्णरूपेण अवगत था। विज्ञान के क्षेत्र मे मान्यताएँ सिर्फ इसीलिये होती हैं कि उनसे उस विषय की व्याख्या होती है। जीवन और व्यवहार के दृष्टिकोण से उनका महत्त्व नहीं होता। लेकिन नैतिक मान्यताओं का सम्बन्ध जीवन और व्यवहार से होता है। बिना इन्हें माने हुए हम नैतिक सद्विचारो को नैतिक मान ही नहीं सकते और नैतिक सिद्धात जीवन मे आने की क्षमता ही न रखता हो, तो वह सिर्फ विचारो की उलझन और शब्दो का जाल मात्र होगा। अतः नैतिक मान्यताएँ जीवन और व्यवहार के लिये अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, न कि सिद्धान्त की व्याख्या के लिये।

नीति-शास्त्र की अन्य मान्यताएँ

नीति-शास्त्र की अन्य मान्यताओं में हम सिर्फ तीन की चर्चा करेंगे—व्यक्तित्व (Personality), बुद्धि (Reason) और आत्म-स्वातन्त्र्य (Freedom of will)

व्यक्तित्व

मनोविज्ञान और नीति-शास्त्र मे व्यक्तित्व का प्रयोग दूसरे ही अर्थ मे किया जाता है। साधारणतया व्यक्तित्व से किसीकी आकृति की सुन्दरता आदि को समझा जाता है; लेकिन यहाँ इसका प्रयोग विशेष ही अर्थ मे होता है।

इसके लिये सबसे प्रमुख चीज है कि मनुष्य में बुद्धि का समुचित विकास हुआ हो और आचरण मे बुद्धि का यथेष्ट स्थान हो। जब कोई किसी काम को

---

which is conceived of as immediately self-evident to intention."

Fundamental of Ethics—W.M. Urban; Page-356.

करे, तो उस समय उसे आत्म-चेतना (Self-Bonsciousness) हो और साथ ही वह यह भी समझे कि इस काम के करने मे उसका अपना हाथ है, किसी बाहरी शक्ति का प्रयोग नहीं। इसलिये किसी मूर्ख (Idiot) के कामों की आलोचना हम नहीं कर सकते। उसके द्वारा किये गये गलत कामों को हम अनैतिक नहीं कह सकते; क्योंकि सही अर्थ में उसे व्यक्तित्व है ही नहीं।

व्यक्तित्व के सम्बन्ध में दूसरी बात है कि यहाँ हमे एक स्थायी (Permanent) आत्मा मे विश्वास करना होगा। पुराने मनोवैज्ञानिको के मत में व्यक्तित्व क्षणिक अनुभवों का सिर्फ योग मात्र है; लेकिन ऐसा सोचना गलत होगा। इन परिवर्त्तनशील अनुभवो के अन्दर हमें एक स्थायी आत्मा को मानना ही होगा, अन्यथा उसके द्वारा किये गये कामो के लिये हम उसे जवाबदेह नहीं ठहरा सकते।

अतः व्यक्तित्व भी नैतिकता की एक ठोस मान्यता है।

बुद्धि
Reason

पुस्तक के आरम्भ मे ही हमने देखा है कि नीतिशास्त्र का सम्बन्ध सिर्फ मानवीय आचरणो से ही है। वह इसलिये कि बुद्धि सिर्फ मनुष्यो मे ही पायी जाती है। यहाँ हम यह कहते हैं कि अमुक का आदर्श ऐसा है, उसे ऐसा करना चाहिये। इसका अर्थ है कि उसे काम करने की चेतना है और स्वतन्त्रता है। पर जहाँ बुद्धि का अभाव होगा, वहाँ इन गुणो का भी अभाव होगा ही। यही कारण है कि हम निर्जीव पदार्थों, पागलो एवं छोटे-छोटे बच्चों के कामों की टीका-टिप्पणी नही कर सकते। अतः बुद्धि नैतिकता की दूसरी मान्यता है।

आत्म-स्वातन्त्र्य

स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति नैतिकता का प्राण है। नीति-शास्त्र की मान्यताओं में यह सबसे प्रमुख है। यदि यह नहीं, तो पूरा-का-पूरा नीति-शास्त्र निरर्थक हो जाता है। इसलिये सभी विचारक किसी-न-किसी रूप में इसमें विश्वास

करते हैं। इसका कारण स्पष्ट है। 'चाहिये' का अर्थ ही है कि हम 'कर सकते हैं'। मान लीजिये, कोई छात्र कालेज नहीं आता है। हम इसे बुरा समझकर उससे कहते हैं, तुम्हे कालेज आना चाहिये। कहना न होगा कि यहाँ हम गौण रूप से यह विश्वास करते हैं कि उसे इसकी स्वतन्त्रता है कि वह कालेज आये या न आये। यदि ऐसा न होता, तो वह उसी प्रकार का होगा कि हम आंधी से आग्रह करे कि तुम जोर से मत बहो अन्यथा संसार की बहुत क्षति होगी। हम आंधी से ऐसा नही कह सकते; क्योंकि हम जानते हैं कि उसका बहना और न बहना उसकी अपनी शक्ति से बाहर है। अतः 'चाहिये' का अर्थ है 'कर सकना'। इसीलिये काण्ट कहा करता था— 'तुम्हें करना चाहिये का अर्थ है कि तुम कर सकते हो।' १

इस प्रकार हम पाते हैं कि मनुष्य का नैतिक जीवन ही चुनावो की एक ऐसी कडी है, जहाँ हर समय हम एक को दूसरें से अच्छा समझते हुए उसको प्रधानता देते हैं और फिर उसकी प्राप्ति के लिये, उसे जीवन मे उतारने के लिये सतत् प्रयास करते हैं। यहींपर प्रश्न उठता है कि चुनाव का यह सिल-सिला वास्तविक है या केवल भ्रम है। कार्य्यों को करने मे हमारी इच्छा-शक्ति स्वतन्त्र है या बँधी हुई है ? स्पष्ट है कि यदि इसे स्वतन्त्र न मानेंगे, तो आदर्श आदि का जीवन में स्थान ही न रह जायगा। इसलिये हम अपने जीवन को अच्छा बनाने के लिये प्रयास कर सकें। इसके लिये आवश्यक है कि कार्य करने की स्वतन्त्रता भी मानें। ऐसा न होने से कोई भी अच्छे या बुरे कामो के लिये जिम्मेदार न होगा।

"नैतिकता, अनिवार्यता के सिद्धान्त को नहीं मान सकता; क्योंकि यह सिद्धान्त दायित्व का नाश करता है।" २

1–"Though oughtest implies thou canst"

2. "Morality cannot accept the theory of necessity, because that theory destroys responsibility."

—Principles of Ethics–D, Arcy.

आत्म-स्वातन्त्र्य के भिन्न-भिन्न अर्थ

आत्म-स्वतन्त्रता या स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति के दो पहलू हैं—निषेधात्मक और भावात्मक। निषेधात्मक रूप मे यह मानता है कि यहाँ बाह्य बन्धनों का नितान्त अभाव होता है और भावात्मक रूप में कर्त्ता मे स्वयं ही इतनी शक्ति होती है कि वह अपनी इच्छानुसार, अपनी प्रकृति के नियमानुसार कार्य कर सके।

"कोई कार्य स्वतन्त्र माना जायगा, यदि उसका तात्कालिक कारण कर्त्ता की इच्छा-शक्ति हो। वह बाधित (Determined) तब होगा, यदि इसका प्रादुर्भाव किसी बाह्य शक्ति के प्रयोग से, जैसे स्पष्ट शारीरिक शक्ति के प्रयोग से अथवा धमकी देकर या धोखा देने से हुआ हो।" १

स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति की महत्ता सिर्फ नीति-शास्त्र ही तक सीमित नहीं है, वरन् इसका स्थान अन्य विषयों मे भी इतना ही महत्त्वपूर्ण है। न्याय-शास्त्र (Jurisprudence) भी विना इसके माने हुए नहीं सम्भव है। एक न्यायाधीश किसी दोषी को दण्ड इसी आधार पर दे सकता है कि वह आदमी दूसरे प्रकार से काम कर सकता था। यह खूनी की इच्छा पर निर्भर है कि वह खून करे या न करे। इस प्रकार उसमे स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का स्थान मान लिया जाता है। अतः यदि जिम्मेदारी सत्य है,तो स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति भी सत्य होगी ही।

W. M. Urban के अनुसार नीति-शास्त्र मे इच्छा-शक्ति का प्रयोग तीन अर्थों मे किया जा सकता है। २

---

१ "An act is called free when the will of the agent is its immediate cause; determined, when it is caused by an external force, that is either directly, by phystral compulsion or indirectly by threats, misrepresentations etc." A System of Ethics—Paulsen;page—452.

2 Fundamentals of Ethics; Page—403.

(१) इच्छा-शक्ति स्वतन्त्र मानी जायगी, यदि वह व्यक्ति के चरित्र और प्रेरणा का फल हो। यह उसका अपना किया हुआ समझा जायगा; क्योंकि इसमें वाह्य शक्तियों का प्रयोग नहीं हुआ है और न यह शारीरिक प्रतिक्षेप क्रियाओं (Physiological Reflex) का ही फल है।

(२) स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का अर्थ है कि वह किसी भी प्रेरणा से परे हो। वह व्यक्ति के उस रूप का द्योतक है, जिसपर उसके चरित्र में प्रेरणा (Motive) या परिस्थिति आदि का कुछ असर न पड़ सके। मैकेनजी ने भी कुछ ऐसी ही कहा है।

(३) स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का अर्थ है कि मनुष्य कार्य-सम्पन्न अपने विवेक और बुद्धि द्वारा करे। यहाँ विवेक और बुद्धि को ही मनुष्य का वास्तविक रूप माना गया है।

इन तीनों में दूसरा बेकार है। वह इच्छा, जिसमें व्यक्ति के चरित्र, प्रेरणा आदि का स्थान ही न हो, उसे स्वनिर्धारित नहीं माना जा सकता। पहला मत सही है; क्योंकि यहाँपर माना गया कि इच्छा-शक्ति बिल्कुल बेलगाम नहीं है, बल्कि व्यक्ति के चरित्र से संचालित होती है। चरित्र ही आचरण का कारण है। लेकिन, तीसरा अर्थ सर्वोत्तम है; क्योंकि विवेकपूर्ण है। प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो (Plato) इसीमें विश्वास करता था।

मात्रिक जिम्मेदारी और मात्रिक स्वतन्त्रता

हम यह आरम्भ से ही कहते आ रहे हैं कि नीति-शास्त्र में स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति को मानना ही होगा; पर इसका यह अर्थ नहीं है कि हमारी इच्छा बिल्कुल स्वतन्त्र हो; हम जो चाहें, करें। यह तो सबसे बुरे प्रकार का बंधन होगा। इसे मैथ्यू आर्नल्ड 'Bondage to the passing'

---

१ Freedom is sometimes understood to mean the power of acting without motives. But this is also an absurdilty.

—A Manual of Ethics—J. S. Mackenzie; Page—92.

movement' मानते हैं। सत्य तो यह है कि स्वतंत्रता और बन्धन मे मात्रा या परिमाण का अन्तर है। इसे ही हम दूसरे रूप मे मात्रिक जिम्मेदारी और मात्रिक स्वतन्त्रता कहते हैं। स्पष्ट है कि जिस काम के लिये हमें जितनी स्वतन्त्रता है, उसके लिये जिम्मेदार भी हम उतनी ही मात्रा में हैं; क्योंकि जिम्मेदारी और स्वतन्त्रता दोनो साथ-साथ चलते हैं।

इसे उदाहरण द्वारा ही समझना श्रेयस्कर होगा। कोई मनुष्य घर से बाहर नहीं जाता है। इसके बहुत-से कारण हो सकते हैं। वह कुछ काम करने के लिये घर में रह जाता है, या उसे बाहर जाने की इच्छा नहीं है; ऐसा भी हो सकता है कि उसने किसीको वहाँ ठहरने का वचन दिया हो, या किसीने उसे धमकी दी हो कि बाहर निकलने पर उसे दण्ड दिया जायगा। उसके दरवाजे पर पहरा बैठा दिया गया हो कि उसे बाहर न जाने दिया जाय। सबसे बुरी हालत हो सकती है कि घर मे उसके हाथ-पाँव बाँध दिये गये हों, दरवाजे बन्द कर दिये गये हो और फिर बाहर पहरा भी बैठा दिया गया हो।

इस उदाहरण में हम पाते हैं कि किस प्रकार उसके सामने पूर्ण स्वतन्त्रता से लेकर पूर्ण बन्धन तक में किसी प्रकार की भी स्थिति हो सकती है। फिर जिस स्थिति से वह बाहर न जा सका, उसी स्थिति पर उसकी स्वतन्त्रता मानी जायगी और वहीं तक वह अपने काम का जिम्मेवार ठहराया जायगा।

अतः जिम्मेदारी और स्वतन्त्रता मे सिर्फ मात्रा का ही अन्तर हो सकता है।

"स्वतन्त्रता का अर्थ है कि कर्त्ता को अपनी प्रेरणा की चेतना हो, कार्य के अर्थ को समझने की क्षमता हो और आदर्श के अनुकूल अपनी प्रेरणा एवं कार्य मे सुधार लाने की क्षमता हो। दायित्व और स्वतन्त्रता दोनो में मात्रिक भेद पाया जाता है।" १

---

१. "Freedom means simply the ability to have conscious motives, to understand the meaning of our action, and to have the power to modify them

आत्म-स्वातन्त्र्य की विरोधी उक्तियाँ

संकल्पवाद

आत्म-स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध मे नीति-शास्त्र में दो प्रकार के विचार पाये जाते हैं। कुछ लोग स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति मे विश्वास रखते हैं और दूसरे लोग नहीं। यहाँ हम विरोधी मत को ही पहले देखेगे। इस मत को संकल्पवाद या (Determining) कहा जाता है। इसके निम्नलिखित तर्क हैं:—

(१) संकल्पवाद की कार्य-कारण सम्बन्धी उक्तियाँ—विश्व के सभी वैज्ञानिक इस बात से सहमत हैं कि बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति असम्भव है। चूँकि हर घटना का कुछ कारण होता है और इच्छित कार्य भी एक घटना है, इसलिये इसका भी कारण अवश्य होगा। स्पष्ट है कि इसका कारण यह स्वयं नहीं हो सकता; क्योंकि इसमे चक्रक दोष (Argument in a circle) आ जाता है। अपना कारण स्वयं होने के लिये उस वस्तु को अपने अस्तित्व के पहले ही होना होगा, जो हास्यास्पद मालूम होता है। इसलिये हर किसी चीज का कारण अपने से अलग दूसरा ही होगा। हमारे इच्छित कार्य अपने कारण के फलस्वरूप हैं और जब तक वह कारण रहेगा, वे दूसरे कुछ हो ही नहीं सकते। इस प्रकार उनमे स्वतन्त्रता नहीं है।

(२) शरीर और मानस के सम्बन्ध द्वारा तर्क—जड़वाद का विश्वास है कि हमारा शरीर जड़ तत्त्वों से बना हुआ है। इसलिये इसके भी नियम वही हैं, जो किसी भी जड पदार्थ के हैं। इन नियमों के आधार पर हम जड़ पदार्थों की गतिविधि की भविष्यवाणी कर सकते हैं। कम-से-कम हमारे शरीर के सम्बन्ध मे यह बात सही है। यदि हमारे शरीर के ठीक बराबर एक काठ का पुतला बनाया जाय और दोनो बराबर ऊँचाई से जमीन पर गिराये जायँ, तो वे दोनों ही एक ही समय मे पृथ्वी पर आयेंगे।

---

in the direction of some end or ideal. Both responsibility and freedom must, by their very nature, have degrees."

—Fundamentals of Ethics-Urban-T-405.

प्रश्न यह है कि तब मानस कहाँ से आता है ? चाहे तो मानस और शरीर मे क्रिया-प्रतिक्रिया (Interaction) का सम्बन्ध है अथवा नहीं। दोनों ही हालतें अच्छी नहीं हैं। यदि ऐसा सम्बन्ध है और शरीर का असर मन पर पड़ता है,तो कुछ मानसिक क्रियाएँ अवश्य ही शारीरिक क्रियाओ के फलस्वरूप होगी। हम जानते हैं कि यदि शरीर मे सूई चुभाई जाय,तो इसकी पीड़ा मन को होगी। यदि शरीर में (Adrenalin) की सूई दी जाय, तो मन में डर उत्पन्न होगा, यदि अनपच हो तो मन भारी होगा। इस प्रकार हमारे मन की ये सब स्थितियाँ बिल्कुल ही स्वतन्त्र नहीं—हमारी शारीरिक घटनाओ द्वारा बँधी हुई हैं। यदि हम शरीर और मन के इस सम्बन्ध को इनकार करें, तो फिर दोनों मे जो साथ-साथ सम्बन्ध देखते हैं, उनका क्या होगा? हमें भूख लगी है, तो खाना देखते ही जीभ से लार टपकना आरम्भ हो जाता है। फिर शंका हो सकती है कि आखिर शरीर और मन (जो बिल्कुल विभिन्न प्रकृति के हैं) में इस प्रकार सम्बन्ध कैसे होगा ? वे दोनो एक दूसरे पर असर कैसे करेंगे ? इन सबो के उत्तर मे हमे मानना ही होगा कि उन दोनो के स्वभाव बिल्कुल भिन्न नही हैं। उन दोनों में विभिन्नता रहते हुए भी कुछ समानता जरूर ही है। मन भी जड़वत् अवश्य ही है; कम-से-कम इसे शरीर की क्रिया (function) अवश्य है। अब यदि मानसिक क्रियाएँ शारीरिक क्रियाओं पर निर्भर हैं, तो उन्हें स्वतन्त्र किस प्रकार से माना जायगा। यदि हम मस्तिष्क (Brain) की गतिविधि को पूर्णतया जान सकें, तो हम दावे के साथ कह सकते हैं कि किस प्रकार की मानसिक क्रिया होनेवाली है। अतः हमारे इच्छित कार्य,जो मानसिक क्रियाएँ हैं, हमारी शारीरिक दशाओ पर निर्भर हैं। वे स्वतन्त्र हो ही नही सकते।

(२) मानवी इच्छा-शक्ति पर बाहरी प्रभाव—हम जो हैं और जैसी हमारी इच्छा है, उनमें हम बाहरी शक्तियो द्वारा बँधे हुए हैं। प्राणिशास्त्र (Biology),मानव-शास्त्र (Anthropology),शरीर-विज्ञान (Physiology), मनोविज्ञान (Psychology) आदि सभी इसी बात की पुष्टि करते हैं।

(क) प्राणि-शास्त्र के अनुसार एक मनुष्य एक जाति का सदस्य है। इस रूप मे उसने अपने पूर्वजो से बहुत-कुछ अर्जन किया है और उसके रहने-सहने का ढंग उसी प्रकार का होगा, जैसा उसके पूर्वजो का और उसके समाज के अन्य सदस्यो का है। इस प्रकार यह विज्ञान मानता है कि मनुष्य बहुत हद तक बँधा हुआ है।

(ख) अब मानव-शास्त्र को ले। हर मनुष्य किसी विशेष संस्कृति और सभ्यता मे पला होता है। अपने साथ वह युग-परम्परा को ढोये चलता है। उसके युग के जो भी विश्वास हैं, वह भी उन्हे ही मान लेता है। इसीलिये प्लेटो कहा करता था कि साधारण आदमी अपना नैतिक दृष्टिकोण, धर्म या राजनीति बना नही सकते। उन्हें हर चीज बनी-बनायी मिलती है। अपने से सृजन करने की उसमे शक्ति कहाँ? इस प्रकार साधारण आदमी रहन, सहन, धर्म, राजनीति, विवाह-बन्धन, सम्पत्ति सम्बन्धी बाते, सबोमे जरा भी स्वतन्त्र नही होता। वह हर चीज मानकर ही चलता है। समाज का असर उसपर हर समय पड़ता है। जैसाकि जोड महोदय ने कहा है—

"यदि किसीका जन्म वेल्हम मे हुआ है, तो एक समय मे एक ही पत्नी रखना वह उचित समझेगा और वैवाहिक सम्बन्ध के अतिरिक्त यौनिक क्रिया को भी वह निन्दनीय मानेगा। परन्तु यदि उसका जन्म बगदाद मे हुआ है, तो एक साथ ही चार स्त्रियाँ भी रखना वह उचित मानेगा, बशर्ते कि वह उनका भरण-पोषण कर सके। फिर वह रखैल रखने मे भी न हिचकेगा।"[१]

---

१ If he is born in a bedroom in Belham, he will think it right to have one wife and condemn sexual intercourse outside the marriage tie, if he is born in a bedroom in Baghdad, he will think it right to have four wives, provided that he can afford their upkeep, and see nothing to ensure in con-crubirage —Guide to the Philosophy of Morals and politics —C. E. M. Joad; Page—233

इस प्रकार मनुष्य पर परिवार, समाज, कर्म आदि सबोंका प्रभाव इस रूप मे पड़ता रहता है कि उसे अपने-सोचने-विचारने की क्रिया में स्वतन्त्र मानना भ्रम-सा मालूम पड़ता है।

पालसेन साहब ने तो इसे और ही सुन्दर शब्दो मे कहा है। १

(ग) अब हम शरीर-विज्ञान की ओर दृष्टि डाले। आज के विद्वान् इस बात को मानने लगे हैं कि हमारे शरीर और मन का विकास शरीर की ग्र'थियों (glands) पर निर्भर है। थारबायड की कमी से आदमी खिन्न होता है और adrenalin की अधिकता से डरपोक। इस प्रकार शरीर का विकास भी उन्हींपर निर्भर है। एक कुबड़े की मानसिक दशा एक सीधे आदमी की मानसिक दशा से भिन्न होगी ही। एक लोथ आदमी का सोचना-विचारना किसी दुरुस्त आदमी से अलग होगा ही। इस प्रकार मानसिक क्रियाएँ शारीरिक विकास पर निर्भर हैं, उससे स्वतंत्र नहीं।

(घ) कहा जाता है कि आज के युग को सबसे अधिक डार्विन, मार्क्स और फ्रायड ने प्रभावित किया है। यहाँ हम फ्रायड के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो का अवलोकन करेंगे। फ्रायड का कहना है कि हमारे मन की जितनी भी क्रियाएँ हैं, चाहे वे चेतन ही क्यो न हो, सबोंकी जड़ में अवचेतन मन (unconscious) की क्रिया है। यद्यपि साधारणतया हम अवचेतन की बातों को नहीं जान सकते; फिर भी, वे हमारी क्रियायो को

---

१ Society incessantly works upon him, it tells him in words and in deeds what is right and what is wrong, what is proper and improper, what is attractive and repulsive. It assigns to him his tasks acording to the law of supply and demand. Each man receives his instructions from his time. The builder does not build as he chooses, but as the age chooses.

—A System of Ethics—Paulsen; Page-458.

चालित करती रहती हैं। हमारी दैनिक भूलें, स्वप्न आदि उसीके प्रतिरूप हैं। अतः हमारी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति सिर्फ भ्रम-मात्र है। वस्तुतः वे अवचेतन मन के फलाफल हैं। उस अवचेतन मन के सामने हमारा चेतन मन कितना लाचार होता है, वह हम जोड साहब के शब्दों से ही जान सकते हैं—

"अवचेतन मन एक समुद्र की तरह है, जिसमें भावचेष्टा, इच्छाओ आदि की लहरें हिलोर लेती रहती हैं। चेतन मन तो उस अथाह समुद्र में एक तुच्छ बोतल के काग की तरह है, जो उन लहरों के थपेड़ों से ही इधर-उधर नाचा फिरता है। उसकी अपनी कोई भी गति नहीं है। अतः चेतन क्रियाएँ स्वतन्त्र नहीं, वरन् अवचेतन क्रियाओं के फलस्वरूप हैं।" १

आत्म-स्वातन्त्र्य के पक्ष की उक्तियाँ

स्वतन्त्रतावाद

Libertarianism

हम अभी देखेंगे कि संकल्पवाद द्वारा दिये गये तर्क वस्तुतः सही नहीं हैं। हम फिर उनमें से प्रत्येक को एक- एक बार कर देखेंगे।

---

१. "The unconscious is pictured as a restless sea of instinct and impulse, agitated by gusts of libido, swept by the waves of desire, and threaded by the currents of urge and desire. Upon these waves and currents, consciousness with all that it contains, bobs hopelessly like a cork, the movements of the cork being determined by the nature and direction of the ground swells below the surface.

—Guide to the Philosophy of Morals and Politics—
Joad; Page-238.

(१) कार्य-कारण सम्बन्धी तर्क की आलोचना

संकल्पवादियो ने इस तर्क का सहारा लिया है। इसकी आलोचना करते समय हम दो बातो का सहारा लेंगे—

पहली बात यह है कि इनलोगोने पूरे विश्व को एक मशीन की तरह समझा है और इसलिये विश्वास करते हैं कि इसके नियम मशीनो के नियमो की तरह हैं। अर्थात्, हर एक घटना का कारण अवश्य होता है और एक कारण निश्चित रूप से अपने सम्बन्धित कार्य को ही उत्पन्न करता है। परन्तु यह विचार तत्त्व-मीमासा (Metaphysics) का सिर्फ एक सिद्धान्त है। दर्शन में हम दूसरी विचारधारा भी पाते हैं। यह विचारधारा आदर्शवाद (Theology) की है। यहाँ विश्व को मन की तरह समझा जाता है, न कि मशीन की तरह। यहाँ विश्व आत्माओ (Spirits) का ऐसा समूह समझा जाता है, जो आदर्श प्राप्ति या लक्ष्य-सिद्धि के लिये हमेशा क्रियाशील रहते हैं। यदि यह सही है, तो संकल्पवादियो का तर्क गलत है।

इसके अतिरिक्त तत्त्व मीमासा की एक अन्य विचारधारा द्वैतवाद (Dualism) की है। यहाँ जड़ और चेतन दोनो का ही अस्तित्व माना जाता है। इस मत में विश्व अंशतः जड़ है और अंशतः चेतन। मशीन की तरह नियम जड के हिस्से पर भले ही लागू हो सकते हैं, वे चेतन विश्व के लिये सही नहीं हो सकते। फिर यह बात सही है कि मन और शरीर के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध की व्याख्या करना बहुत ही कठिन है; लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि द्वैतवाद की कल्पना गलत है। स्पष्ट है कि द्वैतवादी सिद्धान्त के सही होने पर मानसिक क्रियाएँ मशीनवादी नियमो से परे होंगी।

दूसरी बात है कि संकल्पवादियो ने कार्य-कारण नियम को मान लिया है। दर्शन का हर विद्यार्थी ह्यूम के विचार से अवगत है। ह्यूम ने कार्य-कारण सम्बन्ध की कटु आलोचना की और उसका यथोचित उत्तर आज तक नहीं हो सका। उसके मन में जहाँ हम कार्य-कारण सम्बन्ध की चर्चा करते हैं, वस्तुतः वहाँ सिर्फ दो घटनाओ को एक के बाद दूसरे को घटित होते हुए

देखते हैं। हम सिर्फ इतना ही देखते हैं कि पानी पीने के बाद दूसरी घटना प्यास का बुझना होता है। इसका अर्थ यह नहीं कि पानी पीना प्यास बुझने का कारण होता है। वह आगे कहता है कि आज तक पानी पीने से प्यास बुझती आयी है, इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि आगे भी ऐसा ही होता रहेगा। अत: जब तक ह्यूम की इस आलोचना का सही उत्तर नहीं होता, कार्य-कारण नियम के सहारा लिये गये तर्क भी बिल्कुल सही नहीं माने जा सकते।

(२) शरीर और मानस-सम्बन्ध द्वारा तर्क की आलोचना

कहना न होगा कि पहले तर्क की तरह यह भी गौण रूप से एक तात्त्विक सिद्धान्त की शरण लेता है। इस तर्क मे दो बाते मान ली गई हैं। पहले हम देखेगे कि वे दो मान्यताएं क्या हैं और कैसे हैं। फिर बाद में हम उनकी आलोचना करेंगे।

पहली बात है कि यह तर्क इस सिद्धान्त मे विश्वास करता है कि कोई चीज सिर्फ हिस्सो के योगफल से अधिक कुछ हो ही नहीं सकती। यहाँ यह इस प्रकार लागू है कि ये किसी भी मानवीय कार्य का विश्लेषण कर उसे शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवो की अलग-अलग क्रियाओं का योगफल मानते हैं।

इस तर्क की दूसरी मान्यता है कि ये किसी घटना की व्याख्या उसके पीछे की स्थिति या आरम्भ से करना शुरू करते हैं। मानसिक क्रियाओं की व्याख्या करने के लिये ये उससे पहले घटित हुई शारीरिक क्रियाओ का सहारा लेते हैं।

ये दोनों ही बाते इसलिये मानी जाती हैं, क्योंकि इस तर्क पर वैज्ञानिक पद्धति की छाप है—जहाँ उद्देश्य को कोई स्थान नहीं मिलता। अब हम इन दोनों मान्यताओ की आलोचना करेंगे—

पूर्ण हिस्सो का योगफल है, यह बात सिर्फ मशीन की तरह जड़ पदार्थों के लिये भले ही सही हो, मानसिक क्रिया के लिये उपयुक्त नहीं। यह सही है कि एक मशीन भिन्न-भिन्न पुर्जों का योगफल है। एक पलंग,

या टेबुल भिन्न-भिन्न हिस्सों का समूह भाग है। लेकिन यह बात एक चित्र या गाना के सम्बन्ध में सही नहीं।

"एक चित्र कपड़े और विभिन्न रंगों के मात्र योगफल से कहीं अधिक है; एक गाना वायुमण्डल के मात्र कम्पन से कहीं अधिक है; उसी प्रकार मनुष्य का शरीर उसके विभिन्न अंगों के योगफल से कहीं अधिक है।" [१]

घटनाओं की व्याख्या आरम्भ से करना, यह भी दोषपूर्ण है। यह विज्ञान की दूसरी विशेषता है। जैसाकि हमने अभी कहा कि विज्ञान विश्व में उद्देश्य का स्थान नहीं मानता। वह तो घटनाओं की एक कड़ी-सी मानता है, जहाँ हर घटना अपनी पूर्ववर्त्ती घटना के फलस्वरूप होती है। इस प्रकार की घटनाओं के घटित होने में बाहरी प्रभाव मानने को वे तैयार नहीं होते। लेकिन इसमें अनवस्था का दोष होता है। मान लिया कि एक सूई बनाने की मशीन है। हम इसकी व्याख्या के लिये कि सूई कैसे बनती है, मशीन की अन्तिम क्रिया से शुरू करते हैं और पीछे हटते आते हैं कि सबकी जड़ में मशीन का चलना है। लेकिन मशीन कैसे चली? दूसरे किसी आदमी ने बाहर से चलाया? इस प्रकार कहीं भी बाहरी प्रभाव से

---

१. "A picture is more than the sum total of the chemically analysable canvas and paints, which are used in its production; that a movement of a sonata is more than the sum total of the vibrations in the atmosphere which are set going by the impact of the hammers upon the wires of the piano and that a living organism is more than the sum total of the various organs and functions which constitute its body."

—A Guide to the Philosophy of Morals and Politics—C E.M. Joad—Page; 53.

मानी हुयी वैज्ञानिक व्याख्या पूरी हो ही नहीं सकती । १ जोड महोदय की उक्ति यहाँ भी उल्लेखनीय है ।

इस प्रकार हम पाते हैं कि इनका यह कहना कि मानसिक क्रियाओं का कारण शारीरिक क्रियाएँ हैं, इसलिये मानसिक क्रियाएँ स्वतन्त्र नहीं हैं, गलत है । वस्तुतः शारीरिक क्रियाओं के पीछे भी मन का होना परमावश्यक है । अतः संकल्पवादियों का यह तर्क भी सही नहीं ।

(३) मानव-इच्छा-शक्ति पर बाहरी प्रभाव

इसकी चर्चा करते समय हम इतना तो अवश्य मानते हैं कि प्रत्येक मनुष्य के जीवन में उसपर वंश, परिस्थिति, धर्म, संस्कृति, समाज आदि सबका बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ता है; लेकिन इससे यह नहीं निकलता कि इन प्रभावों से अलग मनुष्य में अपना कुछ नहीं है । हमने शुरू में ही माना है कि स्वतंत्रतावाद का अर्थ यह नहीं कि इच्छा पर किसी भी प्रकार का कहीं कोई असर ही न हो । इसका अर्थ हम इतना ही मानते हैं कि बाहरी प्रभाव होते हुए भी मनुष्य अपने कर्त्तव्य-निर्धारण के लिये स्वतन्त्र है । इस तर्क की चर्चा करते समय हमने (Paulsen) के कथन का उद्धरण दिया है । वे आगे चलकर अपनी पुस्तक में इसकी कटु आलोचना करते हैं ।

चाहे वस्तुस्थिति कुछ भी हो, हर आदमी में यह चेतना होती है कि वह

---

१. "You wind the watch and watch goes, you turn the crank and engine starts. Thus the typical scientific explanation of an event tends to look for the exciting stimulus to which the event in question, whether it is the movement of a mechine, or the behaviour of an insect, animal or man, may be regarded as a response."

—Guide to the Philosophy of Morals & Politics—Joad; Page-29

अनुभव करता है कि वह कार्य करने में स्वतन्त्र है। तब क्या हम ऐसा मानेंगे कि यह चेतना भ्रम मात्र है? कदापि नहीं। इन प्रभावों के अलावे हमारी इच्छा और आत्म-बल है।

"हम मशीन के पुर्जो की तरह चालित नहीं होते, वरन् अपनी आन्तरिक प्रेरणा, जिसे हम इच्छा-शक्ति कहते हैं, द्वारा संचालित होते हैं।" १

इसके अतिरिक्त इसमें एक अन्य विरोधाभास भी है। यदि हम कार्य में बाहरी प्रभावों के अलावे व्यक्ति की स्वतन्त्रता न मानें, तो जिम्मेवारी (Responsibility) का क्या होगा? हर आदमी गलती कर लेने पर यही कहेगा, इसमें उसका क्या कसूर? उसे तो माता-पिता, देश-धर्म, समाज, संगति, संस्कृति आदि कुछ का भी चुनाव करने का मौका मिला नहीं। उससे जो-कुछ भी हो सका, सब इन्हीं सबोंके कारण। अतः उसके काम के लिये वह स्वयं जवाबदेह नहीं हो सकता। कल्पना कीजिये, उस समय का। ऐसी दशा मे राज्य, न्याय, दण्ड, पाप, पुण्य सबोंका कुछ अर्थ नहीं होगा। लेकिन हम समाज मे इन सबोंकी प्रधानता देते हैं, जिसका अर्थ है कि हम व्यक्ति को उसके कामों के लिये जवाबदेह मानते हैं। जिसका स्पष्ट माने है कि हम ऐसा भी मानते हैं कि वह दूसरे प्रकार से भी काम कर सकता था, अर्थात् उसे काम करने की स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

(४) अन्त में हमे यह कहना है कि स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति नैतिकता का प्राण है। जीवन में जो स्थान प्राणवायु का है, वही स्थान नीति-शास्त्र मे स्वतन्त्र इच्छा का है। एक ओर यह कहना कि नीति-शास्त्र मानवीय आदर्शों की छान-बीन करता है और मनुष्य को वह आदर्श अपनाने को कहता है वहीं, दूसरी ओर, यह मान लेना कि उसे स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति नही है; असंगतपूर्ण है। हम आकाश में बिना सहारे के टिक नहीं सकते, तो फिर यह कहना कि

---

१ "It tells me that I am not moved from without like a cogwheel in a machine, but through the mediation of an inner element which I call my will".

—A System of Ethics–Paulsen; page-459.

तुम्हें आकाश में रहना चाहिये, निरर्थक है। इसलिये यदि नीति-शास्त्र का कुछ अर्थ है, तो स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति को मानना ही होगा।

मेकेनजी ने ठीक ही कहा है—"यदि नैतिक शास्त्र का कुछ अर्थ है, तो यह मानना ही होगा कि हमारा संकल्प पूर्णरूप से परिस्थिति का दास नहीं है, वरन् कुछ अर्थों में अवश्य ही स्वतन्त्र है।"[१]

(५) स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति के विरोधी मतवाले इस बात पर बहुत अधिक जोर देते हैं कि व्यक्ति पर बहुत तरह का बाहरी प्रभाव है और इसलिये वह बन्धन में जकड़ा हुआ है, उसे स्वतन्त्रता नहीं। इसका अर्थ यह हो सकता है कि बन्धन और स्वतन्त्रता दोनों साथ-साथ सही नहीं हो सकते। हम सिर्फ एक उदाहरण द्वारा अभी बतलायेंगे कि बन्धन और स्वतन्त्रता दोनों साथ-साथ चल सकते हैं।

ताश के खेल को लीजिये। जब चार खिलाड़ियों मे पत्ते बाँटे जाते हैं, तो उस समय किसे कौनसा पत्ता मिलेगा, इसकी स्वतन्त्रता उन्हें नहीं रहती। किसको क्या मिलेगा, यह सिर्फ संयोग पर निर्भर करता है। फिर खेल के आरम्भ होने पर जो जैसा चाहेगा, वैसा नहीं खेल सकता। हर खेल के अपने नियम होते हैं और खिलाड़ियों को उन्हीं नियमों के अनुसार खेलना होता है। अतः यहाँ भी कुछ बंधन है। तब आखिर हम क्या ऐसा कह सकते हैं कि ताश के खिलाड़ी को खेलने की कुछ भी स्वतन्त्रता नहीं होती? कदापि नहीं। यदि ऐसा होता, तो सब अच्छे या बुरे खिलाड़ी एक ही तरह खेलते। लेकिन जहाँ, एक अच्छे खिलाड़ी को अनेकों चाल मालूम होते हैं, वहाँ बुरे को कुछ भी मालूम नहीं होता। एक ही प्रकार के पत्ते से बुरा खिलाड़ी हार जाता है और अच्छा जीतता है। यह बन्धनों

---

[१] "If, then, there is to be any meaning with moral oiperative, the will must not be absolutely determined by circumstances but must in some sense be free."

—A Manual of Ethics–Mackenzie; Page–94

के बाद भी अपने खेलने ही की स्वतन्त्रता तो है। ठीक इसी प्रकार हमारे जीवन पर बाह्य प्रभावों के होते हुए भी हम काम करने में स्वतन्त्र हैं।

उपसंहार

अभी तक हमने यह पाया कि नीति-शास्त्र में स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति को मानना ही होगा। अब प्रश्न है कि आखिर हम इसे किस रूप मे मानें। इसकी थोड़ी-बहुत चर्चा हम पीछे कर चुके हैं; फिर भी, इस सम्बन्ध मे कुछ अन्य बातें जानना आवश्यक है। इच्छा-शक्ति न तो पूर्ण स्वतंत्र है और न पूर्ण बाधित (determined)। यदि इसपर कुछ बन्धन है, तो वह अपने चरित्र का। फिर यह भी सही है कि चरित्र निर्माण में अन्य वस्तुओं का प्रभाव होता है। लेकिन चरित्र-निर्माण सिर्फ बाहरी प्रभावों के ही फलस्वरूप नहीं होता, वरन् इसमे व्यक्ति के अपने प्रयोजन, आत्मबल का भी हाथ होता है। स्वतंत्र इच्छा-शक्ति का सिर्फ इतना ही अर्थ है कि काम करने मे व्यक्ति के अपने चरित्र से अलग किसी दूसरे प्रकार का बाहरी प्रभाव नहीं पड़ता। हम कहते हैं कि एक बुरा आदमी कभी अच्छा काम नहीं कर सकता। इसका अर्थ होगा कि उसके जैसे चरित्रवाले आदमी से किसी अच्छे काम की आशा नहीं की जा सकती; लेकिन इससे यह नहीं निकलता कि उसे स्वतन्त्रता नहीं है। इसका साफ अर्थ है कि उसके बुरे काम करने मे उसके अपने चरित्र का हाथ है, न कि किसी बाहरी वस्तु का।

"स्वतंत्र होने का अर्थ है कि व्यक्ति अपने अतिरिक्त अन्य चरित्रो से बाध्य नहीं होता।"[१]

इसे हम दूसरे प्रकार से भी देख सकते हैं। (Aristotle) के मत में वास्तविक या निर्मित चरित्र (Formed character) वह है, जो भावावेग

---

१ " To be free means that one is determined by nothing but oneself "

A Manual of Ethics—Mackenzie; Page—969·

(Impulses) में आकर कुछ नही करता; बल्कि हर प्रकार से सोच-समझ-कर करता है। जितना ही सोचकर काम किया जायगा, उतना ही चरित्र निर्मित माना जायगा और उसी अनुपात में स्वतन्त्रता भी मानी जायगी।

आप जानवरों की बात लें। वे कोई काम सोच-विचार कर नही करते; क्षणिक आवेश मे आकर करते हैं। एक जानवर अपने शिकार को देखता है और तुरंत आक्रमण कर बैठता है। (Deliberation), झिझक (Hesitation) और चुनाव (Choice) सिर्फ विशेष प्रकार के जानवरों में ही पाये जाते हैं।

मनुष्यों में ये सभी बाते पायी जाती हैं। जब किसी व्यक्ति को कुछ करना होता है, तो वह जोश मे आकर तुरंत कुछ नहीं कर बैठता। शान्त चित्त होकर पूरी परिस्थिति पर दृष्टिपात करता है। उस काम के हर पहलू को देखता है। अपना लक्ष्य या आदर्श तय करता है। किसी काम को करने में झिझक होती है, फिर दूसरा रास्ता सोचता है। इस प्रकार अन्त में सोच-समझकर वह एक रास्ता तय करता है और वैसा ही करता है। अतः हम पाते हैं कि वह अपनी स्वतन्त्रता का प्रयोग हर रूप में कर लेता है। इसी रूप में स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति है।

"व्यक्ति की क्रियाएँ स्वतंत्र तब होती हैं, जब वह सिर्फ वर्त्तमान उद्दीपकों और क्षणिक इच्छाओं के वशीभूत काम नहीं करता, वरन् लक्ष्य और आदर्श को ध्यान मे रखकर, अपने कर्त्तव्य और अन्तर्ज्ञान के वशीभूत होकर उन्हें करता है। पहली स्थिति में वह बाध्य माना जायगा और दूसरी में स्वतन्त्र।"[१]

---

१ "A Person's acts are free; when he is determined not by present stimuli and the momentary desires aroused by them, but by ideas of ends and ideals, by duty and conscience, in the former case he is driven, in the latter alone he acts"

—A System of Ethics-Paulsen; Page-168.

सातवाँ अध्याय

नैतिक मापदण्ड

Ethical Standard

मापदण्ड की आवश्यकता—नैतिक निर्णय के स्वरूप के अध्ययन के सिलसिले में हमने देखा कि निर्णय देने के लिये एक मापदण्ड की आवश्यकता होती है। यह बात सिर्फ नीति-शास्त्र के लिए ही सही नहीं, वरन् अन्य आदर्श-निष्ठ विषयों के लिए भी सही है। मान लीजिये, एक सोनार सोने की जाँच कर रहा है। सोना खरा है या खोटा, यह जानने के पूर्व उसे खरे-खोटे का ज्ञान होना चाहिये। वही ज्ञान उसकी कसौटी होगा। साहित्य के क्षेत्र में आलोचक किसी लेखक की आलोचना करता है। ऐसा करने के पूर्व उसके सामने एक मापदण्ड हुआ करता है। तर्क-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र आदि विषयों मे तो यह और भी स्पष्ट है। इसी प्रकार नीतिशास्त्र मे भी हम किसीके आचरण को उचित अथवा अनुचित कहें, इसके लिये एक मापदण्ड का होना आवश्यक है। यही मापदण्ड वह आदर्श है, जिसका निरूपण नीतिशास्त्र करता है। हम पहले ही सर्वोच्च शुभ और यान्त्रिक शुभ के अन्तर को देख चुके हैं। मापदण्ड का प्रयोग हम सर्वोच्च शुभ के अर्थ में ही करते हैं। प्रस्तुत अध्याय मे हम इसी सर्वोच्च शुभ सम्बन्धी भिन्न-भिन्न मतो पर विचार करेंगे।

विभिन्न नैतिक मापदण्ड

नैतिक मापदण्ड सम्बन्धी सिद्धान्तों को हम आगे दी गई तालिका से समझ सकते हैं—

नैतिक मापदण्ड
- नियमवाद
  - बाह्य नियम
    - राजनैतिक नियम
    - सामाजिक नियम
    - ईश्वरीय नियम
  - आन्तरिक नियमवाद
    - अन्तःकरणवाद
    - विवेकवाद
- आदर्शवाद
  - प्रकृतिवाद
  - सुखवाद
  - पूर्णतावाद
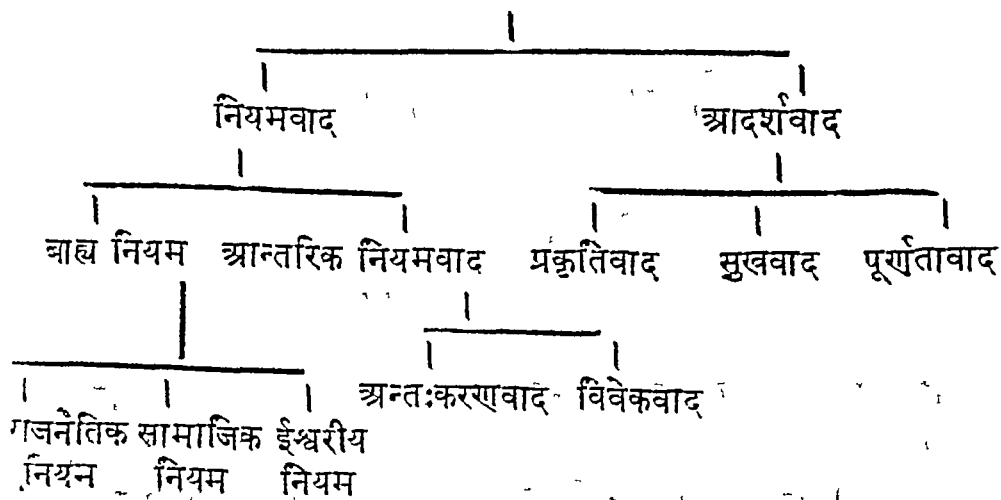
इन सभी सिद्धान्तों को हम अगले अध्याय में एक-एक कर देखेंगे। इसके पहले हमें अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार कर लेना है।

क्या नैतिक सिद्धान्त निरपेक्ष और सार्वभौम है ?
(Is ethical standard absolute and universal ?)

नैतिक मापदण्ड का अध्ययन करते समय यह प्रश्न बहुत ही विचारणीय हो जाता है। एक साथ ही आदर्श के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत देखकर स्वभावतः यह आश्चर्य होता है कि आखिर जब मनुष्यों में सामान्य रूप से समता है ही, तो फिर इतने प्रकार के विरोधी आदर्श क्यों माने जाते हैं। क्या यह सही नहीं कि सर्वोच्च आदर्श को निरपेक्ष और सार्वभौम होना चाहिये ? क्या यह देश, काल और परिस्थिति से परे नहीं है ? यदि नहीं, तो फिर पहले ही से आदर्श की चर्चा ही क्यों ? हर व्यक्ति भिन्न भिन्न परिस्थितियों में तो अपना आदर्श स्वयं निरूपण कर ही लेगा। अतएव इन्हीं सारी शंकाओं का समाधान खोजना यहाँ हमारा उद्देश्य है।

इस प्रश्न के उत्तर में हम दो विरोधी सिद्धान्त पाते हैं। वे हैं—नैतिक निरपेक्षवाद (Ethical Absolutism) और नैतिक सापेक्षवाद (Ethical relativism)।

नैतिक निरपेक्षवाद का विश्वास है कि नैतिक आदर्श एक सामान्य एवं अनिवार्य नियम की तरह है। यह देश-काल से परे है। किसी परिस्थिति की पृष्ठभूमि मे नियम का अपवाद खोजना भीरुता है। आदर्श तो हर युग मे, हर व्यक्ति के लिये समान रूप से एक ही होता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि कान्ट इसी मत का प्रतिपादक था।

इसके विपरीत नैतिक सापेक्षवाद का कहना है कि परिस्थिति पर विचार भीरुता नहीं, वरन् आवश्यक है। हर युग और हर व्यक्ति की परिस्थिति भिन्न-भिन्न होती है। एक युग के व्यक्ति के आचरण का मूल्यांकन दूसरे युग की परिस्थिति की पृष्ठ-भूमि मे करना अन्याय है। अतः आदर्श और नियम परिवर्त्तनशील हैं। युग-परिवर्त्तन के साथ ही उनमे भी परिवर्त्तन अनिवार्य है। इसलिये देश और काल के अनुसार आदर्श भी भिन्न भिन्न होना चाहिये। अब हमे इन दोनो ही सिद्धान्तों के गुण और दोष पर विचार करते हुए यह निर्णय करना है कि दोनो मे कौन-सा सिद्धान्त मान्य होना चाहिए।

नैतिक निरपेक्षवाद

नैतिक निरपेक्षवाद सुनने मे तो बड़ा ठोस और लुभावना लगता है; परन्तु विचार करने पर हम इसे न तो तर्कसंगत पाते हैं और न यथार्थ। उदाहरण के लिये हम कुछ सामान्य नियमो को देखें, जो वस्तुतः सार्वभौम तो बनाये नहीं जा सकते, किन्तु देखने से ऐसा मालूम पडते हैं।

नियम है, सदा सत्य बोलो। इस सिद्धान्त के अनुसार इसका अपवाद नही होना चाहिये। परन्तु यथार्थतः यह नियम भी निरपेक्ष नहीं हो सकता। एक डाक्टर जानता है कि उसका रोगी बच नहीं सकता। फिर भी, वह भरसक प्रयत्न करता है। ऐसी परिस्थिति में यदि वह उस रोगी से झूट कहता है कि वह बच जायगा तो किस नैतिकता के आधार पर उसके आचरण को अनुचित कहा जायगा। अतः इस परिस्थिति मे झूट बोलना इस नियम का अपवाद हुआ। अपवाद होने का अर्थ है कि वास्तविक परि-

स्थिति पर बिना विचार किये हुये सामान्य नियम का प्रयोग अनुचित है। फिर दूसरे नियम को लें। "किसी की हत्या मत करो"; परन्तु युद्धक्षेत्र में लाखों का मारना अपवाद माना जाता है,—इसलिये कि उसमें राज्य का हाथ है। फिर, आत्मरक्षा के लिये हत्या करना अनुचित नहीं माना जाता है। अतः इस नियम का प्रयोग करते समय भी हमें परिस्थिति को देखना ही होगा।

यह बात सभी सामन्य नियमों पर समान रूप से लागू है। अतः निष्कर्ष है कि सामान्य नियम निरपेक्ष नहीं माने जा सकते। देश-काल का विचार आवश्यक है।

इसके विरोध में दूसरा प्रमाण भी दिया जा सकता है। यदि हम मानवीय जीवन में भेद करते हैं, तो फिर उनके आचरण-सम्बन्धी, नियम मे भी भेद मानना ही होगा। एक अँगरेज का जीवन एक मलाया या अफ्रिका के आदिनिवासी से बिल्कुल ही भिन्न है। दोनो के रहन-सहन रीति-रिवाज, भोजन आदि में अन्तर है। फिर उनके नैतिक आदर्श एक-से कैसे हो सकते हैं? अतः भिन्न-भिन्न देशों के लिये आदर्शों में भी भिन्नता माननी ही होगी।

इतना ही नहीं, एक देश मे ही भिन्न-भिन्न युग मे भिन्न-भिन्न आदर्श माने जाते हैं। यह सिर्फ वास्तविक सत्य नहीं, सैद्धान्तिक रूप से भी सत्य है और आवश्यक भी। विकासवाद मानता है कि अस्तित्व-संघर्ष मे वही जाति अथवा व्यक्ति सफल हो पाता है, जिसके आचार-व्यवहार में भी परिस्थिति के अनुकूल सुधार हो। यदि परिस्थिति बदल गयी; परन्तु रीति-रीवाज पुराने ही रहे, तो उस जाति का भविष्य भी अन्धकारमय हो जाता है। अतः युग-परिवर्त्तन के साथ ही आदर्श-परिवर्तन और फिर आचरण-परिवर्त्तन आवश्यक है। वर्ण-व्यवस्था प्राचीन समय के लिये सही थी; परन्तु आज की परिस्थिति में यह समाज का कोढ़ बन चुकी है।

अतः हम पाते हैं कि ऊपर दिये कारणों से नैतिक आदर्श न तो निरपेक्ष

माने जा सकते हैं और न सार्वभौम ही। फिर भी यह निरर्थक नही है; इसकी उपादेयता है।

हम बहुत ही सीमित रूप मे इसे मान सकते हैं। पौलसन के मतानुसार "जहाँ तक सभी मनुष्यों के स्वभाव और जीवन में कुछ मौलिक समताएँ हैं, वहीं तक सुन्दर जीवन के लिये भी कुछ सार्वभौम एवं मौलिक नियमो को हम मान सकते हैं।" १

एक अँगरेज और एक हब्सी की परिस्थिति में अन्तर होने के कारण उनकी भोज्य-सामग्री में भी अन्तर है। एक प्रकार का खाना दोनो के लिये उपयुक्त नहीं हो सकता। फिर भी, जहाँ-तहाँ दोनों में मौलिक समताएँ हैं। कुछ चीजें तो समान रूप से दोनों के लिये आवश्यक हैं। जैसे, चाहे वे कुछ भी खायँ, उनके खाने में **Albumen, fats, water, carbo-hydrates** आदि तो चाहिये। यही बात नैतिकता के सम्बन्ध मे भी है। आचरण में भेद रहने पर भी कुछ सामान्य और सार्वभौम नियम तो होंगे ही। उदाहरण के लिये, हम कुछ नियमो को ले सकते हैं। यह स्वाभाविक है कि मनुष्य को बच्चो के पालन-पोषण की बहुत आवश्यकता होती है। अतः कोई किसी भी देश अथवा युग का क्यों न हो, उसके लिये यह नैतिक है कि अपने बच्चे की यथोचित देखभाल करे। इसी प्रकार किसी भी समाज के लिये, चाहे वह कितना भी क्रूर क्यो न हों, यह नैतिक है कि आपस में वह संगठित होकर रहे। कम से-कम पारस्परिक झगड़ा न हो। यह हर युग और देश के लिये सत्य है। आप आसाम के नागाओं को लें। वे नर-मुण्ड के पिपासित होते हैं। परन्तु अपने समाज में वे कभी भी एक दूसरे की हत्या नहीं करते।

---

१ "In so far, namely, as there are certain fundamental similarities in the nature and life conditions of all human beings, in so far there will be certain universally valid fundamental conditions of healthy life" — A System of Ethics; page—20

अतः इस सीमित अर्थ में ही हम सार्वभौम नैतिक नियमों की चर्चा कर सकते है।

नैतिक सापेक्षवाद

ऊपर दिये गये कारणों के आधार पर नैतिक सापेक्षवाद मानता है कि हमारे नैतिक आदर्श निरपेक्ष हो ही नहीं सकते। उन्हें देश-काल की परिधि में रहना ही होगा। सामान्य नियमों के निरूपण और प्रयोग के पहले हमें परिस्थितियों पर ध्यान रखना ही होगा। हम कहते हैं, "अपने पड़ोसी के साथ न्याय और सहानुभूतिपूर्ण बर्ताव करो।" परन्तु क्या यह एक अँगरेज और एक हब्सी के लिये समान रूप से ही है? स्पष्ट है कि इन नियमों के मानने पर भी उनके जीवन के अनुकूल ही उनके व्यावहारिक आचरणों में भी अन्तर आयेगा ही। हम मानते हैं कि सभ्य समाज के लिये एकपत्नीत्व विवाह (Monogamy) सर्वश्रेष्ठ है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि हर युग और हर देश के लिये यह सही माना जायगा। पिछड़ी जातियों की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए हमें मानना होगा कि शायद उनके लिये बहुत-पत्नीत्व ही (Polygamy) आवश्यक है। हमें तो यहाँ तक मानना होगा कि 'परिवार' के विकास के लिये बहु-पत्नीत्व उतना ही स्वाभाविक और आवश्यक था, जितना नियम के विकास के लिये पारस्परिक मारपीट और हत्या।

इन सबोका अर्थ है कि भिन्न-भिन्न युग में नैतिक आदर्श भी विभिन्न प्रकार के होते हैं। आज का व्यक्ति प्राचीन युग के रीति-रिवाजो को देखकर उनकी खिल्ली उड़ाता है। परन्तु यदि उस युग की समस्याओं पर दृष्टिपात करें, तो वे बिल्कुल सही साबित होंगे। विभिन्नताएँ तो जाति के सम्बन्ध में हैं। व्यक्तियों की परिस्थितियाँ भी अलग-अलग होती हैं। जो खाना एक व्यक्ति के लिये पथ्य होता है, वही खाना दूसरे के लिये कुपथ्य साबित होता है। दो व्यक्ति अलग-अलग हत्या करते हैं। परन्तु दोनों की परिस्थितियों में अन्तर होता है। हो सकता है, एक ने जानबूझ कर हत्या की हो और दूसरे ने

आत्म-रक्षा में। इसलिये व्यक्तियों के आचरण के मूल्यांकन के समय हमें उनकी परिस्थितियों को देखना अनिवार्य है।

इस प्रकार नैतिक सापेक्षवाद ही सही है।

दोनों में सही कौन ?

इतना तो मानना ही होगा कि निरपेक्षवाद सही नहीं है, परन्तु नैतिक सापेक्षवाद सिद्धान्त-रूप में सही लगने पर भी व्यावहारिक रूप में उचित नहीं जान पड़ता। यदि इसे सही मान लिया जाय, तो हर व्यक्ति अपने कार्यों की व्याख्या अपनी परिस्थिति के आधार पर करना आरम्भ कर देगा। नैतिकता का मापदण्ड कोई नियम या आदर्श नहीं रह जायगा; वरन् व्यक्ति स्वयं होगा। मनुष्य स्वभावतः स्वच्छन्द होता है। यदि एक बार उसे छूट मिल जाती है, तो वह और भी अधिक छूट पाने की कोशिश करता है। इस प्रकार सामान्य नियमों के अभाव में हर व्यक्ति मनमानी करना आरम्भ कर देता है, जो अन्त में समाज के लिये और फिर उस व्यक्ति के लिये भी बाधक सिद्ध होगा। इसी स्वभाव की चर्चा करते हुए पालसन ने कहा है—

"व्यक्ति की यह स्वाभाविक मांग होती है कि उसकी विशेष आदत, परिस्थिति, स्वभाव एवं उसके सामाजिक पद का ख्याल कर उसके आचरण को अपवाद मान लिया जाय। उच्च नैतिकता के विपरीत होते हुए भी उसका आचरण समाज की दृष्टि में एवं उसकी अपनी दृष्टि में क्षम्य मान लिया जाय"।[१] परन्तु यदि वही व्यक्ति दूसरे के आचरण का मूल्यांकन करता है, तो अपवाद की रत्ती भर भी गुंजाइश मानने को तैयार नहीं होता। अतः व्यक्ति अपने लिये तो नैतिक सापेक्षवाद मानता है; पर दूसरों के लिये नैतिक निरपेक्षवाद।

---

१. "Indeed the individual is very apt to demand that an exception be made in his case, on the ground of his special nature and circumstances, his temperamental and his social position, and to excuse his

यही कारण है कि प्राचीन काल से ही सिद्धान्तो ने-नैतिकता-की सार्वभौमिकता पर जोर दिया है। मेरी दृष्टि मे भी यह सही है। सिद्धान्त-रूप में दोषपूर्ण होते हुए भी व्यवहार के लिये हमे इन नियमो की पवित्रता को मानना ही है। सिर्फ इतना ही ध्यान रखना है कि नैतिक निर्णय देते समय हम परिस्थिति को न भूले। अतः नैतिकता की सार्वभौमिकता आवश्यक है। साथ ही, उसके प्रयोग में संयम बरतने की आवश्यकता है। इस प्रकार इन दोनो ही सिद्धान्तो के अपने-अपने दोष और गुण हैं।

---

conduct before others and before his own concience, without, however, being justified from the standpoint of higher morality".

—A System of Ethics; page–23

—o—

आठवाँ अध्याय

वाह्य-नियमवाद

External Law as Standard

इस मत के अनुसार वाह्य-नियम के अनुकूल आचरण करना ही नैतिकता है। हमारे सामने सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक नियम होते हैं, जो हमपर बाहर से बिना हमारी इच्छा का ख्याल किये हुये लाद दिये जाते हैं। इस नियम के अनुसार अगर हम अन्ध विश्वासपूर्वक कार्य करते जायँ, तो हमारा काम उचित (Right) कहा जायगा अन्यथा अनुचित (wrong)। इस प्रकार उचित या अनुचित का समावेश कार्यों में नहीं होता, वह तो नियम-पालन में होता है।

प्रश्न होता है कि इन नियमों को हम मानें ही क्यों ? इनकी अनुज्ञप्तियाँ (Sanctions) क्या हैं ? इसके उत्तर में उनका कहना है कि मनुष्य अपूर्ण हुआ करता है, जब तक उसे अपने से शक्तिशाली मनुष्य की रोक नहीं पड़ती। वह अपनी शक्ति का दुरुपयोग न कर पाये, इसलिये आवश्यक है कि उसपर अंकुश हो। स्पष्ट है कि यह अंकुश उससे अधिक शक्तिशाली होना चाहिये। सामाजिक, धार्मिक या राजनैतिक नियमों के पीछे महान शक्ति रहती है, जिसका सामना साधारणतः कोई नहीं कर सकता। इसलिये एक ओर तो उसे डर (fear) लगा रहता है कि इसके उल्लंघन में उसे व्यक्तिगत हानि उठानी पड़ेगी। दूसरी ओर, वह यह भी जानता है कि इसके पालन करने पर वह पुरस्कृत होगा। अतः दण्ड (Punishment) और पुरस्कार (Reward) ये ही दोनों इसकी प्रबल अनुज्ञप्तियाँ हैं, जिनके कारण हम अपनी इच्छा के प्रतिकूल भी इन वाह्य-नियमों का पालन करते हैं।

वाह्य-नियम तीन प्रकार के होते हैं—१ ईश्वरीय नियम (Divine

Law); २–राजनैतिक नियम (Political Law) और ३–सामाजिक नियम (Social Law)। इन्हें हम एक-एक कर बाद में देखेंगे।

बाह्य-नियमवाद की आलोचना

१–कोई भी कानून किसी मूर्त्त या ठोस (Concrete acts) कार्य को नहीं आँक सकता। कोई कार्य या आचरण मूर्त्त (Concrete) और विशेष (Particluar) होता है; लेकिन नियम अमूर्त्त (Abstract) और सामान्य (General) होता है। अतः सामान्य नियम उस विशेष काम के हर पहलू को आँक ही नहीं सकता। दूसरी बात है कि एक काम के भिन्न-भिन्न अंग या हिस्से होते हैं, जो अलग-अलग नियमों के अन्तर्गत आते हैं। हम यह भी जानते हैं कि किस प्रकार एक कानून दूसरे कानून को काटता है। इस प्रकार एक काम का मूल्यांकन करने के समय हो सकता है कि नियमों में ही झगड़ा उठ खड़ा हो। फिर इस परिस्थिति में हम किस नियम को मानेंगे। अतः नियम मापदण्ड नहीं हो सकता।

२–स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति नैतिकता का प्राण है। अगर यह नहीं, तो फिर नैतिकता की बातें करना ही मूर्खता है। जिस काम को हम दण्ड या पुरस्कार के कारण करते हैं, उसका मूल्य ही क्या ? यह काम बुद्धिमानी (Prudent) का भले ही हो, सद्गुण (Virtue) का नहीं हो सकता है। अतः इसके मानने पर नैतिकता की कमर टूट जाती है।

३–जैसाकि हमने देखा, नियम सिर्फ मार्ग है, साधन है—लक्ष्य तो हो नहीं सकता। नीति-शास्त्र की खोज का विषय है, चरम आदर्श (Highest good)। लेकिन, यहाँ तो नियम को ही आदर्श मान लिया जाता है; साधन को ही साध्य मान लिया जाता है।

४–नियम साधारण व्यक्तियों पर ही लादे जा सकते हैं; बुद्धिमान या विवेकपूर्ण पुरुषों पर नहीं। किसी अपने से बड़ी शक्ति की आज्ञा हम सिर्फ इसीलिये मानें; क्योंकि वह एक महान् सत्ता है—इससे बढ़कर अनैतिक कार्य (Immoral) क्या हो सकता है ? अगर यही सत्य हो, तो फिर ब्रूनो

(Bruno), गाँधी (Gandhi), सुकरात (Socrates) आदि ने नियम का उल्लंघन कर जो कुर्बानी दी, क्या वह सब व्यर्थ ही है ? अतः यह मत भी सही नहीं।

५—ऊपर की आलोचनाओं को देखकर यह मानना कि नियम, डर (Fear) या पुरस्कार (Reward) का नैतिकता में कोई स्थान होता ही नहीं, भ्रामक है। वे नैतिकता की यथार्थ अनुज्ञतियाँ तो कभी नहीं हो सकते; पर हमें सोये हुये से सिर्फ एक बार जगा सकते हैं। जिस प्रकार ह्यूम (Hume) के संशयवाद ने काण्ट (Kant) को धक्के देकर उसे अपने लिये नये रास्ते खोजने को मजबूर किया, उसी प्रकार नियम भी व्यक्ति को चेतावनी तक दे सकते हैं, साध्य नहीं बन सकते।

डी'आर्की के अनुसार "छड़ी या मार के डर से कोई मुर्दा-दिल गुलाम अपने से पूछता है कि वह इस तरह भय से क्यों काँपता रहता है ? यदि उसके अन्तर्ज्ञान का उदय हो चुका है, तो उत्तर होगा कि वह इसलिये नहीं डरता कि उसके मालिक के पास शक्ति है, वरन् इसलिये कि उसने गलती की है।"[१]

अतः इन बाह्य नियमों का भी जीवन में कुछ स्थान अवश्य है; परन्तु वे हमारे आदर्श नहीं हो सकते।

यह तो हुई बाह्य-नियमवाद की सामान्य आलोचना। अब हम इसके अन्तर्गत प्रत्येक नियम को अलग-अलग देखेंगे।

ईश्वरीय नियम
Divine Law

इस मत के अनुसार नियम तो नैतिकता के मापदण्ड हैं ही, वे नियम

---

[१] "Dread of the lash will make the apathetic slave-heart ask, why am I thus made to trouble ? And, the moment conscience awakes, the answer must be, not because he has power, but because I have done wrong." —A Short Study of Ethics; page—130

ईश्वरीय या धार्मिक भी हैं। उन निममो को मानते हुये कार्य करने पर वह कार्य उचित कहा जायगा और उनको तोड़ने पर अनुचित। यहाँपर प्रश्न उठता है, यदि ये नियम ईश्वर द्वारा बनाये गये हैं, तो फिर इन्हें हम जानते कैसे हैं? इसके उत्तर मे इन मतावलम्बियो में विभिन्नता है। कुछ लोगोके अनुसार ये नियम धर्मग्रंथों (वेद, कुरान, बाईबुल) में दिये गये हैं। वे सभी पुस्तके ईश्वर द्वारा ही रचित हैं। काण्ट, काल्डरउड (Calderwood), कम्बरलैण्ड (Cumberland), पेली (Paley) आदि विचारकों के मत में ऐसे तो ये नियम धर्मग्रन्थो में दे दिये गये हैं; परन्तु यदि कभी ऐसे नियमो का अभाव हो, तो हमे अनुभव से काम लेना चाहिये।

इस सिद्धान्त के माननेवालो मे से यहाँ हम सिर्फ डेस्कार्ट (Descarts), लौक (Looke) और पेली के मतों को देखेगे।

डेस्कार्ट [१५९६–१६५०]

डेस्कार्ट के अनुसार ईश्वर ही मूल पदार्थ (Primary substance) है; बाकी चीजे तो गौण हैं और उनका अस्तित्व ईश्वर पर ही आधारित है। सिर्फ ईश्वर ही ऐसी सत्ता है, जिसका अस्तित्व या स्वभाव अन्य किसी चीज पर आधारित नही। डेस्कार्ट के अनुसार "यह स्पष्ट है कि विश्व मे ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसका अस्तित्व ईश्वर पर निर्भर न हो। वस्तुओ का तो पूछना ही क्या, कोई भी अस्तित्व, नियम, सत्य अथवा शुभ ऐसे नहीं, जो ईश्वर पर निर्भर न हो।"[१] कहना न होगा कि इस प्रकार नैतिक नियमों का श्रेय भी ईश्वर को ही दे दिया जाता है।

"It i. manifest that there can be nothing which does not depend on Him, not only no existent thing, but no order, no law, no g ound of truth or goodness. (Descarts)

लॉक [१६३२-१७०४]

इनके अनुसार—"नैतिक शुभ और अशुभ हमारी ऐच्छिक क्रियाओं का किसी नियम के साथ सामंजस्य अथवा असामंजस्य होने से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार शुभ या अशुभ, नियामक की शक्ति एवं इच्छा से कर्त्ता पर लाद दिये जाते हैं।"१ लेकिन जहाँ हाव्स इन नियमो को राजनैतिक नियम ही मानता है, लॉक उन्हें राजनैतिक और सामाजिक नियमो से बिल्कुल भिन्न मानता है।

सिजविक ने इसकी चर्चा करते हुये (History of Ethics) मे लिखा है कि लॉक इन नियमो को ईश्वरीय नियम ही मानता है और बहुत ही सावधानीपूर्वक इन्हें राज्य-नियम और सामाजिक नियम से अलग करता है।२ "लॉक का विचार आगे चलकर और भी स्पष्ट हो जाता है, जब वह नैतिकता की अनुशक्तियो की चर्चा करता है। उनके अनुसार—नैतिकता का सही रूप तो ईश्वर की इच्छा और उसके नियम में मिलता है। उसके हाथों में पुरस्कार, दण्ड और शक्ति रहते हैं, जिसके फलस्वरूप वह महा शक्तिशाली मनुष्यों को भी नियमों का उल्लंघन करने के लिये दण्ड दे सकता है।" ३

इस प्रकार लॉक ईश्वरीय नियम को ही नैतिकता का मापदण्ड समझता था।

"१. Moral good or evil are only the confirmity or disagreement of our voluntary actions to some law, where by good and evil is drawn as from the will and power of the law-maker." (Locke)

२. "The aggregate of such rules he (Locke) conceives as the law of God-carefully distinguishing it, not only from civil law, but from the law of opinion or reputation".

3. "The true ground of morality can only be the will and law of a God, who sees man in the dark,

पेली [१७४३-१८०५]

पेली अपनी पुस्तक Principles of Moral and Political Philosophy में दायित्व (Obligation) की व्याख्या करते हुए लिखता है—"दायित्व दूसरों की आज्ञा के फलस्वरूप एक बहुत ही प्रभावशाली प्रेरणा के कारण उत्पन्न होता है।"१. फिर आगे उसका कहना है—"नैतिक दायित्व के क्षेत्र में यह आज्ञा ईश्वर की ओर से होता है और इसके पालन की प्रेरणा पुनर्जन्म में पुरस्कार की आशा अथवा दण्ड के भय से मिलती है।"२

इस प्रकार इन लोगोंके अनुसार ईश्वरीय नियम के पालन करने पर ही हमारे कार्य उचित कहे जायँगे। पेली के कथन से स्पष्ट हो जाता है कि ये नियम भी दण्ड और पुरस्कार की व्यवस्था द्वारा लागू किये जाते हैं। यहाँ हम नरक के भय और स्वर्ग के लोभ में पड़ जाते हैं। साथ ही पुनर्जन्म में खुशी होने की बात भी तो रहती है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है कि नियम ईश्वर की स्वेच्छा (Arbitrary) से बनते-बिगड़ते हैं। वह चाहे, तो उचित को अनुचित और अनुचित को उचित कर सकता है।

ईश्वरीय नियमवाद की आलोचना

१. स्पष्ट है कि सिर्फ शक्ति के सामने घुटने टेक देना चाहे, वह

---

has in his hands rewards and punishment and power enough to call to account the proudest offender".

१. "Obligation is being urged by a violent motive resulting from the command of another".

२. "In the case of moral obligation, the command proceeds from God, and the motive lies in the expectation of being rewarded and punished after the life".

शक्ति सबसे बड़ी शक्ति ही क्यों न हो, कभी नैतिक नहीं हो सकती। इसलिये ईश्वरीय नियम को सिर्फ आज्ञा या कानून मात्र मानकर चलना उचित नहीं। इन मतावलम्बियों के अनुसार दण्ड के भय और पुरस्कार के लोभ मे इसको मानना बुद्धिमानी कहा जा सकता है, सद्गुण नहीं।

२. एक प्रश्न पूछा जा सकता है कि ईश्वरीय नियम की बुनियाद (**authority**) क्या है? अगर इसका आधार सिर्फ एक अलौकिक (**supernatural**) शक्तिशाली सत्ता का हुक्म मात्र हो, तो यह अनिवार्य हो जाता है, आदर्श नहीं; अगर ईश्वर स्वयं नेक नहीं, तो उसका नियम सिर्फ उसकी शक्ति के बल पर लागू नहीं किया जाना चाहिये। लेकिन यह पूछना, कि ईश्वर नेक है या नहीं, का अर्थ होता है कि हम एक ऐसे नियम मे विश्वास करते हैं, जो ईश्वर से भी श्रेष्ठ है और जिसके आधार पर हम ईश्वर को नेक होने का निर्णय करते हैं। अतः चाहे तो ईश्वरीय नियम अन्तिम आदर्श नहीं हो सकता अथवा उसके डर से मनाना नैतिक नहीं हो सकता।

३. संसार में भिन्न-भिन्न प्रकार के धर्म हैं। यह मनुष्य का दुर्भाग्य है कि एक ही ईश्वर में विश्वास करने पर भी वे व्यवहार में एक-दूसरे पर कीचड़ उछालते हैं। जिस कार्य को एक धर्म अच्छा समझता है, उसे-ही दूसरा निन्दनीय समझता है। इसकी जड़ में, धर्म पर आर्थिक नीति का प्रभाव है। खैर, यह तो विवादास्पद है, लेकिन इस हालत मे धार्मिक नियम को आदर्श कै माना जाय?

४. जब आपस में नियम मे ही झगड़े उठ खड़े हुए, तभी तो कर्त्तव्य निर्धारण के लिये धर्मलेखों (casuistry) का प्रादुर्भाव हुआ। एक ही मत को लेकर विद्वान और पण्डित लोग उसकी व्याख्या अपने-अपने ढंग से करने लगते हैं। फिर एक सर्वसाधारण तो उस झमेले में पडकर और भी अपना मार्ग खो देता है। अतः इस वितण्डावाद मे किस नियम को अपनाया जाय, यही निर्णय कठिन हो जाता है।

५. शताब्दियों से असंख्य मनुष्य बिना किसी नैतिक सिद्धान्त को जाने हुए और उसकी चिन्ता किये हुए मर गये। वे लोग श्रमिक थे, नीति-शास्त्र के पण्डित नहीं। "स्वार्थ ही जीवन का लक्ष्य होना चाहिये," या बिना और किसी दार्शनिक सिद्धान्त को जाने हुए ही उन्होंने परिवार और समाज और वर्ग के लिये त्याग किया। स्वर्ग की की भी परवाह न करके उन्होंने पृथ्वी पर ही अपने सुनहले स्वप्न को सत्य बनाने के लिये जीवन और परिस्थिति से संघर्ष किया। फिर भी ईश्वरीय नियमवादवालों का कहना है कि बिना ईश्वरीय नियम का पालन किये हुए मनुष्य मनुष्य हो ही नहीं सकता। यह एक आश्चर्य है। कर्त्तव्य के लिये तो मानुषिक सहानुभूति (Human warmth) और दया (compassion) ही काफी हैं। अतः ईश्वरीय नियम हमारे आदर्श नहीं हो सकते।

राजनैतिक नियम
(Political Law)

इसके प्रतिपादकों में सबसे प्रमुख स्थान (Hobbs) हॉब्स (१५८८—१६७९) का है। उसके अनुसार मनुष्य स्वार्थों के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। कोई भी मनुष्य सिर्फ अपने को ही प्यार करता है। दूसरों की परवाह इसलिए करता है कि इससे उसका अपना फायदा हो। जहाँपर एक-एक व्यक्ति स्वार्थी है, "वहाँ तो हर समय भय और मृत्यु का खतरा लगा ही रहता है और मनुष्य का जीवन एकान्त, निर्धन घृणित, दानवी और अल्पायु होता है।" इसलिए शान्ति के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपने व्यक्तिगत अधिकार को किसी एक मनुष्य या एक शासन के हाथ में सौंप दे। फिर भी, उसी शासन-सूत्र द्वारा बनाये गये राजनैतिक नियमों को मानना ही उसका आदर्श होना चाहिए। जिस नियम को तोड़ने से राज्य-नियम का उल्लंघन हो, वह काम अनुचित (wrong) है। इसलिए उन्हीं नियमों के पालन करने में नैतिकता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इसके लागू करने के भी आधार दण्ड और पुरस्कार ही हैं।

राजनैतिक नियम की आलोचना

१. अन्य सभी बाह्य नियमो की तरह यहाँ भी स्वतंत्र इच्छा-शक्ति (Freedom of will) का अभाव है। उन नियमों को हम इच्छापूर्वक नहीं मानते, वरन् पुरस्कार के लोभ और दण्ड के भय से मान लेते हैं। अतः यह चतुराई है, नैतिक नहीं।

२. राज्य के नियम तो राज्य के आदर्शों की प्राप्ति के लिए होते हैं। सरकार के अनुकूल ही नियम बनाये जाते हैं। ये नियम तो सिर्फ साधन हैं। अतः यहाँ साधन को ही साध्य मान लिया गया है।

३ यदि हाब्स का यह कहना मान भी लिया जाय कि अति प्राचीन काल मे जनता की संविदा (contract) के फलस्वरूप ही राज्य-निर्माण हुआ, तो इसका यह अर्थ नहीं कि राज के भ्रष्ट होने पर भी लोग कानून का उल्लंघन न करें। इस परिस्थिति मे तो हर नागरिक का यह हक ही नहीं, वरन् कर्त्तव्य भी है कि वह भ्रष्ट सरकार को उखाड़ फेंके, चाहे वह कानून तोड़ने से ही क्यो न हो। परन्तु राजनीतिक नियम के मानने पर यह सम्भव नहीं।

४. व्यक्ति का जीवन सिर्फ राजनीति-सम्बन्धी बातों तक ही सीमित नहीं रहता। जीवन के अन्य भी महत्त्वपूर्ण अंग हैं, जहाँ तक राजनीतिक नियमो की पहुँच नहीं होती। अतः सफल जीवन के लिए वे गलत होते हुए अधूरे भी हैं।

सामाजिक नियम
(Social Law)

इसके अनुसार समाज की राय, रीति और रिवाज ही नैतिकता के मापदण्ड हैं। हर व्यक्ति किसी-न-किसी समाज का सदस्य होता है। उसके

---

१. "There is continual fear and danger of violent death, and the life of man solitary, poor, nasty, brutish and short."

विकास, रहन-सहन, आदि में समाज का बहुत बड़ा हाथ होता है। अतः इन सबोंके बदले मे समाज चाहता है कि उसके सदस्य उस समाज के नियमो को मानें। ये नियम कुछ लिखित नहीं होते, वरन् रीति-रिवाजों द्वारा ही प्रचलित रहते हैं। उन्ही नियमों को मानकर कार्य करने को 'उचित' कहेंगे अन्यथा 'अनुचित'। इस प्रकार कार्यों का औचित्य उसे करने मे नहीं है, वरन् नियम-पालन में है।

अन्य नियमो की तरह समाज के हाथो मे दण्ड और पुरस्कार के हथकण्डे भी रहते हैं। जो व्यक्ति इन नियमो को मानता है, समाज उसे इज्जत प्रदान करता है। जो इसका उल्लंघन करता है, समाज भी उसका वहिष्कार करता है। अतः ये नियम भी दण्ड और पुरस्कार द्वारा लागू किये जाते हैं।

सामाजिक नियम की आलोचना

१. यहाँ भी स्वतंत्र इच्छा-शक्ति का अभाव है।

२. सामाजिक नियम अत्यन्त ही परिवर्त्तनशील होते हैं। एक ही समय में भिन्न-भिन्न समाज के अलग-अलग नियम होते हैं। फिर एक ही समाज का नियम, जो एक युग मे होता है, दूसरे युग में परिवर्त्तित हो जाता है। ऐसी परिस्थिति मे इन नियमो को आदर्श कैसे माना जाय?

३. समाज के प्रचलित नियम साधारण तथा विवेकपूर्ण नहीं होते। सिर्फ परम्परा और अन्धविश्वास के नाम पर ही नियम चलते रहते हैं। इन मे से अधिकाश तो समाज के लिए हानिकारक ही होते हैं। अतः कभी-कभी तो इन नियमो के पालन के बदले इनका तोड़ना ही हमारा आदर्श हो जाता है।

४. ये नियम तो आलोचना के विषय हैं। देखा जाता है कि सामाजिक हित के लिए ये नियम अच्छे हैं या बुरे। अतः जो स्वयं ही नैतिक निर्णय का विषय है; हमारा आदर्श कैसे हो सकता है?

नवाँ अध्याय

सुखवाद

(Hedonism)

भूमिका:—सुखवाद नीति-शास्त्र का एक प्राचीनतम सिद्धान्त है। सुखवाद का प्रयोग उन सभी सिद्धान्तों के लिए किया जाता है, जो सुख को ही जीवन का सर्वोपरि आदर्श मानते हैं। मनुष्य की ऐच्छिक क्रियायें (Voluntary actions) सदा ही किसी ध्येय या आदर्श-प्राप्ति के लिए की जाती हैं। जीवन में आदर्श तो बहुत हो सकते हैं; लेकिन सर्वोपरि आदर्श (Supreme end) एक ही होता है। बाकी छोटे-मोटे आदर्श (Instrumental good) तो इसी सर्वोपरि आदर्श के साधन-मात्र होते हैं। मान लीजिये, कोई गरीब आदमी रुपये के अभाव में नाना प्रकार के कष्ट सहता है। यहाँ उसका आदर्श रुपये प्राप्त करना होता है। लेकिन इसे हम सर्वोपरि आदर्श नहीं कह सकते। रुपया तो वह इसलिए चाहता है कि उससे उसे सुख प्राप्त हो। इस प्रकार सुखवादियों के अनुसार हमारे सभी कार्य सुख-प्राप्ति के लिए ही किये जाते हैं। अतः सुख हमारे जीवन का सबसे बड़ा आदर्श है। सुखवादी विचारक मिल का कहना है, "हमारे कार्य जिस अनुपात में सुख उत्पन्न करते हैं, उसी अनुपात में उचित हैं और फिर जिस अनुपात में सुख का उल्टा उत्पन्न करते हैं, अनुचित हैं।" १

इस सिद्धान्त की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें मनुष्य के बौद्धिक पक्ष

---

१. "Actions are right in proportion as they tend to produce happiness, wrong as they tend to produce the reverse of happiness."

Utilitarianism; page—9-10.

(Rational aspect) की अपेक्षा ऐन्द्रिक पक्ष (Sensible aspect) को ही प्रधान मान लिया गया है। भाव (Feeling) को बुद्धि का सबसे प्रमुख कार्य माना गया है। इसीलिए सुखवाद को नीति का आत्मनिष्ठ मापदण्ड (Subjective Standard) माना जाता है। यह तो आत्मगत भाव को ही आदर्श की कसौटी मान लेना है।

सुखवाद की विभिन्नताएँ

(Varieties of Hedonism)

हम आरम्भ ही में देख आए हैं कि सुखवाद मनुष्य की प्रेयाभिमुखी प्रकृति का एक सामान्य नाम है। वस्तुतः इस प्रकृति के अलग-अलग अनेक रूप हैं। कतिपय विचारकों के अनुसार मनुष्य का निर्माण ही इस प्रकार का है कि वह जीवन में सुख ही चाहता है। मानवीय इच्छा का विषय एकमात्र सुख ही है। यहाँ आदर्श विषय और प्रकृत विषय में भेद नहीं। प्रकृत विषय और आदर्श विषय अभिन्न हैं। दूसरे लोग मानते हैं कि सुख हमारा आदर्श है। हमें सुख प्राप्त करना 'चाहिए'। पहले मत को मनोवैज्ञानिक सुखवाद (Psychological Hedonism) और दूसरे को नैतिक सुखवाद (Ethical Hedonism) कहते हैं।

नैतिक सुखवाद के भी विभिन्न रूप हैं। कुछ लोगोंके अनुसार व्यक्ति (Individual) के लिए व्यक्तिगत सुख (Individual pleasure) ही आदर्श होना है। किन्तु दूसरों के अनुसार समष्टिगत सुख ही अभिष्ट होना चाहिए? पहले मत को 'स्वार्थमूलक सुखवाद (Egoistic Hedonism) और दूसरेको परार्थमूलक (Attruristic Hedonism) कहते हैं। इस प्रकार के सुखवाद को उपयोगितावाद (utilitarianism) भी कहते हैं। इन सबोंके भी अन्य प्रकार हैं, जिन्हें हम प्रत्येक के अध्ययन के सिलसिले में ही देखेंगे।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद
(Psychological Hedonism)

जहाँ मनोवैज्ञानिक सुखवाद सिर्फ जीवन की तथाकथित वास्तविकता का वर्णन मात्र है, वहाँ नैतिक सुखवाद एक पग आगे बढ़कर जीवन के आदर्श-निष्ठ सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद का विश्वास है कि मनुष्य का निर्माण ही इस प्रकार का हुआ है कि मनुष्य सुख के अतिरिक्त किसी अन्य चीज की इच्छा करता ही नहीं। मानव स्वभावतः सुख ही चाहता है। उसके सामने दूसरा कोई भी विकल्प हो ही नहीं सकता। इस मत के माननेवालों में बेन्थम (Benthem) और मिल (Mill) के नाम उल्लेखनीय हैं: यहाँपर हम उन दोनों के एक-एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। Benthem का कहना है कि "प्रकृति ने मनुष्य को सुख-दुःख नामक दो प्रमुख प्रभुओं के अधिकाराधीन बना दिया है...जो इस परतन्त्रता से निवृत होने का साहस करता है, वह इतना भी नहीं जानता कि वह स्वयं क्या करता है। (उसे अपने अभिप्राय का भी ज्ञान नहीं है।)"१

स्पष्ट है कि इस मतानुसार मनुष्य सुख-प्राप्ति और दुःख-परित्याग के अतिरिक्त और किसी भी प्रेरणा से प्रेरित हो ही नहीं सकता है। मिल महोदय ने इसे और भी बढ़ा चढ़ाकर कहा है—"वस्तु की कामना और उसे सुखप्रद पाना एवं वस्तु के प्रति परांगमुखता और उसे दुःखप्रद पाना नितान्त अविभेज्य घटनाएँ हैं।" २ इसप्रकार इन्होंने भी ऐच्छिक क्रियाओं के लिए सुख-प्राप्ति की इच्छा को ही एकमात्र प्रेरणा माना है।

१—Benthem "Nature has plcaed man under the governance of two sovereign masters, pain and pleasure...He who pretends to withdraw himself from this subjection knows not what he says
—Principles of Legislation; Page. 1–2.

२. "Desiring a thing and finding it pleasant, aversion to it and thinking of it as painful are

इस सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से रखने के लिए जोड १ महोदय ने दो उदाहरणों का सहारा लिया है। यहाँ हम उन्हींमे से एक को देखेंगे। ऊपर से देखने से यह उदाहरण इस सिद्धान्त का खंडन करता हुआ मालूम पड़ता है। लेकिन सुखवादी इसका विश्लेषण अपने ढंग पर करके अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि करना चाहते हैं।

मान लीजिये, ललित और ललिता भाई-बहन हैं। किसी पर्व के अवसर पर इनके माता-पिता ने दोनों को पाँच-पाँच रुपये दिए। ललिता ने इन रुपयों को अपने ऊपर खाने-पीने मे खर्च कर लिया और फलस्वरूप बीमार भी हो गई। इसके लिए उसे माता-पिता ने बहुत फटकारा। लेकिन ललित ने उन रुपयों को अपने ऊपर खर्च न करके माता-पिता के लिए उपहार की वस्तुएँ खरीद लीं। इस कारण घर मे उसकी काफी प्रशंसा हुई। ललिता को स्वार्थी और ललित को निःस्वार्थी कहा गया।

अब ललित के काम को देखने से पता चलता है कि उसने अपने सुख का परित्याग किया और दूसरो के सुख को प्रधान माना। अतः इसका यह काम मनोवैज्ञानिक सुखवाद के प्रतिकूल होता है; क्योंकि उनके अनुसार हर मनुष्य अपना सुख चाहता ही है; इसका अपवाद नही हो सकता है।

पर, सुखवादियों ने इस उदाहरण को दूसरी ही तरफ से देखा है। उनका कहना है कि यह तो उनके सिद्धान्त को और भी मजबूत बनाता है। सर्वप्रथम ललित एक चतुर बालक है। वह दूरदर्शी है। वह जानता है कि उसके माता-पिता पैसेवाले हैं और यदि उसने उन्हे खुश करके रखा, तो उसे भविष्य मे अधिक पैसे और प्यार मिला करेंगे। अतः वस्तुतः उसने सुख का परित्याग नहीं किया, वरन् अधिक सुख-प्राप्ति के लिए एक सुन्दर तरीका अख्तियार किया।

---

phenomena entirely inseparable".

Utilitarianism; page—58

१ Guide to the Philosophy of Morals and Ethics; page—397

दूसरी बात है कि छोटे-छोटे बच्चे अपनी प्रशंसा के लिए व्यग्र रहते हैं। इसके लिए उन्हें थोड़ा कष्ट भी उठाना पड़े, तो उसकी परवाह नहीं करते। उनकी प्रशंसा उनके लिए सबसे अधिक सुखप्रद है; अतः ललित ने माता-पिता से प्रशंसा के रूप में सुख पाना अधिक उत्तम समझा।

पुनः यदि थोड़े समय के लिए मान भी लिया जाय कि ललित दयालु और निःस्वार्थी है, तथापि इससे इस सिद्धात की पुष्टि ही होती है। दयालुता का साधारणतया अर्थ है दूसरों को सुख प्रदान करने की इच्छा। अपनी इच्छा-पूर्त्ति को सुख प्रदान करने से भी सुख प्राप्त होता है। अतः यदि कोई दयालु आदमी दूसरों को सुख पहुँचाता है, तो वस्तुतः वह अपनी इच्छा की पूर्त्ति कर सुख प्राप्त करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ललित वस्तुतः सुख का परित्याग नहीं करता, वरन् सुख की कामना रखते हुए काम करता है।

संक्षेप में यही मनोवैज्ञानिक सुखवाद है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद की आलोचना

(१) इसमें नैतिकता का अभाव है। इस सिद्धान्त में स्वतन्त्र संकल्प का कोई स्थान नहीं है। यदि हम अनिवार्यतः और स्वभावतः सुख ही चाहते हैं, तो फिर सुख प्राप्त करना 'चाहिए' का कोई अर्थ नहीं होता। हार्टमैन महोदय ने इसका खंडन करते हुए कहा है कि "इसे नीति की कोई आवश्यकता नहीं...'इति कर्त्तव्यता' का स्वभाविकता के समक्ष लोप हो जाना है।"[१]

(२) राश डौल-(Rash dall) महोदय का कहना है कि यदि मनोवैज्ञानिक सुखवाद सही होता, तो हम सभी बचपन में भूखों ही मर जाते और इस मत का कोई भी प्रचारक जीता न बचता। इस मत के अनुसार

---

१ "It has no need of Ethics.. ..."ought to be so" vanishes behind "it is so."

कार्य करने के लिए सुख के अतिरिक्त कोई प्रेरणा हो ही नहीं सकती। यदि ऐसा ही है, तो बच्चों के पैदा होने पर दूध पीने में कौन-सी प्रेरणा काम करती है। उसकी इच्छा सुख प्राप्त करने की है, ऐसा सोचना कल्पनातीत है। इसलिए इस सुख-प्राप्ति की इच्छा के अभाव में वह बच्चा कोई भी कार्य करने में असमर्थ होगा और फलस्वरूप उसकी मृत्यु हो जायगी।

(३) यह सिद्धान्त इस बात को मान लेता है कि हर कार्य के लिए एक प्रेरणा (Motive) अवश्य होती है। वह प्रेरणा है सुख की प्राप्ति। लेकिन हमलोग बहुधा आवेश में काम करते हैं। वहाँ प्रेरणा का स्थान नहीं होता है। स्नान-घर में बहुधा हमलोग गाना गाते रहते हैं। लेकिन वहाँ गाना सुख प्राप्ति के लिए नहीं होता है; हम क्रोध में आकर भोजन का थाल उलट देते हैं। इसलिये नहीं कि उससे सुख प्राप्त होता है, वरन् इसलिए कि तत्क्षण हम क्रोध के आवेश में रहते हैं। किसी बच्चे को अचानक नदी में डूबते हुए देखकर हम बिना कुछ सोचे-समझे अपनी जान की बाजी लगाकर उसमें कूद पड़ते हैं। आखिर क्यों? सुख-प्राप्ति के लिए? कदापि नहीं।

(४) यह सिद्धान्त गाड़ी के आगे घोड़ा रखने के बदले घोड़े के आगे गाड़ी रख देता है। सर्वप्रथम हमें किसी वस्तु का अभाव होता है, जिसके फलस्वरूप उसे प्राप्त करने की इच्छा होती है। इच्छापूर्त्ति होने पर उससे सुख उत्पन्न होता है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद का यह दोष है कि वह सुख को, जो सबसे अन्त में आता है, सबसे पहले रख देता है। इसे ही मैकेनजी ने 'Wants are prior to satisfaction' [१] कहा है।

मान लीजिए, हमें भूख लगती है। यह एक अभाव है। इसके लिए हमें खाने की इच्छा होती है। हम खाना इसलिए नहीं खाते कि इससे हमें बहुत सुख मिलनेवाला है। खाते समय तो हम सिर्फ अभाव की पूर्त्ति करना चाहते हैं। खाना खा चुकने के बाद हमें अवश्य ही सुख मिलता है। अतः

१—A Manual of Ethics; page—57

खाना खाने में सुख-प्राप्ति हमारे लिए प्रेरणा नहीं हुआ करती है। सुखवादियों का दोष है कि वे मान लेते हैं कि चूँकि खाना खाने से सुख मिलता है, इसलिए सुख ही के लिए हम खाना खाते हैं।

(५) इन विचारकों ने गौण कार्य (Bye-product) को ही उद्देश्य मान लिया है। सुख हमारा तथा हमारे कार्यों का उद्देश्य नहीं हुआ करता, वरन् वह तो अपने-आप ही आता है। वह एक गौण कार्य (Bye-product) है। हमने अभी देखा कि इच्छा-पूर्ति के फलस्वरूप सुख स्वयं ही उत्पन्न होता है। इसके लिए हमें सचेत रूप से प्रयास करने की आवश्यकता नहीं होती। (६) इस सिद्धान्त में एक विरोधाभास है, जिसे सुखवादीय-विरोधाभास (Paradox of hedonism) कहते हैं।

मनोविज्ञान कहता है कि सुख-प्राप्ति के लिए हमें सुख की इच्छा को भूलना अनिवार्य हो जाता है। सुख-प्राप्ति की इच्छा को हम जितना ही अधिक स्मरण रखेंगे, सुख उतना ही अधिक दुर्लभ और कठिन हो जायगा। मान लीजिए, एक फुटबाल (Football) का खेलाड़ी मैदान में खेलने जाता है। यदि वह खेलते समय हमेशा यह ध्यान में रखे कि जीतने पर उसे कितनी खुशी होगी, लोग उसकी प्रशंसा करेंगे और वह विजयी घोषित होगा, तो इस प्रकार उसकी हार निश्चित है। उसे तो जीतने के लिए आवश्यक है कि वह खेल पर ध्यान दे। जीतने पर तो खुशी होगी ही।

अतः सुख पाने के लिए सुख की इच्छा को भूलना होगा। सुख की इच्छा का ध्यान करने से सुख का नाश होता है। इसे ही सुख का विरोधाभास अर्थात् (Paradox of Hedonism) कहते हैं।

नैतिक सुखवाद

जहाँ मनोवैज्ञानिक सुखवाद सुख के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प नहीं मानता है, वहाँ नैतिक सुखवाद का विश्वास है कि सुख के अतिरिक्त दुनिया में अन्य वस्तुओं को भी हम अपना आदर्श बना सकते हैं। परन्तु चूँकि सुख सर्वोपरि शुभ पदार्थ है, इसलिये हमें सुख ही प्राप्त करना चाहिये। इस

प्रकार नैतिक सुखवाद सुख को अपना आदर्श मानता ;है। यह सिद्धान्त आदर्शमूलक है। मनोवैज्ञानिक और नैतिक सुखवाद में सामंजस्य संभव है या नहीं, इसे हम आगे देखेंगे।

नैतिक सुखवाद के भी दो रूप हैं। यह सही है कि सुख हमारा आदर्श है। परन्तु किसका सुख ? इसके उत्तर में कुछ विचारकों का कहना है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने सुख की चिन्ता करनी चाहिये। दूसरे लोग मानते हैं कि यह विचार संकुचित है। हमें अधिक-से-अधिक प्राणियों के अधिकतम सुख (Greatest good of the greatest number) के लिये प्रयास करना चाहिये। पहले को स्वार्थमूलक सुखवाद[1] (Egoistic Hedonism) और दूसरे को परार्थमूलक सुखवाद (Attruistic Hedonism) कहते हैं। स्वार्थी सुखवाद के भी दो रूप हैं। १— निष्कृष्ट स्वार्थमूलक सुखवाद (Gross Egoistic Hedonism) २— उत्कृष्ट स्वार्थमूलक सुखवाद (Refined Egoistic Hedoniam)। अब हम इन दोनों की अलग-अलग व्याख्या करेंगे।

निकृष्ट स्वार्थमूलक सुखवाद

एरिस्टीपस (Aristippus) [४३५—३५६ ई० पू०]

एरिस्टीपस इस मत के प्रचारकों में प्राचीनतम समझा जाता है। यह यूनान के साइरिन (Cyrene) नामक नगर का रहनेवाला था। उसी नगर के नाम पर इसके सिद्धान्त को साइरिनवाद (Cyrenaicism) कहा जाता है। अपने सिद्धान्त के अनुकूल ही यह आचरण भी करता था। इसका कहना था कि सुखप्राप्ति में मानापमान का ख्याल नहीं करना चाहिये। इतिहासकार डायोजिनीज ने इसके जीवन की एक बहुत ही सुन्दर घटना का उल्लेख किया है। एक बार एरिस्टीपस राजा के दरबार में अतिथि होकर गया। वहाँ उसने राजा को प्रसन्न करने के लिये बहुत झुककर अभिवादन किया। इसके लिये उसकी काफी भर्त्सना की गयी। लेकिन इससे यह तनिक भी विचलित न हुआ। इसने बहुत ही शान के साथ उत्तर दिया कि इसमें उसका

कसूर कुछ भी नहीं है। कसूर तो राजा का है; क्योंकि उसके कान उसके पैर मे हैं। इस घटना से पता चलता है कि वह अपने सिद्धान्त का अपने जीवन मे पालन भी करता था। इस कहानी से स्पष्ट हो जाता है कि सुखप्राप्ति के लिये किसी भी साधन को अपनाया जा सकता है।

इसके अनुसार सुख ही जीवन का परम लक्ष्य है। सभी प्रकार के सुख समान हैं। उनमें गुणात्मक अन्तर नहीं होता। यदि अन्तर है, तो पारिमाणिक (Quantitative)। शारीरिक सुख, मानसिक सुख से कहीं अधिक श्रेयस्कर है; क्योंकि वह अधिक प्रबल (Intense) होता है। भविष्य मे सुख पाने के लिये वर्त्तमान के सुख का परित्याग करना मूर्खता है। भविष्य तो शंकाकुल है। कौन जानता है कि हम अगले क्षण मे जीवित रह सकेंगे या नहीं। अतः जीवन के प्रत्येक क्षण का उपभोग करना चाहिये। जीवन मे यदि आत्मसंयम की आवश्यकता है, तो सिर्फ यही कि वह (संयम) क्षणिक सुखभोग का साधन बन सके। सेथ (Seth) महोदय ने बहुत ही सुन्दर शब्दों में इस सिद्धान्त का निचोड़ इस प्रकार रख दिया है—"भावपूर्ण जीवन, विशुद्ध और सरल, लापरवाह और अविचारणीय, बुद्धि से परे यही सायरिनवाद का अर्थ है"।[१]

चार्वाक

भारतीय दर्शन मे भी इस प्रकार का सिद्धान्त हम चार्वाक दर्शन में, जो वृहस्पति, भारद्वाज आदि आदि नाम से प्रचलित हैं, पाते हैं।

उनकी दृष्टि मे नैतिकता नाम की कोई चीज नहीं है। यह तो चतुर पुरोहितों का ढकोसला-मात्र है। वेद के सम्बन्ध में उनकी यह उक्ति सर्वविदित है।

"त्रयो वेदस्य कर्त्तारः धूर्त भाण्ड निशाचराः"। जीवन के सम्बन्ध में भी इनका अपना दृष्टिकोण है। पुनर्जन्म मे इनका कोई विश्वास नहीं। मर जाने

---

१. "A life of feeling, pure and simple heedless and unthinking, undisturbed by reason—such is the Cyrenaic ideal".

पर मनुष्य लौटकर नही आता। इसलिये इनका कहना है कि जीवन बहुत कम समय के लिये है। स्वर्ग-नरक सब पृथ्वी पर ही हैं। इसलिये जब तक जीए, सुख से जीएं—

'यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्'

मैन्डवाइल (Mondeville) [१६७०–१७३३ ई०]

"जहाँ सेफ्टसबरी ने सामाजिक कृत्य द्वारा व्यक्तिगत कल्याण पर जोर डाला, वहाँ मैन्डेवाइल ने इस सिद्धान्त को उलटा ही प्रतिपादित किया है। उसके अनुसार समाज का सर्वाधिक लाभ सर्वाधिक स्वार्थी व्यक्ति के वैयक्तिक हित के लिये किये गये प्रयासो के फलस्वरूप होता है।"[१]

मैन्डेवाइल ने अपने इस प्रकार के विचारो का प्रतिपादन एक कविता (The fable of the bees) मे किया, जिसका प्रकाशन १७१४ ई० के करीब लंदन मे हुआ। वहाँकी सड़कों पर इसका खूब प्रचार रहा। उस कविता का साराश है कि मधुमक्खियों का एक साम्राज्य था। उसमे सब अलग-अलग स्वार्थपूर्वक काम करते थे। ऐसा करने मे सबोका स्वार्थ तो था ही, साथ ही साथ, पूरे समाज का भी फायदा था। इस समाज मे कोई एक दूसरे को वाधा नहीं देता था। इसलिये इसमे धोखा, असन्तोष, चाटुकारिता आदि खूब प्रचलित थे। परन्तु कुछ समय के बाद इस समाज मे सुधार लाया गया। समाज के सभी भ्रष्टाचार बंद कर दिये गये। जो स्वार्थी थे, परोपकारी बन गये। जो बेईमान थे, ईमानदार हो गये। कोई स्वार्थी नहीं बच गया।

---

१. "Whereas Shaftesbury had emphasised personal welfare through social action, Mondeville reversed the thesis Society, he argued, is to gain most from the vigorous person of the most selfish of personal interest".

—Introduction to the History of Philosophy–Burgess; page–363

लेकिन मैन्डेवाइल के अनुसार इस प्रकार का साम्राज्य अवनति की ओर बढ़ेगा। समाज में शिथिलता आ जायगी। बाहर की दुनिया से इसका सरोकार बंद हो जायगा। अतः स्वार्थ के अभाव में ऐसा समाज प्रति दिन पतनोन्मुख ही होता रहेगा। अतएव समाज में स्वार्थ की बढ़ती होनी चाहिये। नैतिकता के नाम पर समाज के चतुर आदमियों ने सदा सीधे-सादे आदमियों को अपने स्वार्थ का साधन बनाया है। अतः स्वार्थ-साधन के लिये हर प्रकार का तरीका उचित है। उसके सिद्धान्त का सारांश नीचे लिखी पंक्तियों से स्पष्ट हो जायगा —

"To enjoy the world's conveniences,
Be famed in war, yet live in ease,
Without great vices it is vain
Utopia, seated in the brain.
Fraud, Luxury, and Pride must live
While we the benfits receive." 1

हेलभेटियस (Helvetius) [१७१५–१७७१ ई०]

यह फ्रांस का रहनेवाला था। यह मैन्डेवाइल और लाक के विचार से बहुत प्रभावित हुआ। इसके अनुसार आत्म-प्रेम (Self-love) ही सब कार्यों का स्रोत है। अधिकतम शारीरिक सुख ही हमारे कार्यों का उद्देश्य रहता है। मनुष्यों को प्रभावित करने का सुन्दरतम उपाय है कि उनके स्वार्थ की भावना को जाग्रत किया जाय। यही कारण है कि राजनीति में पुरस्कार और दण्ड का विधान किया जाता है। मित्रता आदि की जड़ में भी स्वार्थ ही काम करता है। धनपतियों और ख्याति-प्राप्त मनुष्यों का मित्र सभी होने को तैयार रहते हैं और निर्धनों का कोई नहीं; इसलिये कि निर्धनों से उनका स्वार्थ साधन नहीं हो सकता। इसलिये उसके मत में समाज व्यक्तियों का समूह है और यदि व्यक्ति का स्वार्थ-साधन होता रहे, तो समाज का अपने-

---

1. Ivid; page—364

आप ही होगा। इस प्रकार मनुष्य को अपने सुख के लिये सचेष्ट रहना चाहिये।

निकृष्ट स्वार्थमूलक सुखवाद के सामान्य सिद्धान्त

अभी हमने अलग-अलग विचारकों के मतों को देखा है। उन सबोंमें हम निम्नलिखित सामान्य विशेषताएँ पाते हैं :—

१—व्यक्तिगत सुख ही जीवन का चरम आदर्श है।

२—सुखप्राप्ति के लिये किसी भी साधन को अपनाया जा सकता है।

३—सुख में सिर्फ परिमाण का अन्तर होता है। गुण के आधार पर सुखों मे कोई अन्तर नहीं होता।

४—शारीरिक सुख मानसिक सुख से श्रेयस्कर है।

५—भविष्य के लिये वर्त्तमान का परित्याग करना मूर्खता है।

उत्कृष्ट स्वार्थमूलक सुखवाद

(Refined Egoistic Hedonism)

एपीक्यूरस (Epicurus) [३४०–२७० ई० पू०]

इस सिद्धान्त को एपीक्यूरसवाद (Epicureasism) कहते हैं। इसका उन्नायक यूनान का रहनेवाला एपीक्यूरस था। एथेन्स नगर के एक बहुत बड़े बगीचे मे उसका शिक्षालय था। इसमे सभी स्त्री-पुरुष, मालिक-नौकर हर फिरके के लोग जमा होते थे। अपने समय का वह बहुत ही सम्मानित व्यक्ति था। अपनी आत्म-शिक्षा पर इसे गर्व था और उसका विश्वास था कि सामाजिक नेता बनने के लिये मनुष्यों को इस प्रकार का उच्च आचरण रखना चाहिये कि लोग उससे प्रभावित होकर उसका आदर करें। उसने करीब ३०० पुस्तकें लिखी थीं। उनमें से बहुत नष्ट हो गये और जहाँ-तहाँ बहुत कम उपलब्ध हैं। उसकी लिखी कुछ किताबें हरक्यूलेनियन (Herculanean) की खुदाई मे पाई गयी हैं।

एपीक्यूरस के अनुसार सुख ही जीवन का चरम लक्ष्य (Highest good) है। परन्तु यहाँ सुख का अर्थ सायरिनवाद के बिल्कुल विपरीत है। एरीस्टीपस ने शारीरिक सुख को आदर्श माना था। पर इस मत में मानसिक सुख ही श्रेयस्कर है। मानसिक सुख शारीरिक सुख की अपेक्षा शुद्ध, शान्त और स्थायी होता है। इच्छाओं को बढ़ाने में दुःख होता है। इसलिये हमारी इच्छाएँ कम-से-कम ही होनी चाहिये। इस प्रकार जब मस्तिष्क इन सभी प्रकार की इच्छाओं और संघर्षों से खाली रहेगा, तभी हमें सच्चा सुख प्राप्त हो सकता है। सुख की वृद्धि मित्रता और भूतपूर्व आनन्द से ही होती है। अपने जीवन के अन्तिम काल में जब रूपी क्यूरसी बीमारी से जर्जर हो चुका था, उसने अपने मित्र को पत्र लिखा कि "मैं अपने जीवन के उस अन्तिम दिन तुम्हें यह लिख रखा हूँ, जो कटुतम आन्तरिक और शारीरिक दुःखों के बावजूद है, क्योंकि इनकी अपेक्षा उन सभी मानसिक सुखों को मैं अधिक मूल्य देता हूँ, जिनका तुम्हारे साथ अपने अतीत वार्त्तालाप के संस्मरण में मैंने अनुभव किया था।"[१]

इस प्रकार वह मानसिक सुख को शारीरिक सुख से कहीं उत्तम मानता था। इस सम्बन्ध में उसका कहना था "सुखी जीवन न तो अनवरत मद्यपान कर उन्मत्त होने में न तो कामिनियों के संगीत में, न दुर्लभ भोज में और न अन्य विलासों द्वारा ही साध्य होता है, वरन् यह तो वैसे गम्भीर मनन से उत्पन्न होता है, जो इष्ट–अनिष्ट के कारणों की छानबीन करे और मस्तिष्क को क्लेश देनेवाली कल्पनाओं को दूर कर दे।"[२]

---

१ "I write this to you on the last day of my life, which, in spite of the severest internal bodily pains, is still a happy day, because I set against them in the balance all the mental pleasure felt in the recollection of my past conversations with you."

२ "It is not continuous drinking and revellings,

इस सिद्धान्त की दूसरी विशेषता है कि यहाँ प्रत्येक क्षण के सुख के बदले सम्पूर्ण जीवन को सुखी माना गया है। इसलिये क्षणिक सुख में ही विभोर रहना मूर्खता है। यदि वर्त्तमान मे दुःख उठाने पर भविष्य में अधिक सुख मिलने की आशा हो, तो वर्त्तमान के ऐसे दुःख को अंगीकार करना चाहिये। अतः एपीक्यूरस के अनुसार हमें उस सुख की खोज करनी चाहिये, जिसमें दुःख न हो और वैसे दुःख का तिरस्कार करना चाहिये, जिसमें सुख बिल्कुल न हो।

फिर यहाँ जीवन मे बुद्धि को यथेष्ट स्थान दिया गया है। हमारे व्यक्तित्व के दो हिस्से हैं—ऐन्द्रिक (Sensibility) और बौद्धिक (Rational)। हमारी इन्द्रियों को सुख तभी प्राप्त हो सकता है, यदि वे बुद्धि-द्वारा निर्देशित हों। यह सही है कि हमारी इन्द्रियाँ हमें कोई काम करने को प्रेरित करती हैं; परन्तु उसकी पूर्त्ति बिना बुद्धि की सहायता के असम्भव है। इसलिये इच्छित आदर्श की प्राप्ति तभी होगी, जब इन्द्रियाँ बुद्धि के अनुकूल काम करेंगी।

एपीक्यूरस का एक और मत यहाँ उल्लेखनीय है। कुछ प्रकार के भ्रमपूर्ण डर हमारी मानसिक शान्ति के रास्ते में रोड़े अटकाते हैं। वे हैं, ईश्वर और मृत्यु के डर। एपीक्यूरस के मत में वे दोनों ही भ्रममात्र हैं। इस प्रकार के विचार का कारण है कि वह डेमोक्रिटस (Democritus) के आणविक सिद्धान्त (Atomic theory) में विश्वास करता था। हमें ईश्वर से डरने की कोई जरूरत नहीं है; क्योंकि वह एक ऐसी पूर्ण सत्ता है, जिसकी शान के खिलाफ होगा कि मनुष्यों की छोटी-छोटी बातों में दखल दे। मृत्यु से भी हमें डरने की कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि उससे कभी

---

nor in society of women, nor rare viands, and other luxuries of the table, that constitute a pleasant life, but sober contemplation, such as searches out the grounds of choice and avoidance, and those chimeras that harrass the mind.'

हमारी मुठभेड हो ही नहीं सकती है। जब तक हम जिन्दे हैं, मृत्यु नहीं आती और जब मृत्यु आती है, तो हम नहीं रहते। इस प्रकार वे सभी डर भ्रम-मात्र हैं।

संक्षेप में यही एपीक्यूरसवाद है।

निकृष्ट और उत्कृष्ट स्वार्थमूलक सुखवाद में अन्तर

ऊपर दिये गये विवेचनों से स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों में निम्न-लिखित भेद एवं समानता हैं।

१—सर्वप्रथम दोनों ही में यह समानता है कि उनके अनुसार व्यक्तिगत सुख ही जीवन का चरम आदर्श है।

२—इसके अतिरिक्त अन्य असमानताएँ ही हैं। एरिस्टिपस के अनुसार शारीरिक सुख श्रेयस्कर है, तो एपीक्यूरस के मत में मानसिक।

३—पहले के अनुसार जीवन में इन्द्रियों का स्थान प्रमुख और बुद्धि का गौण है, तो दूसरे ने इसका उलटा ही प्रतिपादन किया है।

४ एरीस्टीपस के अनुसार वर्त्तमान का सुख ही इष्ट होना चाहिये; परन्तु एपीक्यूरस के मत में सम्पूर्ण जीवन को सुखप्रद बनाना ही आदर्श होना चाहिये। भविष्य वर्त्तमान से कम महत्त्वपूर्ण नहीं।

५—पहले के अनुसार सुखप्राप्ति के लिये किसी भी साधन को अपनाया जा सकता है; परन्तु दूसरे के अनुसार साधन भी मानवोचित होना चाहिये।

६—पहले के अनुसार सुख में सिर्फ पारिमाणिक अन्तर है; परन्तु दूसरे के अनुसार गुणात्मक भी।

स्वर्थमूलक सुखवाद की आलोचना

सर्वप्रथम इस सिद्धान्त के कुछ अपने गुण हैं, जिन्हें हम देखेंगे :

इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सभी सुखवादी सिद्धान्तों में यह सबसे अधिक तर्क-संगत है। यदि सुख को हम आदर्श मानते हैं, तो यह मानना ही होगा कि वह हमारा अपना सुख होगा। आखिर हम अपना सुख

छोड़कर दूसरे का भला क्यों चाहेंगे ? यही कारण है कि स्वार्थवाद से परार्थ-वाद तक जाने के जितने भी प्रयास हुए हैं, असफल हो रहे हैं।

इसका दूसरा गुण भी है। बिना स्वार्थी हुए हम परार्थी भी नहीं हो सकते। जिसने कभी दु:ख नहीं भोगा, भला वह दूसरों की वेदनी क्या समझेगा ? दूसरों के साथ उसकी सहानुभूति क्या होगी ? दूसरों को सुखी हम तभी देखना चाहेंगे, जब हमने भी सुख का अनुभव किया है। अतः हार्टमैन (Hartman) महोदय ने कहा है, "जिसे आत्म-गौरव नहीं, वह भला किसी दूसरे के गौरव के आधार को क्योंकर समझे ? दूसरों के स्वाभिमान के ज्ञान का आधार मनुष्य का आत्म-ज्ञान ही है और सदा रहेगा।"१ अथवा,

"जाके पैर न फटी बेवाय, सो क्या जाने पीड़ पराय"

परन्तु इन दोनों गुणों के रहते हुए भी हम इसे जीवन का आदर्श कभी भी नहीं मान सकते। अब हम इसके दोषों की ओर ध्यान दें।

१—इसका सबसे बड़ा दोष है कि इसके मानने पर समाज में विश्रृंखलता फैल जायगी। मनुष्य अपूर्ण जीव है। वह अभावों की खान हुआ करता है। अपने जीवन सम्बन्धी सभी अभावों की पूर्त्ति वह स्वयं नहीं कर सकता है। इसलिये समाज वो श्रमविभाजन (Division of labour) की व्यवस्था है। कोई खाने की सामग्री उत्पन्न करता है, तो दूसरा उसके लिये खेती के औजार बनाता है; तीसरा उसके लिये वस्त्र बनाता है। यदि ऐसा न हो और सब आदमी अपने ही पीछे लग जायँ, तो उस समाज में सभी दु:खी ही रहेंगे। सुख किसीको नसीब नहीं होगा। अतः व्यक्तिगत सुख हमारा आदर्श नहीं हो सकता।

२—दूसरी बात है कि यदि स्वार्थ ही सब कुछ है, तो समाज-सेवियों को

---

१ "One who has no pride cannot understand an injury to author's pride...one's knowledge of one's self, is and continues to be the basis of the knowledge of another's regard for himself" —Hartman

कौन-सी प्रेरणा रह जायगी ? विश्व को सबसे अधिक फायदा उन व्यक्तियों से हुआ है, जिन्होंने अपने सुख को तिलाजलि देकर दूसरों के सुख के लिये अपनी कुर्बानी दी है। हम उन्हें शहीद कहकर पुकारते हैं। उनकी पूजा करते हैं। आखिर क्यों ? इसलिये न कि परोपकार को हम अच्छा समझते हैं। परोपकार को स्वार्थ से उत्तम समझना ही इस बात का द्योतक है कि वह हमारा आदर्श है (Bernard Shaw) ने अपनी पुस्तक (Major-Barbara) की भूमिका मे लिखा है—"रस्किन, विलियम मारिस, राजकुमार क्रापोटकिन सदृश व्यक्तियों मे असाधारण एवं उत्तम सामाजिक वृत्तियाँ पायी जाती हैं...उन्हें अपनी रत्नजटित स्त्रियों एवं विकसित पुत्रियों से संतोष नहीं है। उन्हें शिकायत है कि नौकरानी के शरीर पर अच्छे वस्त्र नहीं हैं, धोबिन के शरीर से दुर्गन्ध आती है और दर्जिन रक्तहीन है। उन्हें दुःख है कि प्रत्येक पुरुष, जिनसे उनकी भेंट होती है, वह उनका मित्र नहीं और न प्रत्येक स्त्री आकर्षक ही है।"

३—इसका तीसरा दोष है कि इसे आदर्श मानने पर कोई सर्वमान्य आचरण नहीं हो सकता। जिसे एक आदमी सुखप्रद समझेगा, वही दूसरे की दृष्टि में दुखप्रद होगा। अतः यहाँ "मुण्डे-मुण्डेमर्तिर्भिन्ना" वाली बात होगी।

४—इसका चौथा दोष भी है। नीति-शास्त्र का सम्बन्ध चरम आदर्श

"Men like Ruskin and William Morris and Prince Kropotkin have enormous social aptitudes and very fastidious ones ...They are not contented with biadomned wives and blooming daughters: they complain because the charwoman is badly dressed, because the laundress smells of gin, because the semptress is anaemic, because every man they meet is not a friend and every woman not a romance."

(Highest good) से है। चरम आदर्श का अर्थ है,वह आदर्श, जो अधिक-से-अधिक व्यक्तियों के लिये सर्वमान्य हो। ऐसा होने पर बहुत परिस्थितियों में जो बात हमें अच्छी लगेगी, उसे हमें छोड़ना पड़ेगा। मान लीजिये, किसी देश के प्रधान मन्त्री को दूसरे राष्ट्र के प्रधान मन्त्री से व्यक्तिगत झगड़ा हो। दोनो देशों मे मनमुटाव होने पर उसकी व्यक्तिगत इच्छा होगी कि उससे अपना बदला सधाने के लिये वह उस देश पर आक्रमण कर उसे बन्दी बना ले। लेकिन, इस झगड़े मे उसके अपने देश की भी हानि होगी और इस कारण वह जनता की भलाई के लिये अपनी इच्छा को दबा देता है। दूसरी बात हो सकती है कि किसी भी परिस्थिति में हम अपने स्वार्थ को न छोड़ें और तब शायद हम चरम आदर्श में विश्वास न करेंगे। अतः निष्कर्ष है कि या तो स्वार्थमूलक सुखवाद सही नहीं होगा या चरम आदर्श से हमारा सम्बन्ध न होगा।

५—सुखवादीय विरोधाभास (Paradox Hedonism), जो मनोवैज्ञानिक सुखवाद को दोषपूर्ण बना देता है, इस मत के भी प्रतिकूल ही है।

६—निष्कृष्ट स्वार्थमूलक सुखवाद तो किसी भी सम्मानित एवं सामाजिक व्यक्ति के लिय मान्य हो ही नहीं सकता।

गौणरूप से स्वार्थी सुखवाद मनोवैज्ञानिक सुखवाद ही पर आधारित है। हम देख चुके हैं कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद अमनोवैज्ञानिक है। हम वस्तु की कामना करते हैं, न कि सुख की। वस्तुप्राप्ति के बाद सुखप्राप्ति तो स्वयं ही होता है।

परार्थवाद या उपयोगितावाद
(Altruism or utilitarianism)

स्वार्थी सुखवाद स्वार्थ पर आधारित होने के कारण अधिक समय तक लोकप्रिय न रह सका। जैसे-जैसे लोगोंमे प्रजातन्त्र की भावना आती गयी

नोट—मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नैतिक सुखवाद के सम्बन्ध के लिये 'उपयोगितावाद' को देखें।

यह निंदनीय होता गया। फलस्वरूप आगे चलकर इसका स्थान परार्थवाद ने ले लिया। यह उपयोगितावाद के नाम से अधिक प्रचलित है। डी'-आर्की (D'Arcy) ने कहा है; 'Utilitarianism is Hedonism grown democratic'[१] इस सिद्धान्त को उपयोगितावाद इसलिये कहा जाता है कि कार्यों का अच्छा या बुरा होना उनकी उपयोगिता पर निर्भर है अर्थात् सुख-प्राप्ति और दुःख-निरोध में वे कहाँ तक सहायक हैं। इसे परार्थवाद इसलिए कहा जाता है कि इसका आदर्श व्यक्तिगत सुख नहीं, वरन् सर्वाधिक मनुष्यों का सुख है। इस मत के प्रतिपादक मिल महोदय ने इसकी विवेचना करते हुए लिखा है कि—

"सदाचार का उपयोगितामूलक मापदण्ड सर्वजनगत सुख है, न कि कर्त्ता का व्यक्तिगत सुख, उपयोगितावाद के अनुसार कर्त्ता को अपने तथा दूसरों के सुखों के प्रति उदासीन एवं परोपकारी द्रष्टा की भाँति अत्यन्त निष्पक्ष होना चाहिये।"[२]

उपयोगितावाद की विभिन्नताएँ—सामान्यतया हम ऐसा कह सकते हैं कि उपयोगितावाद का आदर्श सुख-प्राप्ति है और वह सुख भी सर्वाधिक मनुष्यों का। इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी कठिनाई है कि स्वार्थवाद से परार्थवाद पर कैसे जाया जाय। इसी सम्बन्ध में विचारकों में मतभेद रहा है और इसी कारण उपयोगितावाद में नाना प्रकार के सिद्धान्त हैं।

---

१ A short study of Ethics—Page 243.

२ "The happiness which forms the utilitarian standard of what is right in conduct, is not the agent's of our happiness, but that of all concerned. As between his own happiness and that of others, utilitarianism requires him to be as a disinterested and benevolent spectator."

—Utilitarianism; Page-24.

एक दृष्टिकोण से सुखो मे सिर्फ पारिमाणिक (Quantitative) अन्तर है। गुण (Quality) के हिसाब से सभी सुख बराबर हैं। अतः कार्य निर्धारण मे हमें सदा सुख के परिमाण का ध्यान रखना चाहिए। इस मत को निष्कृष्ट उपयोगितावाद (Gross utilitarianism) कहते हैं। इसका माननेवाला जेरेमी बेन्थम था। दूसरे मत मे सुख में पारिमाणिक अन्तर के साथ ही गुणात्मक भेद (Qualitative difference) भी है। मनुष्य होने के नाते हमे परिमाण की अपेक्षा गुण का अधिक ध्यान रखना चाहिए। इस मत को उत्कृष्ट उपयोगितावाद (Refined utilitarianism) कहते हैं। इसको माननेवाले जान स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) थे।

इनके अध्ययन के सिलसिले में हम पायँगे कि ये दोनो ही स्वार्थवाद से परार्थवाद पर जाने में असफल रहे हैं। अतः इसके लिए और भी प्रयास किए गये हैं। उनमें से दो विचार प्रमुख रहे हैं। सीजवीक (Sidzwick) का तार्किक सुखवाद (Rationalistic Hedonism) और स्पेन्सर का विकासवादी सुखवाद (Evolutionary Hedonism)। इन सबोंको हम एक-एक कर देखेगे।

निकृष्ट उपयोगितावाद

जेरेमी वेन्थम (Jeremy Benthem) 1748–1832

वेन्थम मूलतया एक राजनीति-शास्त्रवेत्ता था। वह जीवन-पर्यन्त राजनीतिक सुधारो में लगा रहा और उसके नीति-शास्त्र के सिद्धान्त गौण हैं। उसका विश्वास था कि अधिकारियो का स्वार्थ जनहित के लिए बहुत ही खतरनाक है। इसलिए लोक-कल्याण के लिए इसे विनष्ट होना ही चाहिए। इसके लिए उसकी दृष्टि में एक ही उपाय है कि सत्ता 'कुछ' आदमियो के हाथ से ले ली जानी चाहिये। यही कारण है कि राजनीति मे वह प्रजातान्त्रिक (Democratic) या प्रतिनिधिमूलक सरकार (Representative form of Government) को सर्वोत्तम समझता था। हमारा सम्बन्ध उसके राजनीतिक सिद्धान्तों से नहीं, वरन् नैतिक सिद्धान्तो से है।

बेन्थम सुखवादी होने के नाते सुख को जीवन का आदर्श मानता था। परन्तु वह आदर्श सर्वाधिक मनुष्यों का सुख है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद के अध्ययन के सिलसिले मे हमने देखा कि उसका विश्वास है कि प्रकृति ने मनुष्यो को सुख और दु:ख दो ही विकल्प रख छोड़े हैं। अतः मनुष्य-मात्र सुख-प्राप्ति और दु:ख-निरोध के लिए सचेष्ट रहता ही है। इसके नैतिक सुखवाद का आधार मनोवैज्ञानिक सुखवाद ही है। मनुष्य स्वभावतः सुख चाहता है और सुख श्रेयस्कर भी है। इसलिए सुख-प्राप्ति ही उसका आदर्श है।

इस सिद्धान्त की दूसरी विशेषता है कि यह उपयोगितावाद मे विश्वास रखता है। उपयोगितावादी सिद्धान्त का अर्थ ही है, वह सिद्धान्त, जो कार्यों को अच्छा या बुरा इस आधार पर कहता है कि उन कार्यों से सम्बन्धित व्यक्तियो के सुख मे वृद्धि हुई अथवा ह्रास। अतः हमारे ऐच्छिक कार्यों की यही उपयोगिता है कि उससे व्यक्ति अथवा समाज को अधिक-से-अधिक सुख प्राप्त हो। जिन कार्यों से सुख-प्राप्ति न हो सके, वे अनुपयोगी हैं।

यहाँपर एक प्रश्न यह उठता है कि यदि हमारे सामने दो प्रकार के सुखों में संघर्ष हो, तो हम अपना निर्णय किस प्रकार करेंगे? दोनो मे से एक को चुनने का हमारा आधार क्या होगा? अर्थात् वह कौन-सी विशेषता होगी, जिसके आधार पर हम एक का परित्याग कर दूसरे को अंगीकार करेंगे?

इसके उत्तर मे बेन्थम का कहना है कि सुखो में सिर्फ पारिमाणिक भेद (Quantitative difference) हैं। गुण के हिसाब से सभी सुख समान हैं। उसका कहना था "Quantity of pleasure being equal, push-pin is as good as poetry." यही कारण है कि बेन्थम के सिद्धान्त को निष्कृष्ट उपयोगितावाद कहा जाता है। सारांश यह कि दो सुखो में, जिनसे परिमाण मे अधिक सुख मिलने की आशा हो; उसे ही हमें चुनना चाहिए।

अब प्रश्न है कि इस परिमाण का तौल किस प्रकार होगा? इसके

उत्तर मे बेन्थम ने परिमाण नापने के सात तरीके दिए हैं—तीव्रता (Intensity), काल (Duration), सामीप्य (Nearness), निश्चित (Certain), विशुद्ध (Pure), फलदायक (Fruitful) और विस्तार (Extent)। यदि दो सुखो मे से एक अधिक तीव्र हो, तो हमे उसे ही अंगीकार करना चाहिए। वह सुख, जो अधिक समय तक टिकाऊ हो, वह उससे श्रेयष्कर है, जो कम समय तक ठहरे। तुरंत का सुख देर के सुख से अच्छा है। निश्चित सुख को छोड़कर अनिश्चित सुख के पीछे दौड़ना मूर्खता है। विशुद्ध सुख का अर्थ है, वह सुख, जिसमें दुःख बिल्कुल ही न हो। मिश्रित तथा अशुद्ध सुख का अर्थ है, वह सुख, जिसमें सुख के साथ-साथ दुःख भी मिला हो। फलादयक का अर्थ है वह सुख, जिसके प्राप्त होने पर उससे नाना प्रकार के अन्य सुख उत्पन्न हों। विस्तार का अर्थ है, ऐसा सुख, जो अधिक-से-अधिक मनुष्यो के लिए हो। यही सात आधार हैं, जिनसे हम सुख के परिमाण को आंक सकते हैं।

हमने अभी देखा है कि बेन्थम सुख का विस्तार अधिकतम मनुष्यो पर करना चाहते हैं। आखिर यह कैसे होगा? यदि सुख हमारा आदर्श है, तो फिर यह कैसे संभव है कि हम अपना सुख छोड़कर दूसरों के लिए प्रयास करें। संक्षेप में, स्वार्थवाद से परार्थवाद पर कैसे जाया जाय—इसका उत्तर बेन्थम महोदय ने निम्नलिखित तारीको से दिया है।

व्यक्ति जब अपना सुख छोड़ दूसरो के सुख के लिए सचेष्ट होता है, तो वह कुछ त्याग नहीं करता। वह तो उसकी दूरदर्शिता है। दूसरो का सुख तो उसके लिए माध्यम होता है। हर व्यक्ति जानता है कि वह अकेला सुखी हो ही नहीं सकता। हर समय उसे दूसरो की आवश्यकता पड़ती है। अतः वह समझता है कि दूसरे उसकी सहायता तभी करेंगे, जब वह समय पड़ने पर उनकी सहायता करेगा। मनुष्य मूलतः स्वार्थी होता है। बेन्थम स्पष्टतया कहते हैं:—"तुम यह सपना मत देखो कि दूसरे अपनी उँगलियाँ तुम्हारी सेवा के लिए चलायँगे, जब तक ऐसा करने मे उन्हें अपना ही लाभ स्पष्ट न हो। मनुष्यों ने न कभी ऐसा किया और तब तक न ऐसा करेंगे, जब

तक मानव-प्रवृत्ति वर्त्तमान भौतिक तत्त्वों की बनी रहेगी। लेकिन वे तुम्हारी सेवा करना चाहेंगे, यदि ऐसा करने से उन्हींकी सेवा हो सके।"१

इस प्रकार बेन्थम का उत्तर है कि हमारा स्वार्थ ही हमें प्रेरित करता है कि हम अपना सुख छोड़कर दूसरों के सुख के लिये प्रयास करें। बेन्थम का यह दृष्टिकोण आजकल संत विनोबा के दृष्टिकोण से मिलता है। भूदान में दान का विश्लेषण करते हुए उन्होंने कहा है कि यह कोई भीख या दया नहीं। भूमिपति तो भूदान इसलिए करते हैं कि उसमें उनका स्वार्थ है। बिना दान दिये वे अब सम्पूर्ण भूमि का भोक्ता नहीं बन सकते। अतः दानियों को यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि वह किसीपर दया कर भीख दे रहे हैं। खैर!

स्वार्थवाद से परार्थवाद पर जाने के लिए बेन्थम ने दूसरा तरीका भी अपनाया है। उसे नैतिकता की बाह्य अनुज्ञप्ति (External sanction of Morality) कहते हैं। ये चार हैं:—भौतिक (Physical), राजनैतिक, (Political) सामाजिक, (Social) और धार्मिक (Religious) इन्हें हम एक-एक कर देखेंगे—

भौतिक या प्राकृतिक अनुज्ञप्ति—यह प्रकृति-प्रदत्त है। प्रकृति के कुछ ऐसे नियम हैं, जिनका उल्लंघन करना जानबूझ कर आफत मोल लेना है—जैसे, स्वास्थ्य के नियम। यदि हम संयम न करें, दिन-रात शराब पीयें, तो फलस्वरूप नाना प्रकार की बीमारियाँ उत्पन्न होगी। इसी तरह प्राकृतिक नियम है कि समाज के साथ हिल-मिलकर रहने में हमारी भलाई है और अपनी खिचड़ी अलग पकाने में बुराई।

१—Dream not that men will move their little finger to serve you, unless their own advantage in so doing be obvious to them, men never did so and never will, while human nature is made of the present materials. But they will deny to serve you, when by so doing they can serve themselves.

राजनैतिक अनुज्ञप्ति:—यह राज्य द्वारा चालित है। राज्य के कुछ ऐसे विधान हैं, जिनका उल्लंघन करने पर कर्त्ता को दण्ड का भागी होना पड़ता है। अतः दण्ड के भय से वह बुरे काम नहीं करता। साथ ही, नियम-पालन करने पर वे पुरस्कृत भी होते हैं। अतः राजनैतिक अनुज्ञप्ति का अर्थ है कि ऐसे कार्यों को मान्यता दी जाय, जो सामाजिक उत्थान के लिए हों।

सामाजिक अनुज्ञप्ति.—हर मनुष्य किसी-न-किसी समाज का सदस्य हुआ करता है। समाज उस व्यक्ति की इज्जत करता है, जो सामाजिक कार्यों मे हाथ बटाता है। परन्तु वैसे व्यक्ति, जो समाज की उपेक्षा कर अपने स्वार्थ मे रत रहते हैं, समाज द्वारा उपेक्षित और वहिष्कृत होते हैं। अतः समाज का डर उन्हे बराबर सीधा रखता है, जिसके कारण वे सामाजिक कार्यों में दिलचस्पी रखते हैं।

धार्मिक अनुज्ञप्ति:—हर धर्म का आदर्श होता है, विश्व-कल्याण की धारणा। "वसुधैव कुटुम्बकम्" ही उसका लक्ष्य होता है। धर्म भी उसी व्यक्ति की सराहना करता है,जो अपने सुख को ठुकराकर अन्य के लिए तकलीफ उठाता है। स्वार्थी व्यक्तियों की निन्दा धर्म भी करता है। इसलिए धर्म-पुस्तको मे भी पुरस्कार तथा दंड के विधान किए गये हैं। वैसे पुरुष, जो धार्मिक हैं, उन्हें स्वर्ग जाने की आशा रहती है। पुनर्जन्म में सुख प्राप्त होने का विश्वास रहता है। इसके विपरीत अधार्मिको को नरक का भय रहता है और साथ-साथ पुनर्जन्म का डर भी। इसलिए धार्मिक अनुज्ञप्ति भी व्यक्तियों को सामाजिक हित के लिए प्रेरित करती है।

बेन्थम के सिद्धान्त की आलोचना

बेन्थम ने उपयोगितावाद का आधार मनोवैज्ञानिक सुख को माना है। लेकिन, यदि हम यह दिखला दें कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद उपयोगितावाद का, जो नैतिक सुखवाद का एक अंग है, का आधार नहीं हो सकता है, तो उसकी पूरी मान्यता गलत साबित होगी। सर्वप्रथम तो मनोवैज्ञानिक सुखवाद के जितने दोष हैं, वे सभी इसपर आरोपित किये जा सकते हैं। फिर

यदि मनोवैज्ञानिक सुखवाद को सही मान भी लिया जाय, तो इसमें उपयोगितावाद या नैतिक सुखवाद की गुंजाइश कहाँ है ? यदि हम सुख स्वभावतः चाहते ही हैं, तो फिर यह आदर्श कैसा ? अतः प्रथम तो इसका आधार ही गलत है: दूसरा उस आधार पर हम इस सिद्धान्त को आधारित भी नहीं कर सकते ।

इस सिद्धान्त का दूसरा दोष है कि यह वास्तविक जीवन मे संभव नही है। सुख के नाप-तौल के लिए जो इसने सात तरीके बताये हैं, उनका प्रयोग जीवन में कठिन मालूम पडता है । इनके अनुसार उचित काम का अर्थ है— दुःख पर सुख का अधिकार और अनुचित कार्य का अर्थ है सुख पर दुःख का आधिक्य । परन्तु इस तरह का हिसाब-जैसा जोड़-घटाव जीवन मे सम्भव नहीं है ।

बेन्थम का असल प्रयास रहा है स्वार्थवाद से परार्थवाद पर जाना। हमें देखना है कि उसमें उसे कहाँ तक सफलता मिलती है। सर्वप्रथम वह परार्थवाद का आधार ही स्वार्थवाद को मानता है, परन्तु वह स्वार्थ से जरा भी ऊपर उठ नहीं सका। परार्थ को स्वार्थ का साधन बनाना एक चातुर्य का काम है, नैतिकता का नहीं । यदि यह सही है, तो फिर स्वार्थ-साधन के लिए कोई भी कार्य किया जा सकता है।

इसका दूसरा प्रयास भी असफल हो रहा है । नैतिकता की वाह्य अनुज्ञप्तियाँ (External sanction) तो ठीक बाह्य नियम के समान हैं। इनका पालन कोई स्वेच्छा से नहीं करता, वरन् दंड के भय और पुरस्कार के लोभ से करता है । अतः ये अनुज्ञप्तियाँ (Sanctions) हमे लाचार भले ही कर सकती हैं, हममें नैतिकता नहीं उत्पन्न कर सकतीं । जहाँ लाचारी है, वहाँ स्वतन्त्र इच्छा कहाँ और जहाँ स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का अभाव है, वहाँ नैतिकता की चर्चा कैसी ?

अतः बेन्थम स्वार्थवाद से परार्थवाद पर आने के प्रयास में भी पूर्णरूपेण असफल ही रहा है ।

इसके सिद्धान्त का एक अन्य दोष भी है। इसने सुखों में गुणात्मक अन्तर माना ही नही है। यह बात सचमुच निन्दनीय है। यही कारण है कि मिल महोदय इसके साथ नही हैं। इसके सिद्धान्त ठीक ही निकृष्ट करार दिए गए हैं।

उत्कृष्ट उपयोगितावाद

जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) 1806-1873.

बेन्थम की तरह मिल भी अपने समय के राजनीतिक सुधारो मे लगे रहे। यह एक महान विद्वान थे। दर्शन, राजनीति और अर्थशास्त्र आदि विषयो में ये समान रूप से रुचि रखते थे। ये एक महान तार्किक थे और इन्होने नीति-शास्त्र के सिद्धान्तो में तर्क का जो सहारा लिया, उन्हें हम देखेगें। मिल ने उपयोगितावाद के सिद्धान्त को अधिक तर्कसंगत बनाने का प्रयास किया है। हमने आरम्भ ही में देखा है कि वे मनोवैज्ञानिक सुखवादी थे अर्थात् उनका विश्वास था कि मनुष्य स्वभावतः सुख चाहता ही है। इसी कारण उन्होने किसी वस्तु के पाने की इच्छा (Desiring a thing) और उससे उत्पन्न सुख (Finding it pleasant) को एक ही माना है। सुख क्या है, इसके उत्तर में उन्होने कहा है, "आनन्द से तात्पर्य है सुख की प्राप्ति एवं दुःख का अभाव और कष्ट का अर्थ है, दुःख की प्राप्ति एवं सुख का अभाव।"[१]

इस प्रकार स्पष्ट है कि ये मनोवैज्ञानिक सुखवादी थे। फिर भी, इन्होने सुख को आदर्श मानकर नैतिक सुखवाद का भी प्रतिपादन किया। अतः प्रश्न है कि क्या मनोवैज्ञानिक सुखवाद नैतिक सुखवाद का आधार हो सकता है? बेन्थम ने इसके लिए प्रयास किया था; पर वे असफल रहे। इस असफलता

---

१ "By happiness is intended pleasure and the absence of pain, by unhappiness pain and the privation of pleasure."

—Utilitarianism; Page—10

को देखकर मिल ने इसमें सुधार लाने के लिए अपनी तार्किक बुद्धि का प्रयोग कर एक तर्क दिया है, जो यों है—"कोई वस्तु प्रत्यक्ष है, इसका सबूत है कि हम उसे वस्तुतः देख रहे हैं, कोई आवाज श्रव्य है, इसका सबूत है कि वह सुनाई पड रही है। उसी प्रकार कोई वस्तु वाञ्छित है, इसका प्रमाण है कि हम वस्तुतः उसकी इच्छा करते हैं।"

स्पष्ट है कि इस सबूत के आधार पर सुख वाञ्छित (desirable) है; क्योंकि हम उसकी इच्छा स्वभावतः करते हैं। इसी तरीके द्वारा वे मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नैतिक सुखवाद में संधि स्थापित करना चाहते हैं।

उपयोगितावाद के सामने दूसरा प्रश्न था, स्वार्थवाद और परार्थवाद में सामंजस्य स्थापित करना। बेन्थम ने प्रयास तो अवश्य किया; पर वे स्वार्थवाद से ऊपर नहीं उठ सके। अतः इस दिशा में भी मिल महोदय ने अपना कदम उठाया है। अपनी तार्किक बुद्धि का प्रयोग उन्होंने यहाँ भी किया है। वह तर्क इस प्रकार है :—

प्रत्येक मनुष्य का सुख उसके अपने लिए श्रेयस्कर है, इसलिए सबोंका सुख मिलाकर सभी मनुष्यों के लिए श्रेयस्कर है।[२] मान लीजिए, तीन मनुष्य हैं और प्रत्येक के अपने-अपने सुख हैं :—

---

१. "The only proof capable of being given that an object is visible is that people actually see it The only proof that a sound is audible is that people hear it .. In like manner, I apprehend, the sole evidence it is possible to produce that anything is desirable is that people do actually desire it."

२ "No reason can be given why the general happiness is desirable, except that each person, so far as he believes it to be attainable, desire his own happiness, that each person's happiness is a

व्यक्ति	सुख
क	अ
ख	ब
ग	स

मिल महोदय के अनुसार सबोंका सुख मिलाकर सबोंके लिए श्रेयस्कर होगा। अर्थात्—अ+ब+स अच्छा है क+ख+ग सबोंके लिए। इस प्रकार यह तर्क है, जो मिल ने स्वार्थवाद से परार्थवाद पर जाने के लिये दिया है।

इस प्रसंग में उन्होने दूसरा प्रयास भी किया है। बेन्थम ने चार बाह्य अनुज्ञप्तियों। (External sanctions) दी थी और उनके दोषों को देखकर मिल ने उसमें एक आन्तरिक अनुज्ञप्ति (Internal sanctions) जोड़ दिया है। बाह्य अनुज्ञप्तियों में तो उसका विश्वास है ही; लेकिन चूँकि उनसे लाचारी पैदा होती है, अतः वे नैतिक नहीं। इसे देखकर ही मिल ने आन्तरिक अनुज्ञप्ति का सहारा लिया था। उसके अनुसार नैतिकता की सही अनुज्ञप्ति आन्तरिक ही है। इसका अर्थ है कि मनुष्यों में भ्रातृत्व की भावना रहती है, जिसके कारण वह दूसरों से सहानुभूति रखता है और अपने-अपने सुख को छोड़कर भी उनके सुख के लिए कोशिश करता है। अतः यह एक प्रकार की अन्तःप्रेरणा है, जो हमें परार्थवाद की ओर ले जाती है। इस प्रेरणा के उल्लंघन करने पर हमारे मन में एक प्रकार की पीड़ा उत्पन्न होती है, जिसे हम सहज रूप मे सहन नही कर सकते।

अन्त में मिल बेन्थम के सिद्धान्त में एक और सुधार ले आया है। वह है सुख मे गुणात्मक भेद। बेन्थम ने गुण के हिसाब से सभी सुखों को समान ही माना था। लेकिन मिल के अनुसार यह मनुष्य की मर्यादा के विपरीत है। अतः इन्होने सुख में गुणात्मक अन्तर भी माना है। इसी कारण इनके सिद्धान्त को उत्कृष्ट उपयोगितावाद कहा गया है।

---

good to that person and the general happiness, therefore, a good to the aggregate of all persons".

बेन्थम के विपरीत मिल ने सुख मे पारिमाणिक अन्तर के साथ गुणात्मक अन्तर भी स्वीकार किया है। दो सुखो मे एक का परिमाण कम होते हुए भी वह गुण मे दूसरे से श्रेयस्कर हो सकता है। मिल ने यहाँ तक कहा है कि परिमाण मे कम होने पर भी जो गुण मे श्रेयस्कर हो, हमे उसी सुख को अंगीकार करना चाहिए।

अब प्रश्न उठता है कि यदि सुख ही हमारा आदर्श है, तो हमे अधिकतम सुख के लिए प्रयास क्यो न करना चाहिए? हम इसकी परवाह न कर गुण के पीछे क्यो दौड़ें? मिल ने इसके उत्तर मे कहा है कि ऐसा मानवीय गरिमा (Human sense of dignity) के कारण होता है। मनुष्योचित मर्यादा के कारण ही हम ऐसा सोचते हैं। हम जीवन के हर पहलू मे गुण का विचार करते हैं; फिर सुख के सम्बन्ध मे ऐसा विचार क्यो होगा? कहना न होगा कि मिल के पहले के विचारको ने भी मानवीय सुख को ऐन्द्रिक सुख से श्रेयस्कर समझा था। परन्तु ऐसा मानना मानसिक सुख का गुण अच्छा होने के कारण नहीं था, वरन् ऐन्द्रिक सुख की अपेक्षा उसमे अधिक टिकाऊपन, विशुद्धता और फलदायक आदि होना था। मिल ने यहाँ पर विरोध करते हुए कहा है कि मानसिक सुख वस्तुतः गुण मे श्रेयस्कर होने से अच्छा है, न कि परिमाण मे। उसने तो यहाँ तक कहा है कि मान लीजिये, क और ख दो सुखो मे से क का परिमाण अधिक है; लेकिन यदि गुण में 'ख' क से बढा हो, तो हमे 'ख' को ही चुनना चाहिए। इस प्रकार सुख में गुणात्मक अन्तर है और वह परिमाण से श्रेयस्कर है। ससार मे शायद ही कोई मनुष्य होगा, जो गुण को छोड़कर परिमाण के पीछे दौड़ेगा। "It is better to be a human being dissatisfied, than a pig satisfied, better to be a Socrates dissatifised than to be a fool satisfied." अतः मानव-मर्यादा ही हमे इस बात के लिए प्रेरित करती है कि हम गुण का ख्याल करें।

यहाँ पर एक दूसरा प्रश्न उठता है कि दो सुखो मे से गुण के हिसाब से कौन-सा श्रेयस्कर है, इसका निर्णय किस प्रकार होगा? इसके उत्तर मे

मिल का कहना है कि ऐसे समय में हमे उन मनुष्यो के निर्णय को स्वीकार करना चाहिये, जिन्हें हर प्रकार के सुख का अनुभव है। "दो सुखो मे से यदि एक के पक्ष मे उन व्यक्तियो का, जिन्हे उन दोनो का अनुभव है, बिना किसी नैतिक दायित्व के निर्णय हो, तो हमें उसी सुख को वाञ्छनीय मानना चाहिये।"१

ऊपर दिये गये मिल के विचारो को देखते हुए हम पाते हैं कि इसने वेन्थम के सिद्धान्त मे निम्नलिखित सुधार लाये हैं :—

(१) मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नैतिक सुखवाद मे समन्वय स्थापित करने का तार्किक प्रयास।

(२) स्वार्थवाद और परार्थवाद मे समन्वय कराने का तार्किक प्रयास।

(३) आन्तरिक अनुज्ञप्ति।

(४) सुख में गुणात्मक अंतर।

उत्कृष्ट उपयोगितावाद की आलोचना।

मिल के सिद्धान्तो की आलोचना करते समय हमें उन सभी बातो को ध्यान मे रखना है, जिनके लिए मिल ने स्पष्ट रूप से प्रयास किए हैं। हमें देखना है कि अपने प्रयासो में वह कहाँ तक सफल हुआ है और उपयोगितावाद को वह कहाँ तक तर्कसंगत बना पाया है।

मिल एक महान तार्किक था। परन्तु उसने इतनी महान तार्किक भूलें की हैं कि उनकी चर्चा करते हुए (D'Arcy) ने लिखा है "It is curious to find a logician falling into a logical blunder so portentous" (A Short Study of Ethics; Page–244)

---

१. "Of two pleasures, if there be one to which all or almost all who have experience of both, give a decided preference, irrespective of any feeling of moral obligation to prefer it, that is more desirable pleasure."

१–मिल की सबसे पहली कोशिश रही है, मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नैतिक सुखवाद में संधि कराना। उसके मतानुसार नैतिक सुखवाद का आधार मनोवैज्ञानिक सुखवाद है। इसके लिए एक सबूत दिया गया है, जो हमलोग देख चुके हैं।

इस सबूत में एक तार्किक दोष है, जिसे आलंकारिक भाषा-दोष (Fallacy of figure of speech) कहते हैं। मिल ने (audible, visible) और (Desirable) में रूपात्मक समानता देखते हुए उन्हें अर्थ में भी समान माना है। परन्तु (desirable) का अर्थ इन दोनों से ही भिन्न है। (Andible) का अर्थ है, जो सुनाई पड़ता हो, (Visible) का अर्थ है, जो दिखलाई पड़ता हो; लेकिन (Desirable) का अर्थ यह नहीं कि जिसकी इच्छा है, वरन् इसका अर्थ है, जो इच्छा करने योग्य है। अतः जहाँ पर प्रथम दोनों का अर्थ वास्तविकता से सम्बन्ध रखता है, वहाँ अन्तिम का सम्बन्ध आदर्श से है। अब हम मिल के सबूत को फिर से देखेंगे। वह इस प्रकार होगा—

कोई आवाज सुनाई पड़ती है (andible)। इसका प्रमाण है कि हम वस्तुतः सुन रहे हैं ......अतः कोई वस्तु इच्छा करने योग्य (desirable) है। इसका प्रमाण है कि हम वस्तुतः उसकी इच्छा करते हैं। स्पष्ट है कि audible और desirable में महान अन्तर है। अतः यह प्रमाण दोषपूर्ण है और मिल इस सन्धि में असफल रहे।

(२) मिल का दूसरा प्रयास रहा है स्वार्थवाद और परार्थवाद में सन्धि करना। हम अभी देखेंगे कि यहाँ भी उसे असफलता ही हाथ लगी है। मिल ने प्रमाण देते हुए कहा है कि चूँकि प्रत्येक मनुष्य का सुख उसके अपने लिए अच्छा है इस लिए सबों का सुख मिलाकर सभी मनुष्यों के लिए अच्छा है। इस प्रमाण में भी दोष है, जिसे fallacy of comparison कहते हैं।

न तो मनुष्य का योगफल किया जा सकता है और न सुखों का ही। सुखों का योगफल सुख नहीं है और उसी प्रकार मनुष्यों का योगफल एक मनुष्य नहीं हो सकता है। यदि सभी मनुष्यों के दिमाग को एक रौलर से दाब-

कर एक कर दिया जाय, तभी मिल का प्रमाण सही हो सकता है। दो मनुष्यों का योगफल दो आदमी, होगा न कि एक आदमी। मेकेनजी ने कहा है—"जिस प्रकार मनुष्यों का योगफल एक मनुष्य नहीं हो सकता, ठीक उसी प्रकार सुखों का योगफल एक सुख नहीं हो सकता। मनुष्यों की भाँति ही सुख भी एक-दूसरे के साथ जोड़े नहीं जा सकते। परिणामतः यदि सिर्फ सुख ही वाँछनीय है, तो सुखों का योगफल कभी वाञ्छनीय नहीं हो सकता।"१ अतः स्वार्थवाद और परार्थवाद मे समन्वय नहीं हो सकता।

(३) मिल का तीसरा सुधार है कि बेन्थम की बाह्य अनुज्ञतियों (Extrenal sanctions) को दोष पूर्ण देखते हुए उसने उसमें एक आन्तरिक अनुज्ञति (Internal sanction) जोड़ दिया है। यह भी सही है कि बाह्य अनुज्ञतियों मे मनुष्यों की बाहरी शक्तियों पर जोर दिया गया था। अतः उनसे लाचारी झलकती थी और वे नैतिक नहीं कही जा सकती थीं। आन्तरिक अनुज्ञति देकर मिल ने इस लाचारी को अवश्य समाप्त कर दिया। अब दूसरों की भलाई करने के लिए हम बाहरी शक्तियों द्वारा लाचार नहीं किये जा सकते, वरन् यह एक प्रकार की अन्तःप्रेरणा है। हम देख चुके हैं कि यह आन्तरिक अनुज्ञति एक प्रकार की आत्मगत भावना (Subjective feeling) है, जिसे हम सहानुभूति, भ्रातृत्व-प्रेम आदि कह सकते हैं। परन्तु इस प्रकार का सिद्धान्त ऐसे तो सही है, लेकिन सुखवादी दृष्टिकोण से यह तर्क-संगत नहीं हो सकता। सुखवादियों के अनुसार हमारे कार्य हमारी भावनाओं के प्रतिरूप हैं, बुद्धि के नहीं। मिल आन्तरिक अनुज्ञति का अर्थ यह भी मानता है कि बुरे काम करने से हमें पश्चात्ताप होता है और अच्छे काम

---

१ "A sum of pleasure is not pleasure; any more than a sum of men is a man, for pleasures, like men, cannot be added to one another Consequently, if pleasure is the only thing desirable, a sum of pleasures cannot be desirable"

A Manual of Ethics; Page—182.

करने से सन्तोष। अतः पश्चात्ताप और दुःख कर्त्तव्यच्युत होने का फल है। ऐसा बुद्धि और तर्क के कारण ही हो सकता है। अतः मिल के अनुसार आन्तरिक अनुज्ञप्ति बुद्धि या तर्क का नतीजा है, न कि भावना का। यह सुखवाद के प्रतिकूल है; क्योंकि सुखवाद में हमारे कार्यों का आधार भावना है, न कि बुद्धि या तर्क ।

(४) इसमें एक दूसरा दोष भी है। एक ओर मिल मनोवैज्ञानिक सुखवाद का प्रतिपादन करता है, जिसके अनुसार हम स्वभावतः अपना सुख चाहते हैं; दूसरी ओर, वह परार्थवाद का प्रतिपादन करता है, जहाँ सर्वाधिक मनुष्यों का सर्वाधिक सुख हमारा अभीष्ट है। दूसरे मत के पक्ष में वह आंतरिक अनुज्ञप्ति का सहारा लेता है। कहना न होगा कि स्वार्थवाद और परार्थवाद एक दूसरे के विरोधी हैं। मिल स्वयं भी इसे स्वीकार करता है और कहता है कि इस प्रकार के द्वन्द्व में अपना सुख छोड़कर दूसरों के लिए प्रयास करना चाहिए। अतः ये दोनों बातें किस प्रकार सही हो सकती हैं? यदि मनुष्य अपना सुख चाहता ही है (मनोवैज्ञानिक सुखवाद) तो फिर उसमें आंतरिक अनुज्ञप्ति और परार्थवाद की गुंजाइश नहीं। यदि आंतरिक अनुज्ञप्ति सही है, तो मनोवैज्ञानिक सुखवाद सही नहीं हो सकता है। अतः मिल में यह विरोधाभास पाते हैं।

(५) मिल के सिद्धान्त में सबसे महत्त्वपूर्ण बात है सुख में गुणात्मक अन्तर। ऐसा मानकर मिल ने मानव मर्यादा को भले ही निभाया हो, सुखवाद को उसने तिलांजलि दे दी है। इसे हम उदाहरण द्वारा समझें। मान लीजिए, क और ख दो प्रकार के सुख हैं। परिमाण में क, ख से अधिक है। बेन्थम मानता है कि यदि 'क' का परिमाण अधिक है, तो हमें इसे स्वीकार करना है। लेकिन मिल के अनुसार 'क' का परिणाम अधिक होने पर भी यदि वह गुण में 'ख' से कम है, तो मानव मर्यादा कहती है कि हमें 'ख' को स्वीकार करना चाहिए। ध्यान देने की बात है कि 'ख' को मिल इसलिए नहीं मानता कि उससे अधिक सुख मिलनेवाला है, वरन् इसलिए कि हमें मानव मर्यादा निभानी है। इसका अर्थ हुआ कि मानव-मर्यादा मिल की

दृष्टि में सुख-प्राप्ति से श्रेयस्कर है। अतः अब आदर्श, मानव-मर्यादा का निभाना होगा, न कि सुख प्राप्ति का। इस तरह मिल ने सुखवाद को एकदम छोड़ ही दिया है। इसलिए मिल ने सुखो मे गुणात्मक अन्तर मानकर सुखवाद को ही तिलाजलि दे दी है।

(६) अन्त मे मिल ने नैतिक निर्णायको (Moral judges) की चर्चा की है। बहुत सुखो मे से किस सुख को चुना जाय, इसके लिए उसका कहना है कि हमे उन अनुभवी पुरुषो की बातो मे विश्वास करना चाहिए, जिन्हें सब प्रकार के सुखो का अनुभव है। परन्तु यह भी सुखवाद का विरोध ही करता है।

किसी प्रकार का निर्णय तर्कसंगत हुआ करता है। ये नैतिक निर्णायक भी अपना निर्णय देते समय बुद्धि का ही प्रयोग करेंगे, न कि भावना का। उनका भी आधार मानव मर्यादा ही होगा, न कि परिणाम मे अधिक सुख-प्राप्ति। अतः इन निर्णायको के निर्णय में भावना से बुद्धि-पक्ष प्रधान है, जो सुखवाद का विरोध करता है। इसके अतिरिक्त यहाँ दूसरो के निर्णय को स्वीकार करने का अर्थ होगा, बाह्य नियमवाद को स्वीकार करना।

अतः हम पाते हैं कि मिल ने उपयोगितावाद को तर्कसंगत बनाने के लिए जितने भी प्रयास किये हैं, सभी असफल रहे हैं।

बौद्धिक सुखवाद

Rationalistic Hedonism (Sidgwick : 1838—1900)

हेनरी सिजविक केम्ब्रीज विश्वविद्यालय में दर्शन के प्राध्यापक थे। अपने समय के एक महान विद्यानुरागी होने के अतिरिक्त ये स्त्री-शिक्षा के प्रतिपक्षी थे। नीति-शास्त्र मे History of Ethics और Methods of Ethics इनकी महान रचनाएँ हैं।

नीति-शास्त्र मे इनका सिद्धान्त सुखवाद, बटलर के अन्तःकरणवाद (intuition) और काण्ट के बुद्धिवाद का एक विचित्र सामंजस्य है। सुखवाद की असंगतियो से हम पूर्णतया परिचित हो चुके हैं। विशेषतया परार्थवाद की कठिनाइयो को हमलोगोने देखा है। प्रस्तुत अध्याय में हमे देखना है

कि सिजविक महोदय ने बुद्धि का सहारा लेकर किस प्रकार इन असंगतियों और कठिनाइयों को दूर करने का प्रयास किया है।

उपयोगितावाद और सुखवाद

सिजविक के सिद्धान्त को भी उपयोगितावाद (utilitarianism) कहा जाता है। इनके अनुसार किसी कार्य का नैतिक मूल्यांकन करते समय हमें देखना चाहिए कि कहाँ तक यह हम में संतोषप्रद और आनन्ददायक स्थिति लाने में सफल हो सका है। यही इस कार्य की उपयोगिता है। फिर ये सुखवादी भी हैं; क्योंकि इनकी दृष्टि में सिर्फ सुख ही चरम लक्ष्य (ulti mate lend) है। हम आगे देखेंगे कि इनका विश्वास पदार्थवाद में भी है, क्योंकि इनके अनुसार व्यक्ति को सभी मनुष्यों के सुख का ध्यान रखना चाहिए। यहाँ तक ये सुखवादी विचारों से सहमत हैं।

परन्तु इसके अतिरिक्त सिजविक का विश्वास है कि हमारे नैतिक निर्णयों में सदा अन्तर्ज्ञान (Intuition) वर्त्तमान रहता है। इस प्रकार उन्होंने बटलर (Butler) के अन्तःकरणवाद को भी अपना लिया है। उनका कहना है कि साधारण मनुष्यों के निर्णयों में यह बात स्पष्ट हो जाती है। साधारण मनुष्य किसी कार्य को अच्छा या बुरा उसकी उपयोगिता के कारण नहीं कहते हैं वरन् यह एक प्रकार का अन्तर्ज्ञान है। कार्यों में अन्त-निहित विशेषताएँ (intrinsic characteristics) पायी जाती हैं, जो उस कार्य को औचित्य या अनौचित्य प्रदान करती हैं। इन विशेषताओं का ज्ञान उन्हें अन्तर्ज्ञान द्वारा होता है। साधारण मनुष्यों की दृष्टि में क्रूरता (cruelty) बुरी है, क्योंकि यह क्रूरता है, झूठ बोलना बुरा है क्योंकि यही झूठ बोलना है। इन सभी कार्यों को बुरा मानने का ज्ञान अनुभव नहीं, वरन् अन्तर्ज्ञान पर निर्भर है। इसका अर्थ है कि उनके परिणाम बुरे होते हैं, वरन् यह एक प्रकार का साक्षात् ज्ञान है, जिसका आधार अनुभव नहीं, अन्तर्ज्ञान है। इस प्रकार सिजविक का विश्वास है कि नैतिक निर्णयों में अन्तर्ज्ञान का भी हाथ रहता है। फिर बटलर की भाँति इन्होंने भी मनुष्य में निःस्वार्थ

स्नेह को माना है; जिसके कारण हर व्यक्ति दूसरों के हित के लिए कार्य करने को प्रेरित होता है। फिर कॉण्ट के साथ भी ये सहमत हैं कि वही कार्य करने योग्य है, जो बुद्धिपूर्ण हो। जो कार्य विवेकपूर्ण जान पड़ें, हमें उसे करना ही चाहिए। अतः कार्य करते समय हमें स्वार्थ से ऊपर उठकर कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित होना चाहिए। इस प्रकार कॉण्ट ही की तरह उन्होंने विवेक और बुद्धि को उच्च स्थान प्रदान किया है; परन्तु कॉण्ट से अन्य बातों में ये सहमत नहीं।

इस प्रकार हम पाते हैं कि सिजविक का नैतिक दर्शन मिल के उपयोगितावाद, बटलर के अन्तःकरणवाद और कॉण्ट के बुद्धिवाद का एक विचित्र सामंजस्य है। साधारणतया इन तीनों ही सिद्धान्तों में हम विरोध पाते हैं; परन्तु सिजविक के सुखवाद में इन तीनों की ही त्रिवेणी प्रवाहित होती दीख पड़ती है।

सिजविक की दृष्टि में मनोवैज्ञानिक सुखवाद दोषपूर्ण

हम पीछे देख चुके हैं कि बेन्थम, मिल आदि मनोवैज्ञानिक सुखवाद में विश्वास करते थे। इनके अनुसार मनुष्य सुख ही चाहता है। मिल ने भी नैतिक सुखवाद तक पहुँचने के लिए मनोवैज्ञानिक सुख को ही आधार बनाया था। उनके अनुसार सुख हमारा आदर्श है, क्योंकि मनुष्य मात्र इसे चाहता ही है। परन्तु सिजविक इसका विरोध करता है। उनके अनुसार सुख हमारा आदर्श है, इसलिए नहीं कि हम उसे चाहते ही हैं, वरन् इसलिए कि वहबुद्धि-संगत है। जब हम शान्त चित्त होकर सोचते-विचारते हैं, तो पाते हैं कि सुखही हमारा चरम आदर्श है। इसी की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है—

१. 'जब हम शान्तिपूर्वक बैठते हैं, तो पाते हैं कि सुख के अतिरिक्त अन्य

---

१. ' When we sit down in a cool hour, we perceive that there is nothing which it is reasonable to seek—i. e nothing which is desirnable in itself—except pleasure.''

ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जो स्वतः वाञ्छनीय हो, अथवा जिसकी प्राप्ति विवेक-पूर्ण हो।"

इस प्रकार बुद्धिसंगत होने के कारण ही उन्होंने सुख को ही परम लक्ष्य माना है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद का विरोध करते हुए उन्होंने कहा है कि इसमें "सुखवाद का विरोधाभास" (Paradox of hedonism) है। सुख के पीछे हम जितना ही दौड़ेंगे, सुख हमसे उतना ही दूर भागेगा। इसका उल्लेख हम मनोवैज्ञानिक सुखवाद की आलोचना करते समय कर चुके हैं।

परार्थ सुखवाद
Universalistic Hedonism

जहाँ मिल और बेन्थम का उपयोगितावाद अनुभव एवं भावना पर आधारित है, वहाँ सिजविक का उपयोगितावाद और सुखवाद का सिद्धान्त अन्तर्ज्ञान एवं विवेक पर आश्रित है।

सिजविक, बटलर की भाँति अपने सिद्धान्त को अन्तर्ज्ञान की आधार-शिला पर आश्रित करते हुए, फिर इस अन्तर्ज्ञान को काँण्ट की व्यावहारिक बुद्धि (Practical Reason) के तुल्य मान लेते हैं, इसे हम संक्षेप में इस अध्याय के आरंभ में ही देख चुके हैं। सिजविक के अनुसार नैतिकता का तकाजा है कि हम सदा कर्त्तव्य-निर्धारण में अपनी बुद्धि का सहारा लें और उसकी आज्ञा का पालन भी करें। शान्त-चित्त होकर सोचने पर हमारा विवेक हमें कहता है कि सिर्फ सुख ही हमारा चरम लक्ष्य है। परन्तु मिल, बेन्थम आदि परार्थवादियों की तरह सिजविक भी परार्थवादी हैं। स्वार्थवाद और परार्थवाद में सन्धि कराने के लिये बेन्थम और मिल के असफल प्रयासों को ध्यान में रखते हुए सिजविक ने इसके लिए अपने सुझाव दिये हैं। उनके अनुसार जहाँ व्यक्ति स्वार्थपरायण होता है, वहीं उसमें "निःस्वार्थ स्नेह" की भावना भी होती है। इससे प्रेरित होकर उसका विवेक उसे आज्ञा देता है कि वह अपने सुख ही की भाँति अधिक-से-अधिक मनुष्यों

के सुख के लिए भी प्रयास करे। चूँकि स्वार्थवाद से परार्थवाद की ओर जाने के लिए सिजविक ने बुद्धि का सहारा लिया है, इसलिए उनके इस सिद्धान्त को बौद्धिक उपयोगितावाद (Rational utilitarianism) भी कहा जाता है।

उनके अनुसार मानव स्वभाव तीन प्रकार की वृत्तियो से निर्मित है। आत्मस्नेह (Self-love), सर्वभूत स्नेह (Benevolence) और न्याय (Justice)। चूँकि ये तीनो ही मानव-वृत्तियाँ ही हैं; अतः इन सबो का जीवन मे यथोचित स्थान होना आवश्यक है। सिजविक के परार्थवाद को भली भाँति समझने के लिए हमे इन तीनो की ही व्याख्या अलग-अलग करनी होगी।

आत्मस्नेह
(Self-love)

मात्र आत्म-स्नेह तो हमें क्षणिक आनन्द की प्राप्ति के लिए प्रेरित करता है। यहाँ वर्त्तमान का सुख ही सब से श्रेयस्कर समझा जाता है। ऐरीस्टीपस के सिद्धान्त मे हमने ऐसा ही पाया है। परन्तु सिजविक के अनुसार जीवन मे हम विवेक से सहारा लेना चाहिए। हमारा विवेक वर्त्तमान तक ही हमे सीमित नही रखता, वरन् वह सम्पूर्ण जीवन को सुखी देखना चाहता है। एपीक्युरस के सिद्धान्त में हम ऐसा पाते हैं। अतः हमारा विवेकात्मक आत्म-स्नेह (Rational self love) हमे बतलाता है कि वर्त्तमान के साथ ही साथ हमें भविष्य का भी ख्याल रखना चाहिए। यदि वर्त्तमान में सुख त्यागनें पर भविष्य मे अधिक सुख की आशा हो, तो ऐसा करना ही चाहिए। साराश यह है कि हमारा विवेकपूर्ण आत्म-स्नेह हमें बतलाता है कि जीवन के सर्वांगीन सुख का ध्यान रखना चाहिए, न कि क्षणिक सुख का। स्पष्ट है कि इस प्रकार का आत्म-स्नेह हमे स्वार्थ तक ही सीमित रखता है; परन्तु इसके अतिरिक्त हममें परार्थ की भावना भी वर्त्तमान रहती है।

सर्वभूत स्नेह
(Benevolence)

अनुभव के आधार पर हम स्वार्थवाद और परार्थवाद में सन्धि स्थापित नहीं कर सकते। बेन्थम और मिल की असफलताओं का यही कारण था। अपितु, सिजविक ने इसके सामंजस्य के लिए अन्तर्ज्ञान और विवेक का सहारा लिया है। आत्म-स्नेह के साथ मनुष्य में सर्वभूत स्नेह भी पाया जाता है और यह उन्हें प्रेरित करता है कि दूसरों का सुख उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना अपना। कहना न होगा कि यह सर्वभूत स्नेह-बुद्धि की ही उपज है। जिस प्रकार हमारा विवेकपूर्ण आत्म-स्नेह कहता है कि जीवन का प्रत्येक क्षण समान रूप से महत्त्वपूर्ण है; हमें सम्पूर्ण जीवन को आनन्दमय और सुखमय बनाना है, ठीक उसी प्रकार हमारा सर्वभूत स्नेह भी हमें आदेश देता है कि प्रत्येक मानव महत्त्वपूर्ण है और इसीलिए हमें सभी मनुष्यों के सुख के लिए सतत् प्रयत्नशील होना चाहिए। सिजविक ने कहा है—

"नैतिक दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति का यह धर्म है कि वह अपनी भलाई के समान दूसरों की भलाई का भी विचार करे। मुझे दूसरे की अधिक भलाई की अपेक्षा अपनी कम भलाई को मान्यता नहीं देनी चाहिए।"[१]

इस प्रकार हमारा सर्वभूत स्नेह हमें अपने और दूसरों के सुख में निष्पक्ष भाव से रहने के लिए प्रेरित करता है। अतः सिजविक के अनुसार यही सर्वभूत स्नेह स्वार्थवाद और परार्थवाद के बीच की कड़ी है।

व्यावहारिक बुद्धि का द्वन्द्व
Dualism of Practical Reason

ऊपर से देखने से तो ऐसा मालूम होता है कि सिजविक ने सर्वभूत

१—"Each one is morally bound to regard the good of another individual as much as his own"

"I ought not to prefer my own lesser good to the greater good of another".

स्नेह द्वारा सचमुच ही स्वार्थवाद के बदले परार्थवाद की स्थापना कर दी। परन्तु वास्तव मे यह इतना आसान नही। आत्म-स्नेह और सर्वभूत स्नेह में एक प्रकार का द्वन्द्व है। इसे ही सिजविक ने व्यावहारिक बुद्धि का द्वन्द्व (Dalism of practical reason) कहा है। ये दोनो ही बुद्धि-प्रसूत हैं। अतः समान रूप से महत्त्वपूर्ण भी हैं। हम तो मूलतया आत्म-स्नेह द्वारा प्रेरित होते हैं, परन्तु बाद मे सर्वभूत स्नेह हमे परार्थवाद की ओर प्रेरित करता है। क्या यह संभव है कि बाद मे उत्पन्न सर्वभूत स्नेह, आत्म-स्नेह का दमन करे? अतः हमारा स्वार्थ, फिर भी, हमारा परम लक्ष्य रह ही जाता है। जैसा कि मैकेनजी ने कहा है—

'अब यह गौण अनुसंधान प्राथमिक प्रधान सत्य का अतिक्रमण नही कर सकता। इसलिए हमलोग अभी भी स्वार्थ को ही चरम लक्ष्य मानते हैं।"[१]

जैसा कि हमने कहा है कि सिजविक स्वयं भी इस द्वन्द्व से अवगत थे और उन्होने इसे दूर करने का प्रयास भी किया है।

इनके अनुसार तो जिस प्रकार हमारा विवेक हमारे आत्म-स्नेह पर अंकुश लगाकर हमारे सम्पूर्ण जीवन को सुखमय बनाने का प्रयास करता है, उसी प्रकार हमारा विवेक हमारे आत्म-स्नेह का दमन कर हमें सर्वभूतस्नेह की ओर प्रेरित करता है। आखिर नैतिकता तो इसीमें है।

न्याय (Justice)

मानवीय स्वभाव की तीसरी वृत्ति न्याय है। यह हमे सुख के समान वितरण (equitable distribution) के लिए प्रेरित करता है। एक ओर तो हमें यह बतलाता है कि जीवन के प्रत्येक क्षण का महत्त्व है। भविष्य उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना वर्त्तमान। दूसरी ओर, हमें यह बतलाता है कि प्रत्येक मानव का सुख समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। अपने सुख

---

[१]"Now, this secondary discovery can not overthrow the first primary truth. Hence we are bound still to regard our own pleasure as a supreme good."

को दूसरों के सुख से बड़ा मानना न्यायपूर्ण और नैतिक नहीं है। परन्तु यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि समानता का अर्थ पूर्णरूपेण समानता (absolute equality) नहीं है। जीवन का न तो प्रत्येक क्षण एक दम बराबर है और न प्रत्येयक मनुष्य ही बिलकुल समान है। उनमें अन्तर तो है ही। न्याय-व्यवस्था का काम है कि वह हमें बतलाये कि जीवन का कौन-सा क्षण अधिक महत्त्वपूर्ण है और कौन-सा मनुष्य श्रेयस्कर। कहना न होगा कि इस प्रकार का निर्णय हम आवेश में आकर नहीं कर सकते, वरन् विवेक—विवेकप्रजन—न्याय-वृत्ति द्वारा हम इसका निर्णय करते हैं। जीवन के कुछ क्षण अन्य क्षणों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं; क्योंकि उसमें आनन्द-भोग-शक्ति अधिक होती है। उसी प्रकार कुछ मनुष्य अन्य मनुष्यों की अपेक्षा श्रेयस्कर होते हैं; क्योंकि वे अधिक बुद्धिमान और अच्छे हैं। इस प्रकार न्याय का भी जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

ये ही तीनों मानव-प्रकृति की सहज वृत्तियाँ हैं। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि विवेकपूर्ण आत्म-स्नेह व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को सुखी बनाता है, सर्वभूत स्नेह व्यक्ति की अपेक्षा मनुष्य-मात्र के सुख को ध्यान में रखता है और न्याय इस बात का निर्णय करता है कि जीवन का कौन-सा क्षण और विश्व का कौन-सा मनुष्य सुख-प्राप्ति के योग्य है।

यही सिजविक का विवेकपूर्ण उपयोगितावाद या परार्थवाद है।

बौद्धिक सुखवाद की आलोचना

सिजविक के सिद्धान्त की यह प्रमुख विशेषता रही है कि उन्होंने मानव-जीवन में विवेक या बुद्धि को यथेष्ट स्थान देने का प्रयास किया है। परन्तु एक ही साँस में सुखवादी और बुद्धिवादी होने के कारण उसके सिद्धान्त में बहुत-सी कठिनाइयाँ उठ खड़ी हुई हैं। यहाँ हम उन्हीं में से कुछ की चर्चा करेंगे—

१ हमने आरंभ में ही कहा है कि सिजविक का नीति-दर्शन, बटलर, काण्ट और सुखवाद के सिद्धान्त का विचित्र सामंजस्य है। यदि हम

सिजविक के सिद्धान्त को व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखें, तो पाते हैं कि कर्त्तव्य-पालन के दृष्टिकोण से तो वे बटलर और काण्ट के साथ हैं, परन्तु आदर्श की दृष्टि से सुखवाद के साथ। उनके अनुसार व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह दूसरो की आदर्श-प्राप्ति में सहायक हो। लेकिन जब वह दूसरो के आदर्श की चर्चा करते हैं कि वह आदर्श है क्या तो उनका उत्तर है सुखप्राप्ति। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यक्ति का एक आदर्श हुआ और समाज का दूसरा। व्यक्ति का आदर्श हुआ कर्त्तव्य-पालन और समाज के अन्य व्यक्तियो का आदर्श हुआ सुख-प्राप्ति। इसे हम उदाहरण द्वारा समझें—मान लीजिए 'क' और 'ख' दो व्यक्ति हैं। 'क' का कर्त्तव्य होगा 'ख' की सुख-प्राप्ति के लिए प्रयास, लेकिन 'ख' का आदर्श है सुख-प्राप्ति।

यहीं सिजविक के सिद्धान्त का विरोधाभास है। यदि उन्होने कॉण्ट के कर्त्तव्य-पालन को अपनाया, तो उसके उस नियम को भी अपनाना चाहिए था, कि कर्त्तव्य सार्वभौमिक हो सके। परन्तु हम इसका सर्वथा अभाव पाते हैं। अतः सिजविक के सिद्धान्त मे समान आचरण और आदर्श का अभाव है।

२. इसका दूसरा दोष है कि परार्थवाद की व्याख्या विवेक द्वारा करने में यह सुखवाद का परित्याग कर देता है। हम पहले से ही देखते आ रहे हैं कि परार्थवाद की व्याख्या करने के जितने भी प्रयास किए गये हैं, वे सभी दूसरी ओर सुखवाद को छोड़ते गये हैं। सिजविक में तो यह और भी स्पष्ट हो जाता है। इसलिए कहा भी जाता है कि—

"बेन्थम, मिल, सिजविक और स्पेन्सर द्वारा सुखवाद का विकास सुखवादीय सिद्धान्त के क्रमिक परित्याग का उदाहरण है।"

(The progress of Hedonism through Benthem, Mill, Spencer, and Sidgwick is an illustration of the gradual surrender of the Hedonistic Principle"

यहां हमें देखना है कि सिजविक पर यह आलोचना कैसे लागू है।

सही है कि हमारा आत्म-स्नेह (self-love) हमें स्वार्थ के लिए प्रेरित करता है। फिर हम दूसरों के लिए प्रयास क्यों करें ? उत्तर होगा—क्योंकि यह विवेकपूर्ण है, हमारा कर्त्तव्य है। यहीं पर दिक्कत शुरू होती है। कहाँ तो आरम्भ में सिजविक ने माना कि चरम लक्ष्य सिर्फ सुख है। परन्तु अब परार्थ की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि दूसरों के लिए प्रयास हम इसलिए न करें कि वह सुखप्रद हैं, वरन् इसलिये कि वह विवेकपूर्ण है। कहाँ रहा वह चरम लक्ष्य ? अब तो नैतिकता का माप-दंड सुख नहीं, वरन् विवेक और कर्त्तव्य हो गया। अतः परार्थ के पीछे सुखवाद को ही सिजविक ने तिलांजलि दे दी। D'Arcy ने इसकी आलोचना करते हुये बहुत ही सुन्दर शब्दों में लिखा है :—

"लोग सार्वलौकिक सुख-कल्याण की खोज क्यों करते हैं ? इसीलिए न कि ऐसा व्यवहार उनके अस्तित्व का नियम है ? सुख तो अब कदापि नैतिकता का आधार नहीं, मनुष्य स्वयं नीति का आधार है।"

३—स्वार्थवाद और परार्थवाद में सन्धि स्थापित करने में भी सिजविक असफल रहे हैं। इसे उन्होंने स्वयं भी "व्यावहारिक बुद्धि का द्वन्द्व" कहकर स्वीकार किया है। जहाँ तक बुद्धि का सहारा लिया है, ठीक है; परन्तु उनका दोष है कि वे 'सुखवाद' को नहीं छोड़ सके। जब तक सुख को हम आदर्श मानते रहेंगे, स्वार्थ और परार्थ में सन्धि हो नहीं सकती। यदि सुख ही अभीष्ट है, तो फिर व्यक्ति अपने सुख को छोड़कर दूसरों के लिए क्यों प्रयास करेगा ? हमने अभी देखा है कि अब इसके लिए उन्होंने बुद्धि का सहारा

Why must man seek universal happiness, the common good ? Because it is reasonable. Because that is, it is the law of his being to do so. Pleasure is no longer the basis of morality, the basis is found in the man himself. "

—A Short Study of Ethics, page-246.

लिया, तो फिर सुखवाद का संग छूट गया।

अतः सुखवादी रहते हुए स्वार्थ में सन्धि हो नहीं सकती। यही कारण है कि सिजविक भी अन्य सुखवादियों तरह इस प्रयास में असफल रहे हैं। हम आगे देखेंगे कि पूर्णतावाद (Perfectionism) ही स्वार्थ और परार्थ में सन्धि स्थापित कर सकता है।

४–सिजविक का 'बौद्धिक उपयोगितावाद" भिन्न-भिन्न सिद्धांतों का बेमेल और असंगतपूर्ण सामंजस्य है। उन्होंने सुखवाद को बुद्धिवाद से और उपयोगितावाद को अन्तःकरणवाद से मिलाने का असफल प्रयास किया है। एक ओर तो वह मान लेते हैं कि चरम लक्ष्य अन्तर्ज्ञान और बुद्धि की उपज है; फिर दूसरी ओर मानते हैं कि सुख-प्राप्ति ही सदा हमारे विवेक को संतोषप्रद नहीं मालूम पड़ता है। कभी-कभी कर्त्तव्य-पालन ही श्रेयस्कर मालूम पड़ता है। परार्थवाद की व्याख्या के सिलसिले मे इसे हम पाते हैं। इन सभी असंगतियों का कारण है विरोधी सिद्धातों के एकीकरण का असफल प्रयास।

५–विरोधी सिद्धान्तों को एक करने का ही फल है कि यहाँ 'विवेकपूर्ण' (Reasonable) का अर्थ भी समान नहीं रह सकता। यदि एक स्वार्थी कहता है कि उसका अपना सुख ही लक्ष्य है, तो उसे हम 'विवेकपूर्ण' कहते हैं। फिर कोई परार्थवादी कहता है कि दूसरों का सुख लक्ष्य है तो, उसे भी हम विवेकपूर्ण कहते हैं। स्पष्ट है कि स्वार्थ और परार्थ विरोधी चीजें हैं। फिर दो विरोधी चीजें एक कैसे हो सकती हैं ? इसका अर्थ होगा कि हमें दोनों जगह "विवेकपूर्ण" के अर्थ मे अन्तर मानना होगा, यह और अधिक हास्यास्पद लगता है।

ये ही सब सिजविक की कठिनाइयाँ हैं।

दसवाँ अध्याय

विकासवादी सुखवाद
Evolutionry Hedonism

नीति-शास्त्र के इतिहास मे हम स्वार्थ और परार्थ मे स दा ही किसी न किसी प्रकार का द्वन्द पाते रहे हैं। हाब्स (Hobbes) ने आत्मरक्षा (Self reserving) और आत्मतुष्टि (Self Gratifying) जैसी मनोभावनाओ को ही मानवीय आचरण का आधार माना था। सहानुभूति और सामाजिक प्रेम को भी वह इनसे अधिक कुछ नही मानता। हाब्स के इस पूर्णतया स्वार्थवादी सिद्धान्त का विरोध करते हुए बटलर (Butler) ने बतलाया कि वस्तुतः मानवीय प्रकृति की जड मे स्वार्थ की भावनाएँ नहीं रहती, वरन् सामाजिक प्रेम की भावनाएँ ही काम करती हैं। हमारा अन्तः-करण (Consciens) हमे इस बात के लिये प्रेरित करता है कि सामाजिक हित के लिये हम व्यक्तिगत हित का त्याग करे। यह बात दूसरी है कि हम सदा अपने अन्तःकरण के आज्ञानुसार काम नही करते। इसी प्रकार कामते (Comte) स्वार्थवादी और परार्थवादी भावनाओं में एकीकरण बताते हुए कहते हैं कि व्यक्तिगत सुखोपार्जन का सर्वोत्तम उपाय यही है कि मनुष्य स्वार्थ मूलक भावनाओ को परार्थमूलक भावनाओ के अन्तर्गत रख दे। बुद्धिवादी फिटले (Fitle) और 'हेगेल' (Hegel) के अनुसार भी व्यक्ति अपना उद्देश्य साधन तभी कर सकता है जब वह अपनी इच्छाओ को पूरे समाज की इच्छाओ में मिला दे। विकासवादी सिद्धान्त इन सबो से अलग है। यह मानता है कि मनुष्य में दोनो प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं और वे काम भी करती हैं। एक ओर जहाँ वह आत्मरक्षा (Self preservation) करना चाहता

है वहीं दूसरी ओर जाति रक्षा भी करना चाहता है। विकासवादी लोग विकासवाद के अनुसार इन दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियों की उत्पत्ति और प्रयोजन की व्याख्या करते हैं।

विकासवादी सुखवाद की विशेषताएँ

डारविन (Darwin) के विकासवाद का सम्बन्ध प्राणियों के विकास से था। इस सिद्धान्त को नीति-शास्त्र मे प्रतिपादित करने वाले प्रधान विचारक (Herbert Spencer, (1820–1903) Leslie, Stephen और Alexander आदि हैं। अतः यहाँ उन्हीं के विचारो के सम्बन्ध में हम छान-बीन करेंगे। इस सिद्धान्त मे हम निम्नलिखित विशेषताएँ पाते हैं।

नीति-शास्त्र का विषय—इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य, उसके आचार और आदर्श सभी विकास के फल हैं। विकास की प्रक्रिया (Survival of the fittest) के सिद्धान्त के अनुसार प्राणी अपने को परिस्थिति के अनुरूप बनाने के लिये सचेष्ट रहता है। जो प्राणी नयी-नयी परिस्थितियों मे जितना ही अधिक खप जाता है वह अस्तित्व संघर्ष (Struggle for Existence) मे सफल होता है। **परिस्थिति के अनुकूल बनने की क्रिया को ही हम आचरण कहते हैं।** जैसे-जैसे मनुष्य का जीवन और उसकी आवश्यकताएँ बढती जाती हैं उसके आचरण का विकास भी होता जाता है। यदि ऐसा न हो तो फिर उस जाति का अन्त ही हो जायगा क्यो कि वह परिस्थिति के अनुकूल बदल नहीं सकता। अब इस आचरण का विकास तीन दिशाओं मे होता है—आत्मरक्षा, संतानरक्षा और जाति-रक्षा। जीवन के विकास के साथ ही मनुष्य इन सभी दिशाओं मे अधिक से अधिक पूर्ण होना चाहता है। विकास मे चूँकि प्राणियों मे मनुष्य का विकास सबसे अन्त मे हुआ है। अतः नीति-शास्त्र का विषय मानवीय आचरण ही है जो वस्तुतः अपने अन्दर पूरे विश्व को अपनाये हुए है।

नैतिक आदर्श—स्पेंसर के अनुसार हमारा आदर्श सुखप्राप्ति ही है। इसीलिये इसके सिद्धान्त को सुखवाद कहा गया है। आदर्श की चर्चा करते हुए वह कहता है कि यह एक ऐसी मान्यता है। जिसमे आशावादी

और निराशावादी दोनो ही का विश्वास है। दोनो के तर्क से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन अच्छा या बुरा उसी अनुपात मे है जिस अनुपात मे उसमे सुखप्रद भावनाओं का समावेश अथवा अभाव होता है। निराशावादियों के अनुसार जीवन निन्दनीय है क्योंकि इससे सुख की अपेक्षा दुःख की मात्रा ही अधिक होती है। आशावादी जीवन की प्रशंसा करता है क्योंकि उसके अनुसार दुःख की अपेक्षा सुख की ही मात्रा अधिक है। १

स्पेंसर की इस उक्ति से बिल्कुल ही स्पष्ट हो जाता है कि वह सुख को ही आदर्श मानता है। वह स्पष्ट शब्दो में कहता भी है—"कोई भी मत इस बात की अवहेलना नहीं कर सकता कि चरम नैतिक आदर्श एक वाञ्छित भावना की स्थिति है जो तृप्ति, सुख, अथवा आनन्द किसी नाम से भी पुकारा जा सकता है। २

नीति-शास्त्र की पद्धति—हमने अभी देखा कि स्पेसर आचरण की व्याख्या विकासवादी मत के अनुसार करते हैं। इसका अर्थ है कि आचरण को हम जिस रूप में पाते हैं वह वस्तुतः उत्तरोत्तर विकास का ही फल है। अब इस मत मे विश्वास करने पर हम नैतिक आचरण की व्याख्या दो रूपो मे कर सकते हैं।

---

१ "There is one postulate in which the pessimists and optimists agree. Both their arguements assume to be self-evident that life is good or bad, according as it does, or does not, bring a surplus of agreeable feeling. The pessimists says he condemns life because it results in more pain than pleasure. The optimist defends life in the belief that it brings more pleasure than pain." Date of Ethis—Page 27, 28

२ "No school can avoid taking for the ultimate moral aim a desirable state of feeling called by what ever name-gratification, enjoyment, happiness." Ilid-page 94

—आरम्भ की स्थिति के दृष्टिकोण से या आदर्श के दृष्टिकोण से स्पष्ट है कि हर विकास में तीन बातें पाई जाती हैं—पहला है आरम्भ जहा से विकास होना शुरू हुआ, दूसरा है वर्त्तमान स्थिति जो हमारे सामने हुआ करता है और अन्तिम है आदर्श जिस ओर विकास हो रहा है। कहना न पड़ेगा कि हम पहली और अन्तिम स्थिति से पूर्णतया अवगत नहीं हो सकते। जहा तक दूसरे का प्रश्न है उसका अर्थ शेष दोनों ही पर निर्भर है। अतः इस वर्त्तमान की व्याख्या चाहे तो हम आरम्भ के आधार पर कर सकते हैं या आदर्श के आधार पर।

विद्वानो ने दोनो ही आधार को अपनाया है। (Spencer) ने आचरण की व्याख्या आरम्भ की ओर से की है और (Green) आदि ने आदर्श की ओर से।

दोनो विधियो में से कौन-सी विधि उपयुक्त है यह कहना कुछ कठिन है। नीति-शास्त्र एक विज्ञान है और हर विज्ञान अपनी समस्याओ की व्याख्या कार्य-कारण सम्बन्ध पर करना चाहता है और इस दृष्टिकोण से (Spencer) ठीक हैं। लेकिन नीति-शास्त्र के आदर्शनिष्ठ होने के कारण (Green) का मत भी गलत नहीं कहा जा सकता। अतः दोनो ही विधियो के अपने-अपने दोषगुण हैं।

स्पेंसर (Spencer) की विधि का नीतिशास्त्र पर प्रभाव

हमने देखा कि नैतिक विकास, सामान्य विकास-सिद्धात का ही एक अंग है। जिस प्रकार प्राणी-विकासवाद (Bilogical Evolution) में मनुष्य की उत्पत्ति की व्याख्या निम्नकोटियो के जानवरों के आधार पर की जाती है, उसी प्रकार नैतिक विकास मे भी हमारे आज के नैतिक सिद्धातो को प्राचीनतम नैतिक सिद्धान्तों का विकास-मात्र ही समझा जाता है। हमारे आज के सिद्धात बिलकुल नवीन नहीं वरन् नयी परिस्थिति से बरतने के लिए ही पुरानी वसूलो का सुधार मात्र हैं। अस्तित्व-संघर्ष मे उसी व्यक्ति या जाति की रक्षा होती है, जो उस परिस्थिति का सामना ठीक प्रकार से कर सकता है। जैसे जैसे परिस्थितियाँ बदली है, आत्मरक्षा के लिए हमें भी उसके साथ

बदलना पड़ा है। यह सही है कि प्राचीनतम सिद्धांतों और आधुनिक सिद्धांतों मे कुछ भी साम्य नहीं मालूम पड़ता, लेकिन यदि हम युग-सिद्धांतो के साथ-साथ युग-परिस्थितियो पर भी दृष्टि डालें।तो फिर उनमे एक स्पष्ट क्रमिक विकास मालूम पड़ता है। आज के युग के नवीनतम सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता, विश्वबन्धुत्व, समाजवाद आदि वस्तुतः कुछ नहीं, वरन् वर्त्तमान स्थिति से बरतने के लिए उपयुक्त साधन-मात्र हैं। आज का मानव युग-युग के मानवीय सिद्धान्तो को अपने मे समेटते हुए पिछले अनुभवो को सृजन करता है। जिस प्रकार पुत्र अपने माता-पिता या पूर्वजो के गुण-अवगुणों को अर्जन करता हुआ फिर नयी परिस्थितियों का सामना करता है उसी प्रकार पूरी मनुष्य जाति भी प्रगति करती है। अतः इस मत के अनुसार आज के नैतिक सिद्धानो की पूर्ण व्याख्या के लिए हमें पीछे की ओर मुड़कर देखना होगा।

इसके लिए हमें सिर्फ मानवीय आचरणो को ही नहीं देखना है वरन् भिन्न-भिन्न कोटि के जानवरो को भी देखना होगा क्योंकि विकासवाद विश्वास कहता है कि मनुष्य भी जानवरो के विकास का ही फल है।

Spencer अपनी पुस्तक (Principles of Ethics) में लिखता है—"आचरण को पूर्ण रूप से समझने के लिए हमें सिर्फ मानवीय आचरण का ही विचार नहीं करना है, वरन् इसके लिए तो हमें उसे सार्वभौमिक आचरण का एक अंग मानना होगा जिसकी अभिव्यक्ति सभी जीवित प्राणियो में पायी जाती है।"......"अति विकसित की व्याख्या हमें अन्य अल्प विकसित के द्वारा ही करनी होगी।" १

१—"A Complete comprehension of conduct is not to be obtained by contemplating the conduct of of human beings only, we have to regard this as a part of universal conduct—Conduct as exhibited by all living creatures"..."We must interpret the non-developed by the less developed".

स्टेफेन के अनुसार समाज का जीवधारी स्वरूप
(Organic Nature of society according to Stephen)

विकासवादी नीति-शास्त्र का सबसे महत्वपूर्ण और प्रमुख सिद्धान्त, 'समाज का जीवधारी स्वरूप' है। जिस प्रकार मनुष्य का पूरा शरीर एक जीवधारी है, उसी प्रकार समाज भी एक जीवधारी है। हमारे शरीर के अंगों का जिस प्रकार पूरे शरीर से अलग कोई स्थान नहीं उसी प्रकार समाज में व्यक्तियों का भी समाज से अलग वह स्थान नहीं रह सकता। फिर, जैसे हमारे भिन्न-भिन्न अंग एक विशेष प्रकार से मिलने पर शरीर की रचना करते हैं, उसी प्रकार समाज के व्यक्तियों के एक विशेष प्रकार का पारस्परिक सम्बन्ध समाजरूपी जीवधारी का निर्माण करता है।

यदि हाब्स की ओर देखते हैं तो पाते हैं कि उसके अनुसार समाज, व्यक्तियों का उसी प्रकार का यांत्रिक योगफल (Mechanical Aggregate) है जिस प्रकार एक मिट्टी का ढेला, कणों का समूह मात्र है। व्यक्ति एक स्वतन्त्र इकाई है जिसका चरम लक्ष्य आत्मरक्षा है। विकासवादी सिद्धान्त में स्टेफेन ने इसके विपरीत उपर्युक्त मत (Organic nature of society) का प्रतिपादन करता है।

समाज के अन्तर्गत रह कर ही मनुष्य, मनुष्य कहा जाता है। समाज एक निष्क्रिय परिस्थिति नहीं, जिसमें मनुष्य रहता है, वरन् वह एक सक्रिय संस्था है जो मनुष्य के जीवन को एक विशेष रूप में ढालता है।

समाज की तुलना जीवित प्राणी से सिर्फ इसलिये ही नहीं की जाती कि व्यक्ति और समाज एक दूसरे के पूरक हैं, वरन् इसलिये भी कि समाज एक व्यक्ति ही की तरह परिस्थिति से संघर्ष करता है और उसी में उसकी उन्नति होती है।

वनस्पतियों और जानवरों की तरह समाज भी परिस्थिति के अनुसार बनता-बिगड़ता है। यहाँ भी "Survival af the fittest" का नियम कार्य्य करता है। जो समाज परिस्थिति में जितना ही अपने को अनु-

कूल बना पाता है, दूसरे की अपेक्षा वह उतना ही मजबूत होता है। जो समाज परिवर्तनशील परिस्थिति से संघर्ष नहीं कर सकता उसका नाश हो जाता है। समाज की सफलता निर्भर होती है उसके अन्दर के व्यक्तियों के सम्बन्ध पर। "किसी समाज की सफलता उसकी आन्तरिक व्यवस्था, अंगों के सम्बन्ध और फिर उसके सदस्यों के बीच के सम्बन्ध पर ही निर्भर करता है।" १

चरम लक्ष्य (Ultimate End) और तात्कालिक लक्ष्य (Proximate End)

इस सम्बन्ध में सभी विचारकों में कुछ अन्तर रहा है। स्पेंसर ने चरम लक्ष्य और तात्कालिक लक्ष्य में भेद किया है। हम देख चुके हैं कि वे स्पष्टतया सुखवादी हैं। उन्होंने आनन्द (Happiness) को व्यक्ति का आदर्श माना है। वह व्यक्ति का चरम लक्ष्य है। परन्तु इसके अतिरिक्त व्यक्ति का एक तात्कालिक लक्ष्य भी होता है। वह है जीवन का विस्तार। उनका कहना है—"The ultimate end of life is happiness, but the proximate end of life is the length and breadth of life."

जीवन की लम्बाई का अर्थ है लम्बी आयु और चौडाई का अर्थ है अधिक से अधिक अनुभव और संतोष। चरम लक्ष्य की प्राप्ति को सदा ध्यान में रखने से उसकी प्राप्ति में बाधा हो सकती है। इसलिये उसे परोक्ष में रख कर हमें अपना ध्यान तात्कालिक आदर्श पर ही केन्द्रित रखना चाहिए। परन्तु हमारे आचरण "उचित" हुए अथवा "अनुचित" हैं इसका निर्णय तो चरम लक्ष्य के आधार पर ही होगा।

---

१ "The success of any society depends, of course, upon its internal constitution, the articulation of its parts, the relations which subsist between the members"

A short study of Ethics —D'Arcy—Page 250.

स्टेफेन के अनुसार तात्कालिक लक्ष्य जीवधारी समाज (Social organism) का स्वास्थ्य (Health) है। व्यक्ति के वे आचरण जो समाज के लिये स्वास्थ्यवर्द्धक हैं 'उचित' माने जायेंगे और उसका उलटा अनुचित। सामाजिक स्वास्थ्य की प्राप्ति का अर्थ है आनन्द की प्राप्ति। अतः स्टेफेन के अनुसार आनन्द हमारा चरम लक्ष्य है और सामाजिक स्वास्थ्य तात्कालिक लक्ष्य है। सामाजिक स्वास्थ्य की परिणति आनन्द में ही होती है।

स्वार्थवाद और परार्थवाद में सन्धि

Reconcileation bEtween Egoism and Altruism

हमने आरंभ में ही कहा है कि नीति-शास्त्र मे स्वार्थ और परार्थ का झगड़ा बड़ा ही प्रबल रहा है। इसकी सन्धि के लिये बहुत से प्रयास किये गये हैं। हम यह भी देख चुके है कि मिल और बेन्थम इस प्रयास में असफल रहे हैं। अब इस विकासवादी मत को उपर्युक्त पृष्ठभूमि में देखना है कि यह प्रयास किस प्रकार हुआ है और इसमें कहां तक सफलता मिली है।

स्पेंसर ने स्वार्थ और परार्थ के द्वन्द को स्वीकार करते हुए कहा है कि ये दोनो साथ-साथ चलते हैं। विशुद्ध स्वार्थ और विशुद्ध परार्थ नाम की कोई चीज नहीं। फिर उनका कहना है कि स्वार्थ और परार्थ का यह द्वन्द चिरंतन है। धीरे-धीरे यह द्वन्द कम होता जा रहा है और एक ऐसा दिन भी आनेवाला है जब यह द्वन्द बिल्कुल ही नहीं रह जायगा।

—विकास का अर्थ है सरल से जटिल की ओर प्रगति। आरम्भ में सभी मनुष्य जंगल में रहते थे। परन्तु आज कोई महल मे रहता है और कोई झोपड़ी मे। शुरू में वर्ग-संघर्ष नहीं था परन्तु आज समाज में वर्ग-संघर्ष है। इसी प्रकार जीवन के हर क्षेत्र में उलझनें बढ़ती जाती हैं। इन उलझनों के साथ-साथ मनुष्य के स्वभाव मे भी परिवर्तन और विकास होता रहा है। आरंभ मे मनुष्य में स्वार्थ की भावना बहुत प्रबल थी। हर व्यक्ति अपने सुख में लगा रहता था। बहुत लड़ाइयां हुआ करती थी। सभी दुःखी थे। तभी मनुष्यों ने पाया कि पशु शक्तिशाली होते हुए भी हार जाते हैं क्योंकि

वे अलग अलग जीवन-निर्वाह करते हैं। यदि वे साथ मिल कर परि-स्थिति का सामना करें तो शायद उनकी हालत सुधर जाय। मनुष्य ने इससे शिक्षा ली। वे हिलमिल कर रहने लगे। इससे उनकी शक्ति बढ़ी और अस्तित्व संघर्ष में उन्हे सफलता प्राप्त हुई। इस प्रकार चिरंतनकाल से उनका स्वार्थ परार्थ से दबता जा रहा है। आज युद्ध पहले की अपेक्षा कम होता गया है। प्रत्येक राष्ट्र मे. दलबन्दिया हुआ करती हैं, व्यक्तियो में और संस्थाओ मे भी। शक्तिकालीन स्थिति मे एक दल दूसरे से अलग रहते हैं। परन्तु जभी कोई राष्ट्रीय खतरा होता है, सभी साथ मिलकर बढ़ते हैं। क्या यह इस बात का सबूत नहीं कि हम में एकता की भावना दिन प्रतिदिन प्रबल होती जा रही है। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी द्वारा यह भावना अर्जित होकर उसके स्व-भाव का रूप ले लेती है। अतः स्वार्थ को दबाने के लिए जितना प्रयास हमारे पूर्वजों को करना पड़ता था उतना हमलोगो को नहीं। फिर आने-वाली सन्तानो के लिये तो वह दिन-दिन सहल होता जायगा। इस प्रकार स्पेंसर के अनुसार स्वार्थ और परार्थ मे सन्धि आदि काल से ही जारी है और चलती रहेगी।

"A compromise between altruism and egoism has been slowly establishing itself"

—फिर वे ऐसे दिन की कल्पना करते हैं जब स्वार्थ और परार्थ का यह रहा-सहा झगड़ा का भी सदा के लिये अन्त हो जायगा। इसकी कल्पना करते हुए इन्होने लिखा है—"..**a level such that the ministration to other's happiness will become a daily need, a level such that the lower egoistic satisfaction will be continually subordinated to the higher egoistic satisfotion."**

स्टेफेन के अनुसार स्वार्थ और परार्थ मे यहाँ सन्धि संभव है। समाज का उन्होने जीवधारी स्वरूप माना है। व्यक्ति और समाज में वही सम्बन्ध

है जो हमारे विशेष अंगो और शरीर मे है। हमारे अंग तभी अच्छे रह सकते हैं जब शरीर नीरोग हो। इसलिये हमारा लक्ष्य होना चाहिए-समाज का हित। समाज के सुखी रहने पर उसके सदस्य तो अपने आप ही सुखी होंगे। इनके अनुसार समाज ही इकाई है। भिन्न-भिन्न समाज मे आपस में संघर्ष चला करता है। इस संघर्ष में किसी समाज के व्यक्तियों का हित इसी मे है कि वे समाज को शक्तिशाली बनायें। इसलिये स्वार्थ और परार्थ मे इसी रूप मे सन्धि सम्भव है।

इस प्रकार विकासवादी सिद्धान्त नें विकासवाद की सहायता से स्वार्थ और परार्थ के झगड़े को समाप्त करनें का प्रयास किया है।

विकासवादी सुखवाद की आलोचना

इस सिद्धान्त मे निम्नलिखित दोष पाये जाते है:—

१. विकासवादी सुखवाद की चेष्टा रही है प्राचीन सुखवादी मत को तर्क-संगत बनाना। बेन्थम, मिल आदि ने सुख के नाप-तौल पर बहुत ही जोर दिया था। यह सही है कि विकासवादी मत इन सबो का खंडन करता है, परन्तु इसके बदले ये लोग भी अन्धमूल प्रवृति (Blind Instinct) और आवेश (Impulse) आदि पर जोर देते है। इनके अनुसार हम सोच-समझ कर नैतिक कार्य नहीं करते। यह तो अर्जन द्वारा होता है। हमारे पूर्वजो को नैतिक कार्य के लिये भले ही प्रयास करना पड़ा हो, आनेवाली पीढ़ियो के साथ तो यह मूल प्रवृत्ति बन जायगी। यह उनके स्वभाव के साथ इतना घुल-मिल जायगा कि उन्हें सोचने-समझने की जरूरत नही पड़ेगी बल्कि नैतिक कार्य अपने आप ही संपन्न हो जायेगे। आरंभ मे हम देख चुके हैं कि मूल-प्रवृतियों द्वारा किये गये कार्य-नीति शून्य होते हैं। उनपर हम नैतिक निर्णय दे ही नही सकते। अतः इस प्रकार का सिद्धान्त अपना ही खण्डन करता है।

२. इस सिद्धान्त का दूसरा दोष है कि यहाँ नैतिकता की व्याख्या ऐति-हासिक पद्धति (Historical Method) के आधार पर की गयी है।

विकास की व्याख्या हम या तो आरंभ से कर सकते हैं या अन्त से अर्थात् आदर्श की दृष्टि से जिस ओर नैतिकता का विकास हो रहा है। विकासवादी विचारको ने पहली ही पद्धति को अपनाया है। इस प्रकार की पद्धति प्राकृतिक विज्ञानो (Natural Sciences) के लिये भले ही सही हो, नीति-शास्त्र के लिये नही। यह तो आदर्शनिष्ठ विज्ञान (Normative Science) है। अतः इसकी व्याख्या आदर्श के आधार पर होनी चाहिए थी जैसा कि ग्रीन आदि विचारको ने की है।

३. यह सही है कि इस सिद्धान्त ने नीति-शास्त्र को वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया है परन्तु इसमें अन्य दोष आ पड़े हैं। मैकेंजी ने इसे "घोडे के आगे गाड़ी रखना" (Putting the Cart before the Horse) कहा है। विकासवादियो के अनुसार हमारी प्रगति का अर्थ है वातावरण के साथ अभियोजन (Adjustment) की सतत चेष्टा।

इस प्रयास में जो सफल होता है अस्तित्व संघर्ष मे भी सफल होता है अन्यथा नहीं। यह बात सही भी है। परन्तु प्रश्न है कि अभियोजन का दर-असल अर्थ है क्या ? क्या इसका अर्थ यह नहीं कि हमारे सामने कोई लक्ष्य होता है जिससे हम अभियोजन की चेष्टा किया करते हैं। यदि हम यह कहते हैं कि किसी मनुष्य का अभियोजन किसी परिस्थिति के साथ नही हो सका तो इसका स्पष्ट अर्थ होता है कि लक्ष्य की प्राप्ति नही हो सकी। अतः अभियोजन मे लक्ष्य महत्वपूर्ण है जैसा कि मैकेंजी महोदय ने कहा है "किसी भी हालत में अभियोजन का कोई अर्थ नहीं होगा, यदि हम आदर्श अभियोजन अथवा कुछ ऐसे आदर्श का जिसे हम चेतन अथवा अवचेतन रूप मे प्राप्त करना चाहते हो तो पूर्व-कल्पना न कर लें।"[१]

---

१ " In any case, adjustment seems to have no meaning unless we presuppose some ideal form of adjustment, sone end that is conciously or unconciously sought."

Manual of Ethics–Page 200.

विकासवादियों का दोष रहा है कि उन्होंने इस लक्ष्य को गौण बना कर ऐतिहासिक पद्धति को प्रधान स्थान दे दिया है। सही माने मे अभियोजन की चेष्टा में विश्वास करने वालों को विकास की व्याख्या अन्त या आदर्श की स्थिति से करनी चाहिए थी। परन्तु इन्होंने ऐतिहासिक पद्धति को ही अपनाया है। इसे ही "घोड़े के आगे गाड़ी रखना" कहते हैं।

४. स्पेंसर आदि यांत्रिक विकासवाद (Mechanical Evolutio) में विश्वास करते हैं। इनके अनुसार सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य अनैतिक रहे होंगे। विकास के साथ-ही-साथ नैतिकता का विकास भी होता गया। इस प्रकार अनैतिक से नैतिक की उत्पत्ति होती रही है और आगे भी होती रहेगी। प्रश्न है कि क्या विकासवाद नयी चीजों की व्याख्या कर सकता है। यांत्रिक विकासवाद एक मशीन की तरह सिर्फ अव्यक्त (Implicit) को व्यक्त :(Explicit) कर सकता है। यह नये पदार्थों का जन्म नहीं दे सकता (Emergent Evolution) ऐसा भले ही कह सकता है यांत्रिक विकासवाद (Mechanical evolution) ऐसा नहीं मान सकता। अतः स्पेंसर की यह भूल रही है कि उसने अनैतिक आचरण से नैतिक आचरण का प्रादुर्भाव माना है।

५—विकासवादी सुखवाद वैज्ञानिक और तर्कसंगत बनने के फेर मे सुखवाद को ही छोड़ देता है। इसके अनुसार 'सुख' हमारा सीधा आदर्श नहीं होता। हमें तो समाज के स्वास्थ्य के लिये प्रयास करना चाहिये। हमारा सीधा आदर्श समाज के स्वास्थ्य के लिये प्रयास करना है। अतः हमारा सीधा आदर्श समाज का स्वास्थ्य है। सुख तो अपने आप ही प्राप्त होगा। अतः यह सुखवाद को छोड़ कर पूर्णतावाद (Perfection) की ओर झुकता है।

६—यदि हम विकासवादी नीति-शास्त्र को मान लें तो इसका परिणाम बहुत ही भयंकर होता है। नैतिकता को अनैतिकता का सहारा लेना पड़ेगा। यह विश्वास करता है कि अस्तित्व-संघर्ष में हम सफल हो सकें। इसलिये

समाज को शक्तिशाली बनाना चाहिये जिससे दूसरे समाज से हम टक्कर ले सकें। क्या नैतिकता की ओट मे यह घोर अनैतिकता नही ?

D'Arcy ने कहा है—"नैतिक जीवन पूर्ण रूप से अनैतिक का साधन बन जाता है। मानव नैतिक हो ताके वह अनैतिक कार्य कर सके। वह अपने मित्रो से प्रेम करता है क्योंकि इससे शत्रुओ को मारने मे आसानी होती है।"१

७–जो बातें प्राणि–विकास (Biological evolution) के लिये सही हैं वे नैतिक विकास के लिये ठीक नही पाई जाती। दोनो बिल्कुल विपरीत हैं। प्राणि-विकास मे जो अर्थ, अस्तित्व संघर्ष, प्राकृतिक चुनाव का है, नैतिक विकास मे ठीक उसका उलटा है। (Alexander) ने भी इसे स्वीकार किया है। प्राणि विकास मे स्पर्द्धा (Competitive) संघर्ष (struggle) और स्वत्वरक्षा (Self-defence) आदि प्रधान है। परन्तु नैतिक विकास मे स्पर्द्धा के बदले (Co-operation) संघर्ष के स्थान पर सहानुभूति और स्वत्वरक्षा की जगह आत्म-संयम पाते हैं। अतः नैतिक विकास मे हम प्राणि विकास की ठीक उल्टी बातें पाते हैं। फिर इसे प्राणि विकास के आधार पर रखना गलत है।

८–स्टेफेन ने समाज के जीवधारी स्वरूप की चर्चा की है। उसी आधार पर वह स्वार्थ और परार्थ में सन्धि स्थापित करने का भी प्रयास करता है। हम अभी देखेंगे कि समाज के जीवधारी होने का सादृश्य अनुमान (Analogy) ही अत्यन्त दोषपूर्ण है जैसा कि इस प्रकार के अनुमान का सामान्य दोष होता है। स्टेफेन ने भी सिर्फ समानता (Similarity) को देखा है,

२–'Guide to the philosophy of morals and politics.
—Page 763

१–"The ethical mode of life is altogether subservient to the unethical. Man is moral that he may be immoral He loves his friend so that he may the better slay his enemy" —A System of Ethics–Page 251

असमानता को नहीं ।१ जोड ने इसकी आलोचना की है। मनुष्य के शरीर और समाज के जीवधारी स्वरूप का सादृश्य अनुमान गलत है।

(क) हमारे शरीर के अंगों का अपना स्वतन्त्र अधिकार (Rights) और लक्ष्य (End) नहीं हुआ करता, परन्तु व्यक्ति का व्यक्तिगत अधिकार और व्यक्तिगत लक्ष्य होता है।

(ख) शरीर के अंगो का पूर्ण शरीर से अलग कोई उद्देश्य नहीं होता। अतः प्रत्येक अंग पूरे शरीर के विकास के लिये प्रयास करता है। इसके विपरीत समाज के उद्देश्य का अर्थ ही है उसके अन्दर के व्यक्तियों के उद्देश्य की प्राप्ति। व्यक्तियों के उद्देश्य के अतिरिक्त समाज का कोई स्वतन्त्र उद्देश्य नहीं हो सकता। अतः दोनो उल्टी बातें हैं।

(ग) शरीर के अंग शरीर से अलग जीवित नहीं रह सकते। उन्हे जीवन शरीर से ही मिलता है। परन्तु व्यक्ति समाज से अलग भी जीवित रह सकता है। इतना ही नहीं, समाज का ही अस्तित्व व्यक्तियों पर निर्भर है। व्यक्तियों से अलग समाज कुछ भी नहीं।

(घ) समाज की स्थापना व्यक्तियों के सामंजस्य से होती हैं। तार्किक रूप में व्यक्ति समाज से पहले आता है। भले ही समय के हिसाब से ऐसा नहीं हुआ हो। परन्तु शरीर के अंग किसी भी दृष्टिकोण से शरीर से पहले नहीं कहे जा सकते।

अतः इस प्रकार के सादृश्य-अनुमान का अर्थ है वास्तविकता से आँखें मोड़ लेना। फिर यदि समाज का जीवधारी स्वरूप ही गलत है तो उस पर आधारित अन्य बातें तो दोषपूर्ण होंगी ही।

६—विकासवाद ने स्वार्थ और परार्थ मे सन्धि कराने का प्रयास किया है। हमें देखना है कि इसमें से कहाँ तक सफलता मिली है।

विकासवादी मत सुखवाद में विश्वास करता है। यही कारण है कि यह स्वार्थ और परार्थ में सन्धि नहीं स्थापित कर सकता। भावना (feeling) और सुख (Happiness) के दृष्टिकोण से व्यक्ति का समाज के साथ एकीकरण सम्भव नहीं। जब तक सुख व्यक्ति का आदर्श है, वह अपना सुख

छोड़ कर दूसरो के लिये प्रयास कर ही नही सकता। सुख की भावना ही एक ऐसा केन्द्रबिन्दु है जहाँ पर समाज एक जीवधारी होने के बदले, प्रतिद्वन्दी व्यक्तियो का समूह-मात्र बन जाता है। अतः सुख आदर्श होने पर व्यक्ति और समाज मे संधि नही हो सकती। स्पेन्सर की यह आशा कि आनेवाले समय में व्यक्ति और समाज के संघर्ष का अन्त हो जायगा, एक कोरी कल्पना है।

फिर स्टेफेन ने समाज को जीवधारी बताकर व्यक्ति और समाज मे में सन्धि का प्रयास किया है। सादृश्य अनुमान (Analogy) के आधार पर समाज को जीवधारी मानने मे जो त्रुटियाँ हैं, उन्हें हम अभी देख चुके हैं। अतः यदि समाज का जीवधारी स्वरूप ही गलत है तो उस पर आधारित व्यक्ति और समाज का सामंजस्य भी सही नहीं हो सकता।

ग्यारहवाँ अध्याय

अन्तःकरणवाद
(Intuitionism)

सुखवाद की तरह ही अन्तःकरणवाद भी अत्यन्त ही प्रचलित और लोकप्रिय सिद्धान्त रहा है। जहाँ पर सुखवाद मानवीय आचरण का मूल्यांकन कर्त्तव्य के परिणाम (Consequences) के आधार पर करता है, वहाँ अन्तःकरणवाद के अनुसार मनुष्यमात्र को इस प्रकार की अन्तः शक्ति प्राप्त है जिसके फलस्वरूप बिना परिणाम पर विचार किये ही वह शुभ और अशुभ में तुरंत ही भेद करने मे सफल होता है। अतः नीति-शास्त्र में अन्तःकरण-वाद वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार कर्त्तव्य के औचित्य (Rightness) और अनौचित्य (wrongness) का ज्ञान अन्तःशक्ति (Intuition) द्वारा होता है। इस प्रकार के प्रायः सभी विचारकों का मत है कि मनुष्यों में एक विशेष प्रकार की शक्ति पायी जाती है जो उचित शिक्षा और समुचित चरित्र रखने पर अच्छे और बुरे कर्मों में सही-सही भेद कर सकता है। इसी शक्ति को कोई अन्तःकरण (Conscience) और कोई नैतिक इन्द्रिय (Moral Sense) आदि कहते हैं।

यह सिद्धान्त सामान्य मनुष्यों को बहुत ही उचित जान पड़ता है। उनके अनुसार तो अन्तःकरण एक छठवीं ज्ञानेन्द्रिय (Sixth sense) है। जिस प्रकार ध्वनि ज्ञान के लिये कान और गंध ज्ञान के लिये नाक है ठीक उसी प्रकार नैतिकता के ज्ञान के लिये अन्तःकरण भी एक ज्ञानेन्द्रिय है।

फिर ये मतावलम्बी बच्चों और अशिक्षित मनुष्यों के नैतिक निर्णयों का सहारा लेते हैं। विदित है कि इस प्रकार के लोगों को नैतिक सिद्धान्तों

होगा। एक ओर तो इन विचारकों ने साधारण अनुभव को नैतिकता का आधार नहीं माना, परन्तु फिर भी एक विशेष प्रकार की नैतिक-भावना को जो एक प्रकार की ज्ञानेन्द्रिय है, नैतिकता का आधार मान लिया। अतः किसी न किसी रूप में अनुभव की बात रह जाती है। आखिर ऐसा क्यों हुआ?

हाब्स, मिल, लौक आदि विचारकों ने सामान्य अनुभव को ही नैतिकता का आधार माना था। इन लोगों के नैतिक सिद्धान्तों में स्वार्थ की भावना कूट कूट कर भरी है। बुद्धि का प्रयोग भी लोग इसी स्वार्थ की पूर्त्ति के लिये करना चाहते थे। एक ओर (Hutchesen) और (Shaftesbury) आदि विचारकों ने इसका विरोध किया। स्वार्थ से उन्हें घृणा थी उन्होंने देखा कि बुद्धि का लोगों ने दुरुपयोग किया था, स्वार्थ-साधन के लिये। अतः इन लोगों ने सोचा कि नैतिकता का आधार बुद्धि नहीं अन्तःशक्ति या अन्तः करण या हृदय को मानना चाहिये।

दूसरी ओर युग-परम्परा के अनुसार ये अनुभववाद से पूर्णतया ऊपर उठ नहीं सके। इन्होंने सोचा यदि नैतिकता वास्तव में कोई चीज है तो साधारण वस्तुओं की तरह इसके ज्ञान में भी संवेदना या भावना का हाथ होना चाहिये। लेकिन नैतिकता का आधार साधारण संवेदना को मान लेना सुखवाद को स्वीकार करना था। इसलिये इन्होंने इसे एक विशेष प्रकार की संवेदना को माना जिसके ज्ञान के लिये एक विशेष इन्द्रिय को भी इन्हें स्वीकार करना पड़ा। इस तरह इन्होंने भी नैतिकता को भावना पर ही आधारित किया। अन्तर सिर्फ यही था कि यह एक विशेष प्रकार की भावना है। यही कारण है कि हम अन्तःकरणवाद में अन्तर्ज्ञान और भावना इन दो विरोधी बातों को एक साथ पाते हैं। नैतिक स्वीकृति को इन्होंने सिर्फ भावना मात्र मान लिया। यही कारण है कि इस सिद्धांत के बहुत सारे दोष बताये जाते हैं। वे हैं—

१—जैसा कि (Rashdall) ने कहा है कि यदि नैतिक स्वीकृति सिर्फ भावना है तो फिर अन्य भावनाओं में श्रेयस्कर इसे क्यों माना जाय?१

१—If moral approbation is a mere feeling how

मान लीजिये, हमने कोई गुप्त बात छिपा रखी है। उसे दूसरों को कह देने में हममें अस्वीकृति की अरुचिकर भावना उत्पन्न होती है। फिर उसे नहीं कहने मे हमे मार खाने की धमकी दी जाती है। यह भी उसी प्रकार की भावना है। फिर इन दोनों मे से कौन श्रेयस्कर है, हम कैसे निर्णय करें। अतः भावना के अतिरिक्त हमे बुद्धि आदि का सहारा लेना ही होगा। यह इसका पहला दोष है।

२–इसका दूसरा दोष है कि यदि भावना को नैतिकता का आधार मान लिया जाय तो कोई सामान्य नैतिक नियम जो सर्वमान्य हो, हो नहीं सकता। २ दो व्यक्तियो मे एक ही समय एक ही कार्य दो प्रकार की विरोधी भावनाये उत्पन्न करती हैं, फिर उन दोनो मे किसे सही माना जायगा।'

एक साधारण उदाहरण ले। एक व्यक्ति जो सब तरह से स्वस्थ्य है किसी उजली वस्तु को उजला ही देखता है। दूसरा जो पाण्डु रोग से पीड़ित है वह उसे पीला देखा। जहाँ तक संवेदना का प्रश्न है वे दोनो ही ठीक हैं। हम कुछ भी करे वे दोनो उसी प्रकार का अलग-अलग रंग देखेंगे हीं। अतः संवेदना के दृष्टिकोण से दोनो ही सही हैं, लेकिन जहाँ तक वस्तु की सत्यता का प्रश्न है वह वस्तु दोनो प्रकार की नहीं हो सकती है। इसलिये वस्तु के सही रंग के ज्ञान के लिये हमें व्यक्तिगत संवेदना से ऊपर उठकर देखना ही सही होगा। इस प्रकार यदि एक ही कार्य दो व्यक्तियो मे दो प्रकार की विरोधी भावनाओ को जन्म देता है, तो जहाँ तक भावना का प्रश्न है, दोनो सही हैं। परन्तु वस्तुगत सत्यता के दृष्टिकोण से हम दोनो को सही नहीं मान सकते हैं। साँढो की लड़ाई स्पेनवालो मे रुचिकर भावना का जन्म देती है और अंग्रेजो मे अरुचिकर का। अब यदि हम नैतिकता का मापदण्ड स्वीकृति या अस्वीकृति की भावना को मानते हैं तो इसे उचित और

---

can it claim any superiority over other feelings" ?

—Theory of Good and Evil Vol 1 Page–143.

२–"It is to tally unable to assign any universal validity to such moral proportions." Ibid–Page 145.

अनुचित दोनो मानना होगा। वस्तुतः भावना के ख्याल से ऐसा है भी। परन्तु यह तो अन्तःकरणवादियो के वस्तुगत (Objective) सिद्धान्त के विपरीत होगा। इसका एक मात्र कारण है कि नैतिकता को उन्होंने सिर्फ भावना पर आधारित माना था। अतः यदि नैतिकता का आधार भावना है तो कोई भी वस्तुगत सामान्य नैतिक नियम हो ही नही सकता।

३—इसका तीसरा दोष है कि विरोध सिर्फ दो व्यक्तियो में ही नहीं पाया जाता, वरन् एक ही व्यक्ति मे विभिन्न समयो पर हम विरोधी भावनायें पाते हैं। जो कार्य एक समय उचित जान पड़ता है और उसके करने मे स्वीकृति की भावना उत्पन्न होती है, दूसरे समय मे ठीक उसका उल्टा पाते हैं। वाल्मीकि पहले हत्या करना उचित समझते थे और बाद मे अनुचित। यदि यह सिद्धान्त सही है तो फिर ऐसा क्यों होता है?

४—ऊपर कही गयी बातो से यह पता चलता है कि दोनो मे से एक ज्ञान गलत है क्योंकि विरोध के नियम (Law of contradiction) के अनुसार दोनो सही नही हो सकते हैं। फिर दोनो में कौन गलत है इसका निर्णय हम भावना के आधार पर नही कर सकते। उसके लिये तो बुद्धि की शरण लेनी पड़ेगी। नैतिक सिद्धान्तों मे आस्था भावना के आधार पद नहीं कायम की जा सकती है। यह तो बुद्धि और विवेक के द्वारा होता है। विवेक द्वारा सिद्धान्तो की छानबीन करके फिर उससे बौद्धिक संतोप होने पर ही हम उसमें विश्वास कर वैसा आचरण करना चाहते हैं। इस सिद्धान्त का यह दोष है कि वह भावना को ही सब कुछ मान लेता है।

सौन्दर्यवादी सिद्धान्त
(Aesthetic sense theory)

यहाँ सर्व प्रथम एक प्रश्न उठता है कि नैतिक-निर्णय (Moral judgment) अ र सौन्दर्यवादी निर्णय (Aesthetic Judgment) में क्या सम्बन्ध है?

इस सम्बन्ध को देखने के पहले हम सौंदर्यवादी निर्णय के सम्बन्ध में

कुछ विचार कर लें । किसी फूल को हम सुन्दर कहते हैं । इसका क्या अर्थ है ?, सुन्दरता क्या है ? इन सभी प्रश्नों के उत्तर में एकता नहीं पायी जाती है । कुछ लोगों का विचार है कि सुन्दरता व्यक्तिगत (Subjective) है । वह वस्तु में नहीं रहा करती । जो वस्तु हमें रूचिकर लगता है उसे हम सुन्दर कहते हैं । यह व्यक्तिगत सिद्धान्त (Subjective theory) हुआ । इसके विपरीत दूसरे लोगों का कहना है कि सुन्दरता वस्तुगत (Obajective) है । कोई वस्तु वस्तुतः सुन्दर है, अतः हमें रुचिकर लगता है । यह वस्तुगत सिद्धान्त (Objective theory) कहलाता है । इन दोनों सिद्धान्तों में सन्धि कराने के लिये एक तीसरा सिद्धान्त भी है जो सुन्दरता को आत्मगत और वस्तुगत दोनों ही मानता है । प्रत्येक सिद्धान्त के अपने-अपने मूल दोष हैं जिनकी विवेचना करना हमारा लक्ष्य नहीं ।

अब फिर हम अपने पहले प्रश्न की ओर मुड़ते हैं । सुन्दर (Beauty) और शुभ (Goodness) में क्या सम्बन्ध है ? नैतिक-निर्णय का सम्बन्ध तो मूल्य से है । सौन्दर्यवादी निर्णय में भी वस्तुगत सिद्धान्त का सम्बन्ध मूल्य ही है इसलिये विचारकों ने इनमें बहुत ही समानता स्थापित कर दिया है । जब हम किसी वस्तु के सौन्दर्य का मूल्यांकन करते हुए कहते हैं कि यह सुन्दर है तो क्या इसका अर्थ यह नहीं होता कि यह एक ऐसा सुन्दर आदर्श है जिसकी प्राप्ति के लिये हमें प्रयास करना चाहिये ? अतः इन दो प्रकार के निर्णयों में समानता पायी जाती हैं ।

नीति-शास्त्र में इस सिद्धान्त को माननेवालों में हचसन (Hutcheson—१६६४—१७४७) Shaftesbury 1671—1713) रसकिन (Ruskin 1819—1900) आदि के नाम प्रमुख माने जाते हैं ।

इन लोगों के अनुसार सौन्दर्य (Beauty) ही नैतिकता का सर्वोपरि मापदण्ड (final Standard) है । यह सिद्धान्त औचित्य का सुन्दर से और अनौचित्य का असुन्दर से एकीकरण कर देता है । फिर यह सिद्धान्त अदार्शनिक है, क्यों कि यहाँ हम सामान्य नियम की रचना नहीं कर पाते, वरन् विशेष कार्यों को देखकर ही उसपर निर्णय देते हैं । कार्यों और वस्तुओं

के ज्ञान का सर्वथा अभाव रहता है। वे नीति-शास्त्र का नाम तक नहीं जानते। फिर भी हम पाते हैं कि ये लोग समय-समय पर सही-सही नैतिक निर्णय दिया करते हैं। एक अनपढ़ और गवाँर स्त्री वेश्यावृति को निन्दनीय समझती है। आखिर क्यों ? उसने न तो उसके परिणाम पर विचार किया है और न मोटे-मोटे ग्रन्थों का अध्ययन ही। फिर भी इसे वह बुरा समझती है। एक बच्चा किसी दूसरे बच्चे को एक जानवर को तंग करते हुए देखकर उसके आचरण की निन्दा करता है। उसे उसका ज्ञान नहीं है कि दया क्रूरता से श्रेयस्कर है फिर भी उसके दुष्ट आचरण को वह बुरा समझता है। आखिर क्यों ? अन्तःकरणवादियों का उत्तर है कि इस प्रकार के नैतिक-निर्णय इसलिये सम्भव हैं कि उनमें नैतिक शक्ति पाई जाती है। यह नैतिक-शक्ति किसी कार्य के परिणाम का लेखा-जोखा नहीं करती, वरन् तत्क्षण ही उस कार्य की नैतिकता या अनैतिकता को समझ जाती है। अतः यह एक प्रकार का अन्तर्ज्ञान है। यही कारण है कि इस सिद्धान्त को अन्तःकरणवाद कहा जाता है।

अन्तःकरणवाद के भेद
(Kinds of Intuitionism)

सिजवीक के अनुसार इसके दो भेद हैं:—अदार्शनिक अन्तःकरणवाद और दार्शनिक अन्तःकरणवाद (Unphilosphical Intuitionism and Philosophical Intuitionism)। फिर इन दोनों के भी अलग-अलग भेद हैं, जिन्हें हम बाद मे देखेंगे। अदार्शनिक मत के अनुसार हमारा अन्तःकरण (Conscience) प्रत्येक कार्य के सम्पन्न होने पर उसी समय उसके सम्बन्ध में अपना निर्णय देता है। इसका अर्थ यह है कि अलग-अलग कार्यों के लिये हमारा अन्तःकरण अलग-अलग निर्णय देता है। उसका निर्णय कोई सामान्य नियम का रूप नही लेता है। परन्तु दार्शनिक अन्तःकरणवाद के अनुसार हमारा अन्तःकरण विशेष कार्यों (Particular action) पर निर्णय नहीं देता। वह तो सामान्य नियमों (General laws) का निर्धारण करता है और फिर इन सामान्य नियमों का प्रयोग

हम विशेष कार्यों पर करते हैं। अतः जहाँ पर पहला कार्य विशेष (Particular Action) पर निर्णय देतो है वहाँ दूसरा सामान्य नियम की स्थापना करता है।

१ राशडाल (Rashdall) ने इसे स्पष्ट करने के लिये एक अत्यन्त ही सुन्दर और उपयुक्त सादृश्यानुमान (Analogy) का सहारा लिया है। अदार्शनिक मत के अनुसार अन्तःकरण की तुलना उन्होंने एक तानाशाह (Dictator) से की है। जिस प्रकार एक तानाशाह भिन्न-भिन्न विशेष परिस्थितियो (Different particular circumstances) से वरतने के लिये विशेष (Particular) आज्ञा जारी करता है, उसी प्रकार हमारा अन्तःकरण विशेष कार्यों पर ही अपना निर्णय देता है। फिर दार्शनिक मत के अनुसार उन्होने अन्तःकरण की तुलना एक विधान सभा से की है। जिस तरह एक विधान सभा सामान्य नियम की रचना करत. है और उस नियम का प्रयोग न्यायाधीश विशेष मुकदमें में अपनी बुद्धि द्वारा करता है, उसी प्रकार हमार अन्तःकरण सामान्य नियमो की रचना करता है और हम उसका प्रयोग विशेष कार्यों में करते हैं।

अदार्शनिक अन्तःकरणवाद के भेद

Kinds of unphilosophical Intuitionism

इस सिद्धान्त के दो भेद हैं—नैतिक इन्द्रिय सिद्धान्त (Moral sense

१—"According to the first view, conscience is an ever-present dictator issuing detailed Injunctions to meet particular cases as they arise according to the second, conscience is a legislator, whose enactments have to be applied to particular cases by the same intellectual process as is employed by a judge in administeving an act of Parliament"

Theory of Good and evil Vo. I Page 80.

theory) और सौन्दर्यवादी सिद्धान्त (Aesthetic sense theory)। हम इन दोनो का विवेचन अलग-अलग करेंगे। यद्यपि इन दोनो ही सिद्धान्तो के मानने वाले विचारक एक ही रहे हैं और अधिकतर पुस्तकों मे इन दोनो का विवेचन साथ ही हुआ है, फिर भी स्पष्टीकरण के लिये इन दोनों का अध्ययन अलग-अलग आवश्यक है।

नैतिक-इन्द्रिय-सिद्धान्त
Moral sense theory

नैतिक इन्द्रिय (Moral sense) का प्रयोग सबसे पहले हचसन (Hutcheson) १६६४–१७४७ ने अपनी पुस्तक (System of Moral poilosophy) मे किया था। इस पुस्तक मे वह प्रश्न उठाता है कि हमें कार्यों की नैतिकता का ज्ञान किस प्रकार होता है। उसके उत्तर मे उसका कहना है कि नैतिकता का ज्ञान करीब-करीब उसी प्रकार होता है जैसे रंग का ज्ञान। जिस प्रकार लाल रंग को जानने के लिये एक विशेष इन्द्रिय आँख की आवश्यकता है, उसी प्रकार नैतिकता के ज्ञान के लिये एक विशेष इन्द्रिय आवश्यक है और वह है नैतिक-इन्द्रियाँ जिस प्रकार आँखो के अभाव में रंग का ज्ञान नहीं हो सकता, उसी प्रकार नैतिक इन्द्रिय के अभाव में नैतिकता का ज्ञान नही हो सकता। फिर जैसे देखने के सम्बन्ध मे आँखो के निर्णय के विरुद्ध कोई अपील नहीं हो सकती, वैसे ही नैतिकता के क्षेत्र मे इस नैतिक-इन्द्रिय के विरुद्ध कोई अपील की गुंजाइश नही है। इसका निर्णय ही अन्तिम माना जायगा।

यह सिद्धान्त अदार्शनिक है क्योंकि इसके अनुसार हमारा नैतिक इन्द्रिय कार्य विशेष पर ही अपना निर्णय देता है। इसे हम उदाहरण द्वारा समझें। यदि कोइ टमटमवाला एक थके-मादे घोड़े को कोड़े लगाता है तो इसे देखकर बिना परिणाम का विचार किये ही हम इसे बुरा कहते हैं। एक बच्चा किसी बूढे को कष्ट में देखकर बोझा उठाने में उसकी सहायता करता है और हम बच्चे के इस कार्य की प्रशंसा करते हैं। यहा हमारी नैतिक शक्ति तुरत ही औचित्य-अनौचित्य का पता पा जाती है। स्पष्ट है

कि जिस प्रकार नाक को गंध का सीधा ज्ञान होता है, कान को ध्वनि का ज्ञान होता है, उसी प्रकार हमारी नैतिक-इन्द्रिय को नैतिकता का ज्ञान होता है। इसी समानता के कारण इस सिद्धान्त को "नैतिक इन्द्रिय-सिद्धान्त" कहते हैं।

यहाँ एक बात जानना और आवश्यक है। यह सही है कि नैतिकता का ज्ञान हमें "नैतिक इन्द्रिय" से होता है, पर यह ज्ञान होता किस प्रकार से है? इसके उत्तर मे उस मतावलम्बियो का कहना है कि जिस तरह वस्तुओ का ज्ञान उन्हीं से उत्पन्न संवेदनाओं द्वारा होता है, उसी प्रकार नैतिकता का ज्ञान, कार्यों से उत्पन्न नैतिक भावनाओ द्वारा होता है। जब किसी कार्य को देखकर हमारे अन्दर रुचिकर नैतिक भावानाओ (Agreeable moral feeligs) का उद्रेक होता है तो उस कार्य को उचित या शुभ कहा जाता है और यदि उसके विपरीत अरुचिकर नैतिक भावनाओ (Dissgreeable moral feelings) का जन्म हो तो इस कार्य को अनुचित अथवा अशुभ कहा जाता है। ऊपर दिये गये उदाहरणो में जहाँ घोड़े को कोड़ा लगाते देख कर हममें अरुचिकर भावना उत्पन्न होती है, वहाँ बच्चे के कार्य को देख कर रुचिकर इसी कारण पहले को अनुचित और दूसरे को उचित कहा गया। अतः सारांश है कि स्वीकृति की भावना ही कार्यों को औचित्य प्रदान करती है और अस्वीकृति (Disapproval) की भावना अनौचित्य। सबसे महत्वपूर्ण ध्यान देने की बात है कि इनके मत मे स्वीकृति की भावना इसलिये होती है कि कार्य अपने में उचित है। हम ऐसा कदापि न समझे कि कार्यों का औचित्य स्वीकृति की भावना पर ही निर्भर है। यही कारण है कि इसे वस्तुगत अन्तःकरणवाद (Objective Intuitionism) कहा जाता है, न कि आत्मगत अन्तःकरणवाद (Subjective Intuitionism) इस सिद्धान्त को माननेवालो में (Shaftesbury) का नाम भी आता है।

इस सिद्धान्त की आलोचना

इस मत के सही मूल्यांकण के लिये हमे इसकी पृष्ठभूमि को देखना

(Diaroctic theory) इसी सिद्धान्त के अन्दर आता है। इस सिद्धान्त के अध्ययन के पहले हम दार्शनिक अन्तःकरणवाद की परीक्षा करेंगे।

दार्शनिक अन्तःकरणवाद की आलोचना

हमने अदार्शनिक अन्तःकरणवाद के अध्ययन के सिलसिले में देखा कि वह तर्क संगत नहीं और इसलिये यह अन्त में दार्शनिक सिद्धान्त की ओर झुकता है। यहाँ हमें देखना है कि क्या दार्शनिक मत सही है? इसके निम्नलिखित दोष हैं :—

१—यह सिद्धान्त विश्वास करता है कि नैतिक नियम का ज्ञान बुद्धि द्वारा नहीं अन्तर्ज्ञान द्वारा होता है। इसकी बौद्धिक व्याख्या (Rational account) नहीं की जा सकती है। रासडल महोदय ने इसकी आलोचना करते हुए कहा है कि यदि मान लिया जाय कि हमारे अन्तःकरण को यह शक्ति प्राप्त है, फिर बौद्धिक व्याख्या के अभाव मे इसे हम आँख मूँद कर आवेश में क्यो मान लें? मनुष्यो को यदि यह शक्ति प्राप्त है तो फिर इसका उपयोग वह क्यो नहीं करेगा?

फिर यह सिद्धान्त परिणाम की कोई भी चिन्ता नहीं करता। यह भी इसका दोष है। परिणाम की चिन्ता किये बिना आचरण करना न तो मनुष्योचित है और न बुद्धिसंगत। साधारण आदमी भी इस नियम को मानकर चलता है कि सोच समझ कर काम करना चाहिये। फिर जान बूझ कर परिणाम की ओर से आँख मूँद लेना तो मूर्खता ही कही जायगी।

अतः बौद्धिक व्याख्या का अभाव और परिणाम की अवहेलना इसका पहला दोष है।

२—इन विचारकों ने नैतिक ज्ञान को स्वयंसिद्ध और जन्मजात (Innate) माना है। यदि ऐसा ही है तो फिर सभी देश और सभी युगो मे एक ही प्रकार के नैतिक आदर्श होना चाहिये था। परन्तु हम नैतिक आदर्श को भिन्न २ देशो में ही नहीं, भिन्न-भिन्न काल में ही नहीं, वरन् एक ही मनुष्य के जीवन-काल मे परिवर्तित होते हुए देखते हैं। हम लोग अपने माता-पिता का आदर करना आदर्श समझते हैं, परन्तु मानव जाति में

ऐसा भी युग रहा है, जब उन्होंने माता-पिता को मारकर खा जाना ही अपना कर्त्तव्य समझा। प्राचीन यूनान में पड़ोसी राज्य के पशु चुराना चोरी नहीं माना जाता था। आखिर इस प्रकार के परिवर्तन क्यों होते हैं! अन्तःकरणवाद इसका यथोचित उत्तर नहीं दे सकता।

३. यदि यह मान भी लिया जाय किसी युग में सभी मनुष्य एक ही प्रकार के आदर्श मे विश्वास करते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि वहा परिणाम की चिन्ता नही की जाती। सभी नियमों के अपवाद अवश्य होते हैं। नियम है कि हत्या नहीं करनी चाहिये परन्तु इसमे अपवाद अवश्य है कि आत्म-रक्षा के लिये हत्या अनैतिक नहीं। इसी प्रकार हर नियम के अपवाद होते हैं और अपवाद बिना परिणाम सोचे हुए हो ही नहीं सकता। अतः नियम बिना परिणाम को सोचे हुए केवल अन्तर्ज्ञान द्वारा बनाये जा ही नहीं सकते।

४. ऊपर कही गई बातो से स्पष्ट हो जाता है कि परिणाम तो कार्य का अंग ही है। दोनो को अलग-अलग देखा ही नहीं जा सकता। बिना परिणाम को सोचे हम कार्य कर ही नहीं सकते हैं। उदाहरण के लिये दान देने को लें। यह एक कार्य है। जब हम दान देने को सोचते हैं या देते हैं तभी हम यह भी जानते हैं कि उसका क्या परिणाम होगा। इससे किसी की भलाई होगी। यदि ऐसा न सोचे तो दान दे भी नही सकते। या नियम है कि शराब न पीयें। शराब पीने का परिणाम होता है अनाप-शनाप बकना, बुरा आचरण इत्यादि। यदि इन परिणामों को छोड़ दे तब शराब पीना शराब पीना रह ही नही जायगा। अतः इस नियम को समझने और पालन करने के लिये परिणाम को देखना आवश्यक है।

अन्तःकरणवादयों की यह भूल रही है कि उन्होंने परिणाम को छोड़कर भी कार्य करने को सम्भव माना है।

५. इतना ही नहीं, विरोधी अन्तर्ज्ञान सिद्धान्त (Contradictory moral Intuitionism) तो अन्तर्निरीक्षणवाद को और भी गलत साबित कर देतें हैं। यहां तो बिना परिणाम का विचार किये हम कर्त्तव्य निर्धारण कर ही नहीं सकते। उदाहरण के लिये हम 'दया करना' और ईमानदार

होना' को लें। मान लीजिये, कि एक आततायी किसी निर्दोष का पीछा कर रहा है। हम उस भागते हुए आदमी पर दया कर उसे छिपा देते हैं। खदेड़ने वाला आदमी हमसे पूछता है कि वह कहाँ गया ? बताइये इस परिस्थिति में हम क्या करें ? अपने मे तो दोनो ही अच्छे हैं। ऐसी परिस्थिति में कर्त्तव्य निर्धारण के लिये हमें परिणाम को देखना ही होगा। यदि हम सोचते हैं कि हममें इतनी शक्ति है कि हम इसकी रक्षा कर सकते हैं तब तो हम सही-सही बताकर ईमानदारी का पालन करेंगे परन्तु यदि रक्षा मे अपने को असमर्थ सोचेंगे तो फिर दया दिखाकर हमें झूठ बोलना ही होगा। इसलिये विरोधी नियमो में तो हम परिणाम की अवहेलना कर ही नहीं सकते।

इस प्रकार दार्शनिक अन्तःकरणवाद भी दोषपूर्ण है।

अपरिवर्त्तनशील नियमवाद
(Dianoctic theory)

यह सिद्धान्त दार्शनिक अन्तःकरणवाद के अन्तर्गत आता है। इसके विचारकों में कड्वर्थ (Cudworth) १६१७–१६८८ क्लार्क Clarke–१६७५–१७२६) और (Wollaston १५५६–१७२४) आदि प्रमुख हैं। यहाँ हम इन विचारको के मत को अलग-अलग देखेंगे।

टामस क्लार्क
Thomas clarke

क्लार्क के अनुसार भिन्न-भिन्न वस्तुओ के बीच के सम्बन्ध और उनके भेद उन वस्तुओं के स्वभाव में ही सन्निहित हैं और जो कोई भी उन्हें सावधानी से देखेगा वह तुरंत ही उन्हें समझ जायगा। फिर उसका कहना है कि मनुष्यो और वस्तुओ के ये नित्य और अपरिवर्त्तनशील सम्बन्ध ही नैतिकता के आधार हैं। इन्ही सम्बन्धो के अनुकूल हमारे कर्त्तव्य (Duty) होते हैं। जैसा सम्बन्ध होगा, वैसा ही कर्त्तव्य भी होगा। एक शिष्य के गुरु से सम्बन्ध और फिर गुरु के शिष्य से सम्बन्ध मे अन्तर है। इसलिये शिष्य का

गुरु के प्रति कर्त्तव्य भी, गुरु का शिष्य के प्रति कर्त्तव्य से भिन्न होगा। इस प्रकार निश्चित (Fixed) सम्बन्ध के अनुकूल कार्य उचित समझा जायगा और प्रतिकूल अनुचित।

इस सिद्धान्त की व्याख्या के लिये क्लार्क ने भौतिक विज्ञान और गणित विज्ञान के सत्यों का सहारा लिया है। भौतिक विश्व मे वस्तुओं में पारस्परिक तारतम्य (Mutul Consistency) पाये जाते हैं। इसी कारण हम उनमें नियम पाते हैं। यदि सभी वस्तुएँ अलग-अलग चालित होती और दूसरी वस्तुओं से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता तो फिर भौतिक नियम असम्भव ही होते। हम वस्तुओं के सम्बन्ध मे समरूपता (Uniformity) पाते हैं। जैसे, एक विशेष गर्मी पर सदा वर्फ पिघलेगा ही। इस प्रकार गर्मी और वर्फ मे एक निश्चित सम्बन्ध है। इसी प्रकार विश्व की सभी वस्तुओं का आपस का सम्बन्ध निश्चित और नित्य है। गणित शास्त्र मे भी हम ऐसा ही संबंध पाते हैं।

इन्हीं सादृश्यानुमान के आधार पर क्लार्क ने कहा कि मनुष्यों के संबंध भी नित्य हैं। ईश्वर भी उनमे परिवर्त्तन नही ला सकता। अतः अन्तःकरण द्वारा इस सम्बन्ध को जानकर उसके अनुकूल आचरण को ही उचित कहा जायेगा।

कड्वर्थ

कड्वर्थ के अनुसार नैतिक शुभ और अशुभ का भेद अनिवार्य और नित्य है। यह मानवीय अथवा ईश्वरीय इच्छा के भी परे हैं। कोई भी इसमें परिवर्तन नहीं ला सकता है। शुभ और अशुभ का भेद स्वगत (Subjective) नहीं वरन् वस्तुगत (Objective) है। हमारी बुद्धि इस भेद को तत्क्षण ही जानने में सफल होती है और फिर इसका प्रयोग परिस्थितिविशेष मे कार्य विशेष पर किया करती है। इस प्रकार नैतिकता के ये नित्य और अपरिवर्तनशील सिद्धान्त सार्वभौमिक, आवश्यक, स्वयं-प्रकाश और निस्सन्देह हैं। नैतिक निर्णय का अर्थ है इन्हीं नियमो का कार्य-विशेष पर प्रयोग। उदाहरण के

की सुन्दरता और असुन्दरता का ज्ञान हमें बुद्धि और विवेक द्वारा नहीं होता, वरन् हमारा सौन्दर्यवादी इन्द्रिय (Aestheic sense) इसे तत्क्षण ही समझ जाता है। यह एक प्रकार का अन्तर्ज्ञान है। अन्त मे ध्यान देने की बात है कि सुन्दर और असुन्दर की भावना एक भावना ही है। अतः यहाँ भी हम नैतिकता को अन्ततोगत्वा पर ही आधारित करते हैं।

१ Shaffesbury ने इसकी चर्चा करते हुए लिखा है कि जो सुन्दर है, वह सुडौलता और समानता का प्रतीक है, फिर जो सुडौल और समान है, वह परिणामतः रुचिकर और शुभ है।

२–(Ruskin) रस्किन के अनुसार तो रुचि ही नैतिकता का एक मात्र प्रतीक है। किसी प्राणी के मूल्यांकन का प्रथम और अन्तिम मापदण्ड है कि वह क्या चाहता है। इसलिये रस्किन का कहना था कि यह जान लेने पर कि अमुक मनुष्य की क्या इच्छा है हम बतला सकते हैं कि वह किस कोटि का मनुष्य है। इसी प्रकार हचसन भी नैतिक सुन्दरता और कार्यों की कुरूपता की चर्चा किया करता था।

यही सौन्दर्यवादी सिद्धान्त है, जिसके अनुसार कार्यों की नैतिकता उसकी सुन्दरता और असुन्दरता के आधार पर ही जानी जा सकती है, और असुन्दरता को जानने के लिये मनुष्यो मे सौन्दर्यवादी इन्द्रिय रहती है, जो उनकी पहचान तत्क्षण ही कर लेती है।

१– "What is beautiful, is harmomious and proportionable, what is harmomious and proportionable is true, and what is beautiful and true is agreeable and good."

२– Taste is only a part and an index of morality, it is the only morality the first and the last and closest trial question to any living creature is, what do you like" ? Tell me what you like, and I will then tell you what you are."

सौन्दर्यवादी सिद्धान्त की आलोचना

१:—जैसा कि हमने देखा है कि नैतिक निर्णय और सौन्दर्यवादी निर्णय मे समानता अवश्य है, परन्तु इसका यह अर्थ नही कि ये दोना एक ही हैं। इन विचारकों की भूल रही है कि उन्होने समानता को तो देखा, परन्तु उनकी असमानताओ की बिल्कुल परवाह न की। नैतिक-निर्णय का सम्बन्ध ऐच्छिक क्रिया से है। नैतिक निर्णय मे एक प्रकार का दायित्व (Obligation) है कि हम वैसा करेगे। परन्तु सौंदर्यवादी निर्णय मे इस प्रकार का कोई भी दायित्व नहीं। फिर सौन्दर्य अवलोकन मे हमे विशुद्ध आनन्द (Pure pleasure) मिलता है, परन्तु नैतिक आचरण मे ऐसा नहीं होता है। ऐच्छिक क्रिया मे तो इच्छाओ का संघर्ष होता ही है और जहाँ संघर्ष है, वहाँ विशुद्ध आनन्द कैसे मिल सकता है।

२:—इसका दूसरा दोष है कि इसने भी, भावना (feeling) को ही नैतिक निर्णय का मापदण्ड माना है। भावना पर नैतिकता को आधारित करने के क्या दोष हैं, उन्हें हम "नैतिक इन्द्रिय-सिद्धान्त" की आलोचना के सिलसिले में देख चुके हैं।

३—सुन्दरता और नैतिकता मे सदा एकीकरण नही हो सकता। जो सुन्दर है वह उचित भी हो, यह आवश्यक नही। भद्दे गाने, अश्लील चित्र आदि हमे सुन्दर भले ही लगे वे उचित नही कहे जा सकते।

४:—नैतिक अनुभवो मे कुछ विशेषताएं हैं, जिनका सौन्दर्यवादी अनुभवों मे सर्वथा अभाव है। नैतिक-निर्णय में हम स्वीकृति-अस्वीकृति की भावना पाते हैं। किसी के कार्य को उचित अथवा अनुचित कहते हैं। परन्तु किसी वस्तु के सौन्दर्य आँकने वाले को हम उचित अथवा अनुचित नही कहते। सौन्दर्य आँकने की शक्ति का अभाव रहने पर भी कोई मनुष्य एक अच्छे समाज का सदस्य रह सकता है। परन्तु नैतिकता के अभाव में कोई भी मनुष्य भले समाज मे नहीं रह सकता। इस प्रकार सौंदर्यवादी सिद्धान्त भी सही नहीं है।

अदार्शनिक अन्तःकरणवाद की आलोचना

(Criticism of unphilosophical intuitionism)

सामान्य नियम के अभाव मे यह सिद्धान्त तर्क संगत नही है। यह अपने पैरो पर टिक ही नही सकता। अतः परिणामतः यह दार्शनिक अन्तःकरण-वाद का रूप ले लेता है। इसलिये इसके विरुद्ध वे सभी आलोचनाएँ आरोपित की जा सकती है जो दार्शनिक सिद्धान्त पर लागू होगी। यहाँ हमें देखना है कि यह सिद्धान्त किस प्रकार सही नहीं है।

इसके अनुसार हम कार्य विशेष ही पर नैतिक निर्णय देते हैं। सामान्य नियम (General law) की स्थापना नही करते। इसका अर्थ होगा कि कोई सामान्य नियम हो ही नही सकता। जिस कार्य को हम आज उचित समझते हैं कल उसे ही दूसरी परिस्थिति मे अनुचित कह सकते हैं। फिर यदि एक ही मनुष्य के जीवन मे हम विभिन्नता पायेंगे तो फिर भिन्न-भिन्न मनुष्यो के निर्णय मे तो विभिन्नता होगी ही। अतः यहाँ नैतिकता का अर्थ आवेश का झोका होगा।

इसके उत्तर मे कहा जा सकता है कि परिस्थितियाँ समान नही होती। इसके लिये अलग-अलग परिस्थितियो में हमारे निर्णय अलग-अलग होगे ही। परन्तु ऐसा मानना सही नहीं है। क्यो कि परिस्थितियो मे विभिन्नता होते हुए भी महत्वपूर्ण बातो मे परिस्थितियाँ अवश्य ही समान होती हैं। फिर परिस्थितियो मे फर्क करने के लिये भी तो एक सामान्य नियम आवश्यक है। हमें जानना होगा कि कहाँ तक सामान्य रूप से परिस्थितियाँ एक कही जा सकती हैं। उनसे अलग होने पर ही हम दो परिस्थितियो को भिन्न कह सकते हैं। अतः सामान्य रूप से हम छुटकारा पा नहीं सकते।

फिर इस सिद्धान्त के पक्ष मे कहा जा सकता है कि उदाहरण, नियम से श्रेयस्कर है। हम सामान्य नियम नही समझ पाते परन्तु एक उदाहरण देने पर कोई कठिनाई नहीं रह जाती। अतः उपदार्शनिक सिद्धान्त की विशेषता है कि वह सामान्य नियम के बदले ठोस उदाहरण को ही अच्छा मानता है।

यह सही है कि उदाहरण किसी नियम का सर्वोत्तम प्रतीक है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि नियम अनावश्यक है। हम जीवन में तो नियम की ही चर्चा करते हैं। विशेष पर तो इसका प्रयोग भर होता है। मान लीलिये, कोई बालक हमसे पूछता है कि दूसरे की फुलवाड़ी से फल तोड़ना उचित है या अनुचित। हम उसे ऐसा नहीं कहते कि यह विशेष परिस्थिति पर निर्भर करता है। इसके लिये अपने अन्तःकरण से पूछो और वह जैसी आज्ञा दे, करो। ऐसा कहना तो हास्यास्पद होगा। हम तो उसे स्पष्ट कहते हैं कि "बिना आज्ञा के फूल तोड़ना चोरी है और चोरी बुरी बात है" सामान्य नियम को सुनकर वह बालक अच्छी तरह अपना कर्त्तव्य समझ जाता है। विशेष परिस्थितियों का हिसाब सदा रहेगा हीं।

अतः सामान्य नियम की अवहेलना हम कर ही नहीं सकते। विशेष (Particular) को समझने के लिये हमें सामान्य (General) को समझना ही होगा। इसलिये उपदार्शनिक अन्तर्निरीक्षणवाद की परिणति दार्शनिक निरीक्षणवाद में होती है। इस सिद्धान्त की अन्य आलोचनाके लिये हमने जैसा कहा है उस प्रकार कीवे सभी आलोचनाएं लागू हैं जो दार्शनिक सिद्धान्त पर होगी। दार्शनिक सिद्धान्त की आलोचना हम आगे करेंगे।

दार्शनिक अन्तःकरणवाद

हमने आरम्भ में ही देखा है कि जहाँ अदार्शनिक अन्तःकरणवाद का सिद्धान्त कार्य विशेष पर निर्णय देता है, वहाँ दार्शनिक सिद्धान्त सामान्य नियम को पहचान कर उसका प्रयोग बुद्धि द्वारा कार्य विशेष पर करता है। इस प्रकार दूसरा सिद्धान्त निगमनात्मक (Inferential) रूप धारण कर लेता है। फिर पहले सिद्धान्त में बुद्धि (Intellect) के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती लेकिन दूसरे में बुद्धि या विवेक द्वारा ही हम सामान्य नियम का प्रयोग कार्य विशेष पर करते हैं। यह तो हम जानते हैं कि अन्तःकरणवाद का प्रत्येक सिद्धान्त कार्यों के परिणाम की चिन्ता नहीं करता। उनके मूल्यांकन के लिये परिणाम की कुछ भी आवश्यकता नहीं पड़ती। यह तो हमारा अन्तःकरण अन्तर्ज्ञान द्वारा कर लेता है। अपरिवर्तनशील नियमवाद

लिये यदि हम किसी के कार्य को इमानदारी का कार्य कहते हैं तो इसका अर्थ हुआ कि यहा इमानदारी के सामान्य लक्षण का प्रयोग हम इस विशेष कार्य पर कर रहे हैं।

ओलौस्टन
(Wollaston)

ओलौस्टन, क्लार्क का अनुयायी है। इसके अनुसार किसी सही स्थिति को अस्वीकार करना ही नैतिक अशुभ (Moral evil) का लक्षण है। सत्य को स्वीकार करना 'उचित' है और अस्वीकार करना 'अनुचित' है। चोरी करना अनुचित है क्योंकि यहा हम एक सही स्थिति को अस्वीकार करते हैं। सत्य है कि सम्पत्ति का मालिक वह है जिसकी सम्पत्ति है। दूसरो का उस पर कोई अधिकार नहीं। हम दूसरो की सम्पत्ति का अपहरण करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हम यह नहीं मानते हैं कि इस पर सिर्फ उसके मालिक का ही अधिकार है। उस पर हम अपना अधिकार भी जमाना चाहते हैं। अतः चोरी अनुचित है क्योंकि हम इस सही स्थिति को अस्वीकार कर देते हैं। इस प्रकार जितने भी नैतिक अनुचित कार्य हैं, वे किसी न किसी सही स्थिति को अस्वीकार करने के कारण हैं।

अपरिवर्तनशील नियमवाद की आलोचना
Criticism of Dianoene theory

१ क्लार्क के अनुसार नैतिकता, वस्तुओं और मनुष्यो के सम्बन्ध की अनुकूलता और प्रतिकूलता पर निर्भर करती है। यह बिल्कुल ही उल्टी बात है। किसी सम्बन्ध वा कार्य को हम नैतिक तभी कहते हैं जब उनसे किसी नैतिक आदर्श की प्राप्ति होती है। आदर्श के अतिरिक्त सम्बन्ध अपने में कुछ भी नही है।

२. इन सभी विचारको ने नैतिकता को ज्ञान ही तक सीमित कर दिया है। इनके अनुसार नैतिक नियमो को सही-सही जान लेने में ही नैतिकता है। परन्तु यह विचार भी भ्रामक है। कान्ट के अध्ययन के सिलसिले में

हमने देखा है कि नैतिकता के दो पहलू हैं—ज्ञान की समस्या (Problem of insight) और कर्म की समस्या (Problem of will to do) सिर्फ ज्ञान हो जाने से ही हम कर्म करने नहीं लग जाते। अतः इस सिद्धान्त का दोष है कि इसने दूसरे प्रकार की समस्या का समाधान नहीं किया है।

३. ज्ञान में अनिवार्यता है, परन्तु नैतिकता में यह बात नहीं। नैतिक कार्य में तो स्वतंत्र इच्छा शक्ति होगी ही। ज्ञान में स्वतंत्र इच्छा का स्थान नहीं हो सकता है। हम जैसा चाहें, वैसा ही किसी वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता है; वरन् वस्तु का स्वभाव ही हमारे ज्ञान को आवश्यक रूप से सीमित करता है। परन्तु किसी नैतिक कार्य को करने या न करने मे हमे पूर्ण स्वतंत्रता रहती है। अतः ज्ञान और सद्गुण अथवा नैतिकता मे एकीकरण नही हो सकता।

४. इन विचारकों ने यह तो बतलाया कि नैतिक शुभ और अशुभ का भेद अन्तर्ज्ञान द्वारा होता है, परन्तु यह भेद है क्या, इसके सम्बन्ध मे ये चुप रहते हैं।

५. क्लार्क ने भौतिक विज्ञान और गणित शास्त्र का सहारा लिया है। परन्तु नीति शास्त्र और इन विज्ञानो के विषय और स्वभाव में अन्तर है। गणित और भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त मानव मस्तिष्क को मान कर नहीं चलते। यदि मनुष्य न भी हो तो वे नियम रहेंगे परन्तु नीति-शास्त्र में यह सम्भव नही। मस्तिष्क (Mind) तो नैतिकता की मान्यता है। यदि मनुष्य और उनके मस्तिष्क नहीं, तो नैतिक सिद्धान्त निरर्थक हैं। उनकी कल्पना ही नही हो सकती। इस प्रकार इन दोनो को एक नहीं माना जा सकता।

बारहवाँ अध्याय

काण्ट का रूपात्मवाद
(Formalism of Kant)

विषय प्रवेश—

काण्ट के नैतिक और तात्विक सिद्धान्तों मे एक अभिन्न सम्बन्ध है। अतः उसके नैतिक सिद्धान्तो के निरूपण के पूर्व उसके तात्विक सिद्धान्तों पर एक विहंगम दृष्टि देना असंगत न होगा।

विदित है कि काण्ट ने सत्य और प्रतीति में भेद किया। विश्व को वह दो भागों में बाँटता है :—

(१) विश्व जैसा अपने मे है। (World of things as they are in themselves.)

(२) विश्व जैसा हम इसे देखते हैं। (World of things as they appear to us.)

दूसरी दुनियाँ पहली से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि वस्तुओ के ज्ञानोपार्जन के समय मानव-मस्तिष्क उसमें परिवर्त्तन लाता है। उसमे ऐसे-ऐसे गुणो और सम्बन्धो को जोड़ता है, जो मानव-मस्तिष्क की देन हैं।

मनुष्य अपने से बाह्य दुनियाँ के बारे मे बिना परिवर्त्तन लाये कुछ भी नहीं जान सकता, क्योंकि ज्ञान की सबसे प्रथम कड़ी में ही वह वस्तुओ को दिक् (Space) और काल (Time) मे देखता है, जो उसके मस्तिष्क की देन हैं। आगे चलकर तो मस्तिष्क का हाथ और भी प्रधान हो जाता है। परन्तु यह ज्ञान तो सिर्फ बुद्धि सम्बन्धी (intellectual) ज्ञान है। इसके अतिरिक्त मनुष्यो में नैतिक-शक्ति (Moral faculty) भी पाई जाती है जिसके फलस्वरूप हमें नैतिक ज्ञान प्राप्त होते हैं।

काण्ट के अनुसार नैतिक अनुभव स्वयं ही एक प्रकार का ज्ञान है। इसमें हम जानते हैं कि हमे क्या करना चाहिये और क्या नहीं, भले ही उन्हें हम वास्तव करें या न करें। आगे चल कर वह फिर कहता है कि नैतिक अनुभव ही ऐसा ज्ञान है जिसका सीधा सम्बन्ध पहले प्रकार की दुनियाँ अर्थात् "विश्व जैसा अपने में है" से है। वस्तुज्ञान में तो व्यक्ति अपने से बाहर की चीजों को जैसा का तैसा नहीं जान पाता, परन्तु यहाँ यह सम्भव है। अतः काण्ट के अनुसार नैतिक अनुभव सबसे महत्त्वपूर्ण तात्विक अनुभव भी है, क्योंकि यहाँ मनुष्य का सम्बन्ध वास्तविक विश्व से सीधा होता है।

इस सम्बन्ध में एक चीज और जान लें कि काण्ट के अनुसार (Self) आत्मा के दो हिस्से हैं। पहले को वह (Empriel Self) व्यावहारिक आत्मा और दूसरी को (Transiedente self) परमार्थिक आत्मा कहता है। जब तक मानव पहले प्रकार की आत्मा से नियन्त्रित रहता है, उसका सम्बन्ध (Phenomenal world) व्यावहारिक विश्व से ही होता है; और इसमें वह पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं रहता। दूसरे प्रकार की आत्मा के नियन्त्रण में व्यक्ति पूर्णतया स्वतन्त्र रहता है और उसका सम्बन्ध (Noumenal world) वास्तविक विश्व से होता है।

यही संक्षेप में काण्ट के नीति-दर्शन की आधार-भूमि है और इसी पृष्ठ-भूमि मे हम उसके नैतिक सिद्धान्तों का अवलोकन करेंगे।

काण्ट का बुद्धिवाद
(Ratioanlism of Kant)

सुखवाद और बुद्धिवाद में एक मौलिक अन्तर है कि जहाँ पर पहला जीवन में भावना (feeling) को प्रधान मानता है, वहा बुद्धिवाद, बुद्धि या तर्क (Reason) को ही सब कुछ मानता है। प्रत्येक मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने विवेक द्वारा प्रचालित होकर इन्द्रिय और भावना (Senses and feelings) का दमन करे। आदर्श की उत्पत्ति बुद्धि से ही होती

है। इसे हम मनोविज्ञान और नीति-शास्त्र के अन्तर द्वारा समझ सकते हैं। मनोविज्ञान व्यक्तित्व का विश्लेषण करके यह बतला सकता है कि हम क्या हैं और क्या चाहते हैं। परन्तु हमे क्या करना चाहिये, यह बतलाना नीति-शास्त्र का ही काम है। यह विवेक द्वारा उत्पन्न होता है। विकासवादी मत द्वारा यह माना जाता है कि आदर्श की उत्पत्ति बुद्धि के विकास के बाद होती है। यह जानते हुए भी कि एक मनुष्य वंशानुक्रम और परिस्थिति (Heredity & Euvironment) से जकडा हुआ है, फिर भी हम कहते हैं कि उसने ग़ल्ती की, उसे ऐसा करना 'चाहिये'। अतः 'चाहिये' (Aught) की उत्पत्ति विवेक से ही होती है।

हमारे विवेक की यह विशेषता है कि नैतिक निर्णयो मे वह शुभ और अशुभ में भेद करने की क्षमता रखता है। चूंकि यह निर्णय विवेकपूर्ण भी होता है, इसलिये हमारे ऊपर यह दायित्व (Responsibility) हो जाता है कि हम उसे करें। विवेक कहता है कि यह मेरा कर्त्तव्य है, या आदर्श है। विवेक से उत्पन्न हुई चीजो में अविश्वास करने का अर्थ है कि हम अपने अस्तित्व में भी अविश्वास करें। अतः जब हम यह मानते हैं कि हमारे विवेक में यह क्षमता है कि वह उचित और अनुचित मे भेद कर सके तो यह हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि उसे हम अपना आदर्श मान कर उसे जीवन मे कार्य-रूप मे परिणत करें। राशडाल ने अपनी पुस्तक (The theory of good and evil) में व्याख्या करते हुए कहा है—

१. "यह मानने पर भी कि हमारी बुद्धि कुछ ऐसी चीजो का ज्ञान देती है, जिन्हें करना उचित है, फिर यह प्रश्न पूछने पर कि हम कैसे विश्वास कर

---

१. "To admit that our Reason assures us that there are something which it is right to do, and yet to ask why we should believe that those things aught to be done, is to ask why we should believe what we see to be true"

लें कि उन्हें करना भी चाहिये का अर्थ होता है कि हम पूछना चाहते हैं कि जिस वस्तु को हम सत्य देख रहे हैं, उसे हम सत्य कैसे मान लें।"

यह सचमुच ही बहुत हास्यास्पद स्थिति है। अतः बुद्धिवाद में दो प्रमुख बातें पाते हैं—

१—विवेक द्वारा कर्त्तव्य ज्ञान होता है।

२—यही ज्ञान इच्छा शक्ति के लिये यथेष्ठ प्रेरणा है।

निरपेक्ष आज्ञा
(Categorical-Imperative)

काण्ट ने नैतिक नियम (Moral law) को निरपेक्ष आज्ञा कहा है। नैतिक नियम एक आज्ञा है, यह तो ऊपर कही गई बातों से स्पष्ट है। यह आज्ञा बुद्धि प्रदत्त है। हमारी बुद्धि उचित-अनुचित में भेद कर हमें आज्ञा देती है और प्रेरणा देती है कि हम उसे करें। मान लीजिये, हमने यह तय किया कि सच बोलना श्रेयस्कर है तो क्या विवेक द्वारा हमें यह आज्ञा नहीं हुई कि हम सच बोलें? यह बात दूसरी है कि हम वैसा करने में असमर्थ हो जायें। इसी प्रकार प्रत्येक नैतिक नियम एक आज्ञा हैं जो कर्त्ता को विवेक और बुद्धि द्वारा दी जाती है।

इतना ही नहीं, काण्ट ने इसे निरपेक्ष (Categorical) आज्ञा माना है। आज्ञा दो प्रकार की हो सकती हैं, सापेक्ष (Hypothetical or conditional) और निरपेक्ष (Categorical or unconditional)। सापेक्ष आज्ञा वह हैं जो किसी फल प्राप्ति के लिये दी जाती है। यह उद्देश्य-पूर्ण हुआ करती है। मान लीजिये, एक पिता अपने पुत्र को आज्ञा देता है कि वह मन लगाकर पढ़े, क्योंकि इससे उसकी ज्ञानवृद्धि होगी और उसे अच्छी नौकरी मिलेगी। यह सापेक्ष आज्ञा है। 'पढ़ना' इसलिये अच्छा है कि उसे ज्ञान वृद्धि आदि फल की प्राप्ति होगी। निरपेक्ष आज्ञा वह है जिससे किसी फल या उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होती, वरन् वह स्वतः शुभ है। उसके साथ किसी भी व्यावहारिक उद्देश्य को जोड़ देना उसे सापेक्ष बनाना होगा। अतः वह सभी प्रकार के उद्देश्य से परे होता है।

नैतिक नियम को छोड़कर विश्व के अन्य जितने भी नियम हैं, वे सापेक्ष हैं। उदाहरण के लिये राज्य के नियम (Law of State) को लें। राज्य के नियम हम इसलिये मानते हैं कि उसमें व्यक्ति और समाज का हित है। अतः इससे उद्देश्य की प्राप्ति होती है, परन्तु नैतिक नियम ऐसा नहीं होता।

यहाँ एक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि काण्ट नैतिक नियम को निरपेक्ष मानता क्यों है? आरम्भ में ही हमने देखा कि काण्ट नैतिक शक्ति और साधारण ज्ञानोपार्जन शक्ति में भेद मानता है। जहाँ पहले का संबन्ध विश्व जैसे अपने में है, से है वहाँ दूसरे का संबन्ध "विश्व जैसा प्रतीत होता है" से है। अतः नैतिकता का संबन्ध व्यावहारिक विश्व की चीजों से स्थापित नहीं किया जा सकता। सांसारिक उद्देश्यों का संबन्ध व्यावहारिक विश्व से है। ये सापेक्ष हैं। विद्याध्ययन करना, रुपये कमाना, कसरत करना आदि सभी सापेक्ष हैं क्यों कि इनका संबन्ध व्यावहारिक विश्व से है। चूंकि नैतिक शक्ति का सम्बन्ध व्यावहारिक विश्व से नहीं हो सकता, अतः वह फल प्राप्ति के लिये नहीं हो सकता और फलस्वरूप वह निरपेक्ष होगा।

काण्ट कहता है (There is nothing good but good will) फिर इस (good will) की चर्चा करते हुये वह कहता है—१ "इस विश्व अथवा विश्व के परे भी शुभ-संकल्प के अतिरिक्त ऐसी कोई भी चीज कल्पनातीत है, जो बिना किसी शर्त के शुभ कहला सके।"

काण्ट का रूपात्मवाद

The formality of Kant

काण्ट ने अपनी पुस्तक (Critique of pure Reason) में दिखलाया है कि ज्ञान अनुभव (A posteriori) और प्रागनुभव (apriori) तत्वों का सामंजस्य है। सभी प्रकार के ज्ञान में वह ऐसी चीज मानता है, जिसे हम अनुभव मे नहीं पा सकते। वे तत्व प्रागनुभव माने गये हैं। वे ऐसे रूप या आकार (forms) हैं, जिन्हें काण्ट प्रागनुभव रूप (a priori form) मानता है। पर सामान्य ज्ञान के लिये सामग्री अथवा उपादान (Matter)

भी उतना ही आवश्यक है जितना रूप (form)। ये सामग्रिया अनुभव से मिलती हैं। ध्यान देने की बात है कि यह बात सामान्य ज्ञान के सम्बन्ध में भले ही सही हो, नैतिक क्षेत्र में नहीं। इसलिये काण्ट ने अपनी पुस्तक (Metaphysics of morals) में माना है कि नैतिक ज्ञान की अनुभव-जन्य सामग्री (A postereori Matter) की आवश्यकता नहीं। यही कारण है कि काण्ट की दृष्टि मे नैतिक नियम निरपेक्ष है और इसे रूपात्मवाद (formation) कहा जाता है। यह अनुभव शून्य है।

कर्त्तव्य, कर्त्तव्य के लिये

Duty for Duty sake

आरम्भ मे ही काण्ट मानता है कि जीवन में इन्द्रिय दमन (Supression of Sensibility) ही हमारा कर्त्तव्य होना चाहिये। अतः वैसे कार्य जो प्रवृत्ति वश किये जायें, उचित नहीं कहे जा सकते। वही कार्य नैतिक है जो "कर्त्तव्य, कर्त्तव्य के लिये" को ध्यान में रख कर किया जाय। यदि कोई कार्य नैतिक नियम के अनुकूल भी किया गया हो परन्तु वह प्रवृत्तिवश हो तो वह उचित नहीं कहा जा सकता। मान लीजिये, एक चतुर व्यापारी है। वह अपना व्यवसाय ईमानदारी के साथ कर रहा है। परन्तु ऐसा वह इस लिये करता है कि उससे उसके व्यापार में बृद्धि होगी। अपना कर्त्तव्य समझ कर वह ऐसा नहीं करता। काण्ट पूछता है कि क्या इस काम को हम उचित या नैतिक कह सकते हैं[१] ऐसा हम सिर्फ इसीलिये नही कह सकते क्योंकि वह प्रवृत्तिवश किया गया है। इसी प्रकार यदि कोई माँ वात्सल्य-प्रेम के कारण अपने बच्चे को प्यार करती है या कोई राष्ट्रसेवक राष्ट्रप्रेम के कारण राष्ट्र की सेवा

१ "There is nothing in the world, nay, even beyond the world; nothing conceivable which can be regarded as good without qualification saving alone a good will."

करता है, तो काण्ट की दृष्टि में वह उचित नहीं। यह सब तो भावना (Feeling) के कारण होना है। अतः उसने माना कि वही काम उचित है जो "कर्त्तव्य, कर्त्तव्य के लिये किया गया हो।"

कठोरतावाद

Rigorism

ऊपर की बातों से स्पष्ट हो जाता है कि काण्ट का मत कितना कठोर है। जीवन में भावना का कोई स्थान है ही नहीं। इसे निभाना तलवार की धार पर चलने के समान है।

इसे एक दूसरे कारण से भी कठोरतावाद माना गया है। काण्ट ने नैतिक नियम का कोई अपवाद नहीं माना है। वह मानता है कि कार्य करने में परिस्थिति आदि का ख्याल कर अपवाद को स्थान देना अपने को धोखा देना है। फिर ऐसा करने से इसमें उद्देश्य की बात भी आ जायगी। मान लीजिए नैतिक नियम है कि "सदा सत्य बोलना चाहिये।" हम इसका अपवाद मान लें कि किसी की प्राणरक्षा के लिये हम झूठ बोल सकते हैं। काण्ट कहेगा कि यह भी सापेक्ष हो गया। एक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए (प्राण रक्षा के लिये) ऐसा कहा गया। परन्तु नैतिक नियम उद्देश्य और अनुभव से परे है, इसलिए काण्ट के नैतिक सिद्धान्त में अपवाद की गुंजायश बिल्कुल है ही नहीं। इसलिये भी इसे कठोरतावाद कहा जाता है।

नैतिकता के तीन नियम

अभी हमने देखा कि काण्ट का सिद्धान्त रूपात्मवाद है। इसके अन्दर किसी भी ठोस सामग्री (Content) का सर्वथा अभाव है। स्पष्ट है कि काण्ट का नैतिक सिद्धान्त कोई विशेष वस्तु को करने या न करने की चर्चा कर ही नहीं सकता है। विश्व की सभी वस्तुएं व्यावहारिक (Empirical) और आकस्मिक (accidental) हैं, अतः वे पूर्णतया निरपेक्ष (Absolutely unconditional) हो ही नहीं सकतीं। इसलिये काण्ट के नैतिक नियम में हमें सिर्फ रूप या आकार (form) मिलते हैं, कोई

सामग्री (Content) नहीं। यह सिर्फ इतना ही भर कहता है कि विवेक के नियम (Law of Reason) का पालन करना ही नैतिकता है।

परन्तु यहाँ पर एक कठिनाई है। ऐसी बात है तो फिर हम जीवन में कर्त्तव्य निर्धारण किस प्रकार करेंगे? अगर हमें विशेष कर्त्तव्य (Particular only) बताया नहीं गया तो फिर हम सामान्य नियम से अपना कर्त्तव्य कैसे जान पायेंगे? काण्ट ने इसी कारण से तीन नियम माने हैं जिनके माध्यम से वास्तविक जीवन में हमें कर्त्तव्य ज्ञान हो सकेगा। अतः नैतिक नियम में सामग्री (Content) के अभाव में काण्ट ने इन्हीं नियमों का सहारा लिया है—

पहला नियम है—"१ ऐसे कार्य करो कि तुम्हारे कार्य के नियम तुम्हारी इच्छा से ही सार्वभौमिक नियम बनाये जा सकें।"

इसका अर्थ है कि कर्त्तव्य करने के पहले हम अपने से यह पूछें कि यह काम सार्वभौमिक (Universal) बनाया जा सकता है या नहीं। यदि विश्व के सभी आदमी ऐसा ही करने लगें और उसमें कोई विरोधाभास न आये तो वह 'उचित' है अन्यथा 'अनुचित'। ध्यान देने की बात है कि इन सभी नियमों में अपवाद की गुंजयश नहीं।

अनुचित कार्यों में विरोधाभास (Contradiction) स्वयं उठ खड़ा होता है। इस विरोध के लिये पर्याप्त कारण हैं। "अशुभ" (Evil) एक अमरलत्ती (Parasite) है, जो 'शुभ' (Good) के सहारे ही फलता फूलता है। यदि विश्व में शुभ बिल्कुल रहे ही नहीं तो 'अशुभ' अपने आप ही समाप्त हो जायगा। अतः अनुचित कार्य बिना अपना नाश किये हुये सार्वभौमिक बनाये ही नहीं जा सकते। उदाहरण के लिये झूठ बोलना लीजिये। झूठ बोलना, एक अनुचित कार्य है। इसे हम सार्वभौमिक बना ही नहीं सकते। झूठ बोलने का उद्देश्य दूसरे को धोखा देना है। अब यदि संसार के सभी मनुष्य झूठ ही बोलने लगें तो झूठ बोलने का उद्देश्य

"१. So act as if the law of thine action were to become by thy will law universal."

ही समाप्त हो जायगा, क्योंकि किसी की बात का विश्वास कोई करेगा हीं नहीं। हम झूठों की बात का विश्वास इसलिये कर लेते हैं कि विश्व में कुछ सत्यवादी हैं। अतः झूठ बोलना सार्वभौमिक नहीं बनाया जा सकता। इसी प्रकार चोरी, धोखा, आत्महत्या आदि जितने भी अनुचित कार्य हैं, सार्वभौमिक नहीं बनाये जा सकते। अतः काण्ट के प्रथम नियम का अर्थ हुआ कि काम करने के पहले हम यह सोच लें कि इसे सार्वभौमिक बनाने में कोई विरोध तो नहीं है।

दूसरा नियम है—"मनुष्यता को चाहे, वह तुम्हारे अपने व्यक्तित्व में है अथवा दूसरों में, कभी भी साधन न मानो, बल्कि सदा साध्य ही समझो।"१

हम लोगों ने आरम्भ में ही देखा कि नैतिक शक्ति (Moral faculty) के कारण मनुष्य का सम्बन्ध 'विश्व जैसा अपने में है' से है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य स्वतः शुभ (End in himself) है। वह कभी साधन नहीं बनाया जा सकता। इसी प्रकार हमें यह हक प्राप्त नहीं है कि किसी बुरे या भले उद्देश्य के लिये हम दूसरों को साधन बनायें। अपनी सुख-सुविधा के लिये दूसरों को साधन बनाना अनैतिकता है। काण्ट की दृष्टि में विश्व में ऐसा कोई आदर्श या उद्देश्य है ही नहीं जो इस प्रकार के शोषण को मान्यता दे सके। विश्व में शुभ तो बस एक ही है, और वह है शुभ इच्छा (good will) काण्ट अपने राजनीतिक सिद्धान्त में यहाँ तक कहता है कि राज्य को भी यह नैतिक अधिकार नहीं है कि वह व्यक्ति को साधन बनाये।

तीसरा नियम है—"आदर्शों के राज्य के सदस्य की तरह कर्त्तव्य करो।"२

कहा जाता है कि काण्ट के नीति-दर्शन के आधारभूत सिद्धान्तों में यह

---

१ "Ragard humanity whether in thine own person or in that of any one else always as an end and never as a means."

२ "Act as a member of kingdom of Ends"

सवश्रेष्ठ स्थान रखता है। कर्त्तव्य पालन के समय अपने और दूसरे मनुष्यों को समान समझना चाहिये। ऐसे समाज का हर व्यक्ति शासक (Sovereign) और शासित (Subject) दोनो है। शासक इसलिये कि वह नैतिक नियम को अपने ऊपर स्वयं लागू करता है, और शासित इसलिये कि वह नैतिक नियम का पालन करता है। अतः इस प्रकार के समाज मे हर व्यक्ति नैतिक नियम का पालन करता हुआ समाज के विकास में सहायक होगा।

काण्ट के ये तीनो नियम एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं हैं, वरन पूरक हैं। यही काण्ट का नीति-दर्शन है। अब इसका मूल्यांकन करेंगे।

आलोचना

१ सर्वप्रथम हम जानते हैं कि नीति-शास्त्र के सामने दो समस्याएँ हैं— कर्त्तव्य का निर्धारण और फिर उसका पालन। पहले का अर्थ हुआ, अपने कर्त्तव्य की पहचान (Problem of Insight) और दूसरे का उसके पालन करने की इच्छाशक्ति (will to do) इन दोनो के संयोग से ही नैतिक समस्याओं का हल हो सकता है। अगर हम अपना कर्त्तव्य जाने, लेकिन उसका पालन न कर सके या पालन करने की इच्छा तो हो, लेकिन कर्त्तव्य जानने की शक्ति न हो, तो ये दोनों ही बाते बेकार हैं। Socrates के इस कथन में कि (knowledge is virtue) "ज्ञान ही सद्गुण" है, यदि हम पहले प्रकार का दोष मानते हैं तो काण्ट मे दूसरे प्रकार का। काण्ट ने अपनी निरपेक्ष आज्ञा द्वारा यह तो सही बतलाया है कि हमें नैतिक नियमो का पालन क्यों करना चाहिये, लेकिन वे नैतिक नियम हैं क्या इसके सम्बन्ध मे उसका उत्तर यथोचित नहीं रहा है। कहा गया है कि इनके नैतिक नियम अनुभव से तो बिल्कुल परे ही हैं; इसीलिये यह समस्या उठ खड़ी होती है। उदाहरण के लिये हम शेक्सपियर के 'हैमलेट' को लें सकते हैं। वह कर्त्तव्य पालन के लिये तो अत्यन्त ही इच्छुक है। लेकिन जब भी कुछ करना चाहता है, उसके मन में द्वन्द्व उठ खड़ा होता है और वह कर्त्तव्य-निर्धारण में असफल रह जाता है। हममें से प्रत्येक इस सत्य का अनुभव अपने जीवन मे भी करता है।

अतः कागट में पहला दोष यह है कि वह "इच्छा-शक्ति" की समस्या का समाधान तो करता है, लेकिन "कर्त्तव्य ज्ञान" की समस्या को नहीं सुलझा सकता।

इसके उत्तर मे कागट की ओर से कहा जा सकता है, कि उसके द्वारा दिये गये तीनो नियम से हम अपने कर्त्तव्य का ज्ञान भली-भाँति प्राप्त कर सकते हैं। अतः अब हम देखें कि क्या सचमुच ये नियम हमे कुछ कर्त्तव्य-ज्ञान करा सकते हैं?

२. हम उनके पहले ही नियम को लें। "Act as if the law of thy action were to become by thy will law universal."

ऊपर से देखने से तो यह बहुत ही सुन्दर और व्यावहारिक लगता है, लेकिन जब हम इसका विश्लेषण भली भांति करते हैं तो कुछ और ही पाते हैं।

यह पूर्णतया निषेधात्मक निर्देश (Negative guide) है। यह हमें सिर्फ यही बतलाता है कि हमे क्या नहीं करना चाहिये। हमे क्या करना चाहिये, इसका उत्तर नहीं मिलता। इसको हम और भी स्पष्ट तरीके से इस प्रकार समझ सकते हैं।

इसका स्थान नीति-दर्शन में वही है, जो स्थान तर्कशास्त्र में "(Law of contradiction") 'विरोध नियम' का। यह भी सत्य की निषेधात्मक पहचान है। यह इतना ही बतलाता है कि दो निर्णय (Judgments) जो आपस में विरोधी हैं, एक साथ सत्य नहीं हो सकते। लेकिन दोनो में कौन सही है यह वह नही बतला सकता। जब हम यह जान लेंगे कि एक सही है तभी यह बतलायेगा कि दूसरा गलत है।

इसी प्रकार कागट हमें बताते हैं कि हमे उस काम को नहीं करना चाहिये जिसमें विरोधाभास आ जाय, कुछ असंगतियाँ आ जायें। अतः यह एक सिर्फ निषेधात्मक निर्देश है।

३. फिर भी कुछ लोग ऐसा नहीं मानते और कहते हैं कि यह हमें सही रास्ता भी बतलाता है। जब हम यह जानते हैं कि झूठ बोलने में विरोधाभास है, तो हमें झूठ नहीं बोलना चाहिये। अतः हमारा कर्त्तव्य हुआ "सत्य बोलना"। लेकिन हम अभी देखेंगे कि यह भी एक लचर दलील है।

यहाँ हम दो उदाहरण लेकर देखेंगे। जिस प्रकार बुरे 'कार्यों' को सार्वभौम बनाने मे विरोध हो जाता है ठीक उसी प्रकार का अच्छे कार्यों को भी अगर सभी करने लगे, तो यहाँ भी उसी प्रकार की बातें उठ खड़ी होंगी। दान देना एक अच्छा काम है। लेकिन यदि संसार के सभी आदमी दान ही देने लगे तो फिर दान लेनेवाला तो कोई रहेगा ही नहीं और 'दान देना' में जो अच्छाई है उसका अन्त हो जायगा। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य एक सद्गुण है लेकिन यदि सभी मनुष्य 'ब्रह्मचारी' ही हो जायें तो फिर १०० वर्षों के बाद मानव-वंश की भी 'इतिश्री' हो जायगी। अतः अच्छे और बुरे दोनों ही कार्यों को सार्वभौमिक बनाने में एक ही प्रकार की कठिनाई है।

४. इस प्रकार हम पाते हैं कि काण्ट के इस नियम से हम कुछ भी नहीं निकाल सकते, यह सिर्फ आकार (form) देता है (Content) वस्तु नहीं। Jacob ने कहा है "It is a will that wills nothing"; क्योंकि इससे कुछ भी ठोस आधार निकल नहीं पाता।

५. काण्ट के नियम उसके सिद्धान्त को परिणामवादी बना देते हैं। आरम्भ में काण्ट का कहना है कि हमारे कर्त्तव्य का औचित्य निर्धारण विवेक द्वारा होता है। हम किसी परिणाम की चिन्ता नहीं करते। हमें सदा बुद्धि का आदेश पालन करना चाहिये। यदि ऐसा ही है तो फिर उचित कर्त्तव्य की विशेषताओं को बताने की आवश्यकता ही क्या थी? क्या ये नियम इस बात के प्रतीक या सबूत नहीं है कि हम विवेक द्वारा कार्य करते हैं या नहीं? काण्ट का नियम है कि हम उन कार्यों को करें जिन्हें सार्वभौमिक बनाने में विरोध न हो। क्या गौण रूप से यह परिणामवादी नहीं हो जाता? सुख-वादी मत की तरह यहाँ भी कार्यों का औचित्य उसके उद्देश्य प्राप्ति पर

निर्भर करेगा। यह सार्वभौमिकता की ओट में परिणामवाद को अपनाना है। काण्ट के अनुसार इसका अर्थ होगा कि उचित कार्य वह है जिसे सभी मनुष्यों द्वारा करने पर भी उसका परिणाम होगा कि उसमें विरोध न होगा। अतः जिस काम का परिणाम (Consequence) यह हो कि उसमे विरोध हो जाये, वह अनुचित है। आखिर उपयोगितावाद का भी तो यही कहना है। उनके अनुसार भी तो कार्यों का औचित्य या अनौचित्य, उनके परिणाम (Consequences) पर ही निर्भर करता है। इस प्रकार यहाँ गौण रूप से परिणाम (Consequence) की ओर इशारा है।

६— यह सिद्धान्त अनुपयुक्त है। यदि दो प्रकार के कर्त्तव्यों में संघर्ष हो तो वहाँ यह हमारी कुछ भी सहायता नहीं कर सकता। उदाहरण के लिये सत्य बोलने और दूसरों की रक्षा करने को लीजिये। मान लिया जाय कि स्वतन्त्र रूप से ये दोनों ही काम उचित हैं, क्योंकि इन्हें सार्वभौमिक बनाया जा सकता है। परन्तु मान लीजिये, एक मनुष्य की जान खतरे में है। आपके झूठ बोलने से उसकी रक्षा हो सकती है। आप क्या करेंगे? यदि आप सच बोलते हैं तो दूसरे नियम का, उल्लंघन होता है और यदि आप रक्षा करना चाहते हैं, तो झूठ बोलना होगा और पहले नियम का उल्लंघन करना होगा। ऐसी परिस्थिति में काण्ट का सिद्धान्त पूर्णतया अनुपयुक्त हो जाता है।

७—यह अमनोवैज्ञानिक है—काण्ट का दोष है कि उसने इन्द्रियों (Sensibility) और बुद्धि (Reason) में व्यर्थ का द्वन्द मान लिया है। इसका परिणाम होता है कि हमारे कर्त्तव्य हमारे लिये असुखकर (Unpleasant) बन जाते हैं। परन्तु ऐसा मानना सर्वथा गलत है। पहले हम काण्ट की युक्तियों को ही समझने का प्रयास करें। काण्ट ने व्यक्तित्व के दो हिस्से कर दिये हैं—नैतिक आत्मा (Moral self) और व्यावहारिक आत्मा (Empirical self)। प्रथम का सम्बन्ध तो वास्तविक विश्व (World in itself) से है, और दूसरे का व्यावहारिक विश्व (World as it appears to be) से। फिर प्रथम तो इच्छा और आवेश के वशीभूत होता

है और दूसरा विवेक द्वारा प्रेरित। व्यावहारिक आत्मा बताता है कि हम क्या चाहते हैं और नैतिक आत्मा बताता है कि हमें क्या करना चाहिये।

काण्ट व्यावहारिक आत्मा या इन्द्रियों को पूर्णतया सुखवादी मानता है। यह सदा सुख प्राप्ति और दुःखत्याग के प्रयास में लगा रहता है।

नैतिक आत्मा या बुद्धि का कर्त्तव्य होता है कि वह इसका विरोध करे। इस प्रकार के विरोध मानने पर यह भी अनिवार्यतः मानना होगा कि इन्द्रियों का जो कुछ भी उद्देश्य होता है, बुद्धि उसका विरोध करती है। काण्ट ने माना है कि हमारी इन्द्रियां सुख चाहती हैं, इसलिये इसका अर्थ होगा कि हमारी बुद्धि सुख का विरोध करती है। हर प्रकार का कर्त्तव्य-पालन बुद्धि द्वारा प्रेरित होता है, जो इन्द्रियों का विरोध करता है, इसलिये प्रत्येक कर्त्तव्य असुखवाद है। यही काण्ट के सिद्धान्त का फलाफल है।

यह बात अत्यन्त ही असंगत जान पड़ती है कि हमारे कर्त्तव्य सदा असुखवाद होगे ही। इस असंगतता का एक मात्र कारण है कि काण्ट ने इन्द्रियों और बुद्धि में संघर्ष माना है। यह सही है कि हमारी इन्द्रियाँ हमें अनैतिक कार्यों की ओर प्रेरित करती हैं, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उन्हें पूर्णतया समाप्त ही कर देना चाहिये, तब तो कार्यों का स्रोत ही बन्द हो जायगा। आवश्यकता तो इस बात की है कि बुद्धि इन्द्रियों पर नियंत्रण रखे।

८—कठोरतावाद—काण्ट का यह सिद्धान्त अत्यन्त ही कठोर (Stringent) है। यह जीवन मे भावना (Feelings) का कोई स्थान मानता ही नहीं। इसके अनुसार यदि कोई माँ वात्सल्य प्रेम के वशीभूत होकर अपने पुत्र का पालन-पोषण करती है, कोई देशभक्त राष्ट्रप्रेम से ओत-प्रोत होकर अपना सर्वस्व बलिदान कर देता है तो काण्ट की दृष्टि मे ये कार्य उचित नहीं कहे जा सकते। इस प्रकार जीवन से भावना को उठा देना अत्यन्त कठोर है।

ऐसा मानने का दूसरा कारण भी है। विश्व के सभी नियमों का अपवाद अवश्य होता है। कुछ नियम ऐसे हैं जो अपवाद होने के कारण ही अच्छे माने जाते हैं। "झूठ बोलना बुरा है," यह एक सामान्य नियम है।

परन्तु झूठ बोलकर एक आततायी के चंगुल से किसी निर्दोष को बचा लेने को कोई बुरा नहीं मानता। परन्तु काण्ट ने अपने नैतिक नियमों का कोई अपवाद नहीं माना है। इस दृष्टि से भी यह सिद्धान्त अत्यन्त ही कठोर है।

६—यह सिद्धान्त व्यक्तिवादी (Individualistic) है। हमारी भावनाएँ ही हमे एक दूसरे से संबंधित रखती हैं। हम दूसरों को सुख में देखकर सुखी होते हैं और दुःख मे देखकर दुःखी। आखिर क्यों? इसलिये कि हम में प्रेम की भावना (Feeling of love) वर्तमान रहती है। अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृत्व (International Brotherhood) जैसी लम्बी-लम्बी बातें हम भावना के आधार पर ही किया करते हैं। परन्तु यदि काण्ट के अनुसार व्यक्तित्व में भावना का नामोनिशान न रह जाय, तब तो हर व्यक्ति अपने-अपने में एक इकाई होगा। दूसरों के साथ एकता स्थापित करने का अवसर ही उसे प्राप्त नहीं होगा। अतः यह सिद्धान्त व्यक्तिवादी है।

काण्ट के सिद्धान्त के गुण

काण्ट के सिद्धान्त के अपने गुण भी हैं। उसके सिद्धान्त का सार तत्व उसके शुभ संकल्प (Good-will) मे है, जिसे एकमात्र वह विश्व में अच्छा समझता है। अभी तक तो इस शुभ संकल्प को हमने पूरा रूपात्मवाद कहा है; परन्तु दूसरी दृष्टि से यथार्थतः यह ऐसा सिद्धान्त है, जिसे सर्वमान्य होना चाहिये। स्पष्ट है कि किसी कार्य का औचित्य उसके बाह्य परिणाम (External consequence) पर नहीं निर्भर करता। किसी कार्य को अच्छा या बुरा हम एक कर्त्ता की चेतन इच्छा-शक्ति (Conscious volition) के प्रसंग मे ही कर सकते हैं। फिर शुभ संकल्प को एक ठोस-कार्य (Concrete act) से अलग कर सिर्फ मानसिक क्रिया के रूप में देखना भी भ्रामक न होगा। इस प्रकार की मानसिक क्रिया को हम बोलचाल मे संकल्प (Will) भले ही कहें, वस्तुतः यह संकल्प नहीं। फिर संकल्प से इच्छा (Desire) को हम नहीं हटा सकते। अतः शुभ संकल्प एक सही ऐच्छिक क्रिया (Good

volition) है, जिसमे इच्छा, ठोस काम आदि सभी सन्निहित हैं। इस अर्थ में काण्ट का सिद्धान्त सर्वमान्य होगा।

काण्ट के सिद्धान्त का दूसरा गुण है कि उसने विवेक को बहुत ही ऊँचा स्थान दिया है। उसका यह दोष अवश्य है कि भावना और इन्द्रियों (feeling & sensibility) को वह पूर्णतया बेकार मानता है; परन्तु इतना तो मानना ही होगा कि विवेक का अंकुश सदा इन्द्रियों पर लगा ही रहना चाहिये।

इसकी तीसरी विशेषता है कि यहाँ मानवीय गरिमा (Human dignity) को स्वीकार किया गया है। बुद्धिजीवी होने के कारण मनुष्य मात्र का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने प्रत्येक कार्य मे विवेक का प्रयोग करे और इन्द्रियों का दमन करे। इन्द्रियों से तो एक पशु भी चालित होता है, फिर मनुष्य और पशु मे अन्तर क्या होगा?

काण्ट के सिद्धान्त में आत्म-बलिदान पर भी जोर दिया जाता है। यह इस सिद्धान्त की एक अन्य विशेषता है। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र आदि सबोंके दुःख के कारण हैं, उनकी अपरिमित इच्छायें। इच्छायें अभावों की खान हैं। परन्तु हर इच्छा की हम पूर्त्ति नहीं कर सकते। अतः दुःख होता है। इसलिये हमारा धर्म हो जाता है कि हम इच्छा का नाश करें। आत्म-संयम रखें। इस प्रकार व्यक्ति, समाज, राष्ट्र आदि के उत्थान के लिये आत्म-बलिदान आवश्यक है।

इस सिद्धान्त की पाँचवीं विशेषता यह है कि यहाँ 'उचित' (Right) को चालाकी (Expeding) से भिन्न समझा गया है। किसी कार्य का औचित्य उसके परिणाम में नहीं, वरन् कर्त्ता की इच्छा-शक्ति मे है। बाह्य नियमवाद, सुखवाद आदि का दोष यही है कि उन्होंने 'उचित' को चालाकी समझा है।

काण्ट के सिद्धान्त का दोष बतलाया जाता है कि उसमे अपवाद की

गुंजायश नहीं है। परन्तु ऐसा न मानने का प्रर्याप्त कारण भी है। एक बार अपवाद मान लेने पर उसका अन्त नहीं। हर मनुष्य की परिस्थिति अलग-अलग होती है; अतः अपवाद के बहाने सभी अपने मन की करना चाहेंगे। इसलिये नियम रूप मे यह माना जाना कि अपवाद सही नहीं है, कुछ अंश तक गलत नहीं मालूम होता।

काण्ट और गीता के निष्काम कर्म की तुलना भारतीय नीति-शास्त्र के अध्ययन के सिलसिले में की जायगी।

तेरहवाँ अध्याय

पूर्णतावाद

Perfectionism or Eudaemonism

पूर्णतावाद और अन्य सिद्धान्त

पिछले अध्यायो में हमलोगों ने बहुत-से नैतिक आदर्शों की छानबीन की; परन्तु नैतिकता की कसौटी पर कोई भी सिद्धान्त खरा नहीं उतर सका। सुखवादियो का मात्र सुख हमारा सर्वोच्च आदर्श (Summum Bornun) नहीं हो सकता। फिर हमने देखा कि बाह्य नियम के अनुकूल कार्य चातुर्यपूर्ण भले ही हो सकते हो, नैतिकतापूर्ण नहीं हो सकते। इसमें आदर्श का स्थान तो है नही। काण्ट का नैतिक सिद्धान्त तो इन सबोंसे आगे है। आत्मदमन और आत्म-बलिदान आदि मे हमें कोई भावात्मक (Positive) आदर्श मिलता ही नही। वह तो पूर्णतया निषेधात्मक सिद्धान्त है, जिसे सांसारिक जीवन में उतारना अत्यन्त ही कठिन है। अतः इन सभी प्रकार के सिद्धान्तो मे कुछ-न-कुछ दोष हैं। सभी एकागी (One-sided) हैं।

पूर्णतावाद इन सभी सिद्धान्तो के दोषो का निराकरण करता है। तत्त्व-विज्ञान में जो स्थान काण्ट के आलोचनावाद (Criticism) का है, नीति-शास्त्र में वहीं स्थान पूर्णतावाद का है। हम आगे चलकर देखेंगे कि किस प्रकार यह भिन्न-भिन्न विरोधी सिद्धान्तो में सन्धि स्थापित करता है। पूर्णतावाद के अनुसार नैतिकता न तो ऐन्द्रिक सुख की प्राप्ति में है और न उसके बलिदानमें ही। चरम आदर्श का अर्थ है—आत्म-प्राप्ति(Self-Realization) और आत्म-पूर्णता। हमारे व्यक्तित्व के सभी अंगो को जीवन में यथोचित स्थान तो मिलना ही चाहिये। सभी अंगों का सर्वांगीन और समुचित

विकास ही पूर्णता का अर्थ है। इस सिद्धात के माननेवालो में प्लेटो (Plato), एरिसटाटल (Aristotle), हेगेल (Hegel), ग्रीन (Green), ब्रैडले (Bradley), पालसन (Paulsen) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

आत्म-प्राप्ति का अर्थ

Meaning of Self-Realization

हमने अभी देखा कि पूर्णतावाद के अनुसार आत्म-प्राप्ति ही सर्वोच्च आदर्श है। आत्म-प्राप्ति का अर्थ समझने के लिये हमें व्यक्तित्व के भिन्न-भिन्न अर्थों को देखना होगा। सुखवादियो के अनुसार व्यक्ति में इन्द्रियों (Sensibility) का ही स्थान प्रमुख है। विवेक तो इन्द्रियो का दास है। अतः जीवन का आदर्श ऐन्द्रिक सुख ही है। इसके विपरीत विवेकवादियो के अनुसार विवेक का स्थान जीवन में प्रधान है; इन्द्रियो का कुछ स्थान है ही नहीं। अतः विवेकपूर्ण आचरण और इन्द्रियों का विनाश ही हमारा नैतिक आदर्श है। इस प्रकार पहला सिद्धान्त इन्द्रियो को और दूसरा विवेक को व्यक्तित्व का अर्थ मानता है।

पूर्णतावाद इन दोनों ही सिद्धान्तों से भिन्न है। उसके अनुसार इन्द्रिय और विवेक एक ही प्राणी के दो अंग हैं। अतः जीवन में इन दोनो का ही समुचित स्थान आवश्यक है। इसी दृष्टिकोण से इन मतावलम्बियो ने व्यक्तित्व (Individuality) और मनुष्यत्व (Parson lity) में भेद किया है। जब तक मनुष्य इन्द्रियो द्वारा संचालित होता है, वह एकमात्र व्यक्ति है। परन्तु जभी वह विवेक (Reason) द्वारा प्रेरित होता है, वह मनुष्य कहलाता है। विवेक द्वारा संचालित होने का अर्थ यह कदापि नही कि इसमे इन्द्रियो का स्थान हो ही नहीं, वरन् इन्द्रियाँ यहाँ विवेक द्वारा संचालित होती हैं। अतः मनुष्यत्व का अर्थ है विवेकपूर्ण आचरण और उसमें इन्द्रियों का समुचित स्थान। जब तक मनुष्य भाग्यवान व्यक्ति होता है, उसकी भावनाएँ स्वार्थमूलक होती हैं। उसे सदा दूसरों के साथ संघर्ष (Clash) होने का खतरा रहता है। परन्तु मनुष्यत्व रहने पर परार्थमूलक भावनाएँ काम करती

है। वहाँ व्यक्तियो मे पारस्परिक संघर्ष का खतरा उपस्थित नहीं होता। वे साथ रहकर सार्वजनिक सुख के लिये सचेष्ट रहते हैं। इस प्रकार मनुष्यत्व का अर्थ है, निम्न प्रकृति और इंद्रियो का विवेक द्वारा संचालन।

अब इस पृष्ठभूमि मे हम आत्म-प्राप्ति का अर्थ समझ सकते हैं।

आत्म-प्राप्ति का अर्थ है मनुष्य का पूर्ण विकास। प्रेम सहानुभूति और सामाजिक सेवा द्वारा ही इस आदर्श की प्राप्ति हो सकती है। समाज से अलग मनुष्यत्व का विकास सम्भव नही है। आत्म-पूर्णता (Self-Perfection) के लिये आत्म-त्याग भी अनिवार्य है। दूसरो के लिये अपना त्याग, फिर अपने ही उच्चादर्शों की प्राप्ति के लिये निम्न इच्छाओ का दमन ही हमारा कर्त्तव्य होना चाहिये।

फिर, जैसाकि हमने कहा, है व्यक्तित्व का सर्वांगीन विकास ही मनुष्यत्व है। अपनी सभी सम्भावित शक्तियो की प्राप्ति ही मानव-धर्म है। हममें शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक आदि भिन्न-भिन्न तरह की शक्तियाँ हैं। इन सबों का समुचित विकास ही हमारा आदर्श है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इन सबोका विकास समान रूप से होना चाहिये। यह कभी भी सम्भव नहीं। मनुष्य एक साथ ही सभी कुछ नहीं हो सकता। अतः हर प्राणी को अपनी सर्वोपरि शक्ति को पहचान कर उसका उचित विकास करना चाहिये। इसके अतिरिक्त अन्य शक्तियों का भी स्थान जीवन मे होना ही चाहिये।

यह सिद्धात आत्म-त्याग में विश्वास करता है। परन्तु काण्ट की तरह यहाँ आत्म-त्याग का अर्थ इच्छाओ या इन्द्रियो का साथ नहीं, वरन् उनपर विवेक का नियन्त्रण है। हमारी इच्छाओं को असीमित और अनियन्त्रित नहीं होना चाहिये। वैसी इच्छाएँ, जो हमारे व्यक्तित्व के विकास मे बाधा मात्र हैं, उनका दमन होना ही चाहिये। इस प्रकार पूर्णता के लिये संचालित और नियन्त्रित इच्छाओं और इन्द्रियों का स्थान जीवन में उतना ही आवश्यक है, जितना विवेक का।

आत्म-प्राप्ति में आन्तरिक आनन्द का भी अनुभव होता है। यह सही है

कि पूर्णतावाद ऐन्द्रिक सुख का विरोध करता है; परन्तु यह आन्तरिक आनन्द की अवहेलना नही करता। आत्म-प्राप्ति के सन्तोषप्रद भाव का ही नाम आनन्द है। एरिसटाट्ल के अनुसार आदर्श व्यक्ति वही है, जिसे आदर्श-पूर्ण कार्य करने में आनन्द का अनुभव हो। जिसे न्यायपूर्ण व्यवहार करने पर आनन्द न हुआ, उसे न्यायी कैसे कहेंगे? जिस दयावान पुरुष में किसी प्राणी पर दया करने पर आनन्द का उद्रेक न हुआ, वह भला दयालु कैसे कहा जायगा? अतः आत्म-प्राप्ति मे आनन्द की अनुभूति भी अर्थ-निहित है। ध्यान देने की बात है कि यहाँ कार्य सुख-प्राप्ति के ध्येय से नहीं किया जा सकता, वरन् उचित कार्य करने पर उससे स्वयं आनंद का प्रादुर्भाव होता है।

इस प्रकार प्रायः सभी विरोधी सिद्धातो की अच्छाइयो को अपनाता हुआ यह सिद्धांत आगे बढ़ता है।

पूर्णतावाद द्वारा विरोधी सिद्धान्तों में सन्धि-स्थापन

हमने आरम्भ ही मे कहा है कि पूर्णतावाद व्यक्तित्व के सम्बन्ध में एक संगठित दृष्टिकोण रखने के कारण बहुत-से विरोधी सिद्धान्तो मे सन्धि कराने में सफल होता है। व्यक्तित्व और उसके अवयवो के सम्बन्ध की चर्चा हम पीछे कर चुके हैं। यहाँ हम सिर्फ दो प्रश्नो को देखेंगे—१—स्वार्थ-वाद और परार्थवाद में सन्धि, २—सुखवाद और विवेकवाद मे सन्धि।

स्वार्थवाद और परार्थवाद में सन्धि
Reconciliation between Egoism and Altruism.

यही प्रश्न सुखवादियो के सम्मुख एक महान समस्या बनकर उठ खड़ा हुआ। बेन्थम, मील, स्पेन्सर और सीजवीक आदि किस प्रकार स्वार्थवाद से परार्थवाद पर जाने में असफल रहे हैं, इसे हम सुखवाद के अध्ययन के सिल-सिले में देख चुके हैं।

स्वार्थवाद के अनुसार व्यक्तिगत सुख ही आदर्श है; परंतु परार्थवाद के अनुसार सर्वाधिक मनुष्य का सर्वाधिक सुख। यह तभी सम्भव है, जब व्यक्ति अपना स्वार्थ त्यागने के लिये प्रस्तुत हो। लेकिन यदि सुख ही अभीष्ट है,

तो फिर किस दृष्टिकोण से व्यक्ति अपने सुख को लात मारकर अन्य के लिये सचेष्ट होगा। अतः सुखवादी आधार पर यह कदापि सम्भव नहीं।

पूर्णतावाद ने तो अपना दृष्टिकोण ही बदल लिया है। इसके अनुसार सर्वोच्च आदर्श सुख-प्राप्ति नहीं, वरन् आत्म-प्राप्ति (Self-Realization) या आत्म-पूर्त्ति (Self-Perfection) है।

हमने अपने व्यक्तित्व और मनुष्यत्व के अंतर को देखा है। व्यक्तियों मे अंतर है; पर तभी तक, जबकि वे इन्द्रियो द्वारा संचालित होते हैं। व्यक्तित्व ही एक व्यक्ति को दूसरे से अलग करता है। ऐसी परिस्थिति में आपस मे व्यक्तियों में संघर्ष और स्पर्धा की भावना रहती है। वे साथ मिलकर नहीं चल सकते। पर व्यक्तियों मे जहाँ विभिन्नता है, वहाँ समानता भी है। मनुष्यत्व एक ऐसा गुण है, जो सभी व्यक्तियों मे वर्त्तमान होता है। मनुष्यत्व के कारण ही व्यक्ति विवेक द्वारा संचालित होता है। उसकी इन्द्रियाँ नियंत्रित हो जाती हैं। चूँकि मनुष्य समाज से अलग रह नहीं सकता; अतः उसके आत्म-प्राप्ति जैसे आदर्श की पूर्त्ति समाज में ही हो सकती है। यहाँ वह समाज के व्यक्तियो का प्रतिद्वन्द्वी नहीं होता, वरन् उनका सहायक होता है और, साथ ही, समाज में अपना भी सहायक पा लेता है। उसका मनुष्यत्व उसे इस चीज के लिये प्रेरित करता है कि आत्म-पूर्णता के लिये आत्म-त्याग और आत्म-बलिदान आवश्यक हैं। परार्थ के लिये, आत्म-त्याग ही तो मनुष्यता का लक्षण है।

अतः आत्म-प्राप्ति एक ऐसा नैतिक आदर्श है, जिसकी प्राप्ति स्वार्थ और परार्थ के संघर्ष से नहीं, वरन् एकीकरण से होता है। इस प्रकार यह सिद्धांत स्वार्थ और परार्थ मे संधि कराने मे सफल होता है।

सुखवाद और विवेकवाद में सन्धि

Reconciliation between Hedonism and Rationalism

सुखवाद और विवेकवाद के संघर्ष से भी हम परिचित हैं। सुखवादियों के अनुसार जीवन की बागडोर इन्द्रियों के हाथ होनी चाहिये, तो दूसरी ओर,

विवेकवादियों के मत में इन्द्रियाँ हमें नीचे गिराती हैं । अतः उनका विनाश ही हमारा चरम आदर्श है । जीवन में इच्छाओं का कोई स्थान नहीं होना चाहिये । परन्तु जैसाकि सेथ (Seth) महोदय ने कहा है कि यह समस्या और भी आधारभूत है । जीवन के सम्बन्ध में उनलोगों का यह दृष्टिकोण उनके व्यक्ति के सम्बन्ध के विचारों का नतीजा है । "व्यक्ति या आत्मा (Self) क्या है ? किस आत्मा की पूर्त्ति हमारा आदर्श है ? सुखवाद का उत्तर है—ऐन्द्रिक (Sentient) व्यक्ति की पूर्त्ति । विवेकवाद का कहना है बौद्धिक (Rational) व्यक्ति की पूर्त्ति; परन्तु पूर्णतावाद के अनुसार सम्पूर्ण व्यक्ति अर्थात् ऐन्द्रिक और बौद्धिक दोनों ही की पूर्त्ति हमारा आदर्श है ।"[१]

इस प्रकार पूर्णतावादके अनुसार मनुष्य के दोनो ही अवयवों—इन्द्रियों एवं बुद्धि की पूर्त्ति होनी चाहिये । इन्द्रियाँ और इच्छाएँ निरर्थक नहीं । जीवन मे उनकी सार्थकता है । यह सही है कि जीवन में बुद्धि का स्थान ऊँचा है । इच्छाओं को उसके नियन्त्रण मे रहना ही चाहिये । परन्तु काण्ट की यह भूल थी कि उसने इच्छाओं को अनिवार्यतः बुरा ही माना । जिस प्रकार गंदगी कोई चीज नहीं, वरन् किसी वस्तु का अनुचित स्थान में रहना ही गंदगी है, उसी प्रकार इच्छाएँ बुरी नहीं होतीं, वरन् उनका अनियन्त्रित होना ही उन्हें बुरा बना देता है । इसे हम उदाहरण-द्वारा समझें । जब तक भोजन की सामग्रियाँ रसोईघर मे उचित ढंग से रखी रहती हैं, उन्हें कोई गंदा नहीं कहता । परन्तु उसी खाने को यदि सडक पर अनुचित स्थानों पर अनुचित ढंग से फेंक दिया जाता है, तो वह गन्दगी की संज्ञा ग्रहण कर लेता है । इसका अर्थ है कि भोजन अपने में गन्दा नहीं है, वरन् अनुचित स्थान और

---

१ "The qustion is : what is the self ? Which self is to be realized ? Hedonism answers: The sentient self; Rationalism answers : The rational self; Eudaemonism the total self, ration and sentient."

—Seth; Page—192

अनुचित ढंग ही उसे गंदा कर देता है। ठीक यही हालत हमारी इच्छाओं की भी है। वे मूलतया बुरी नहीं होती। उनका असंयमित और अपरिमित होना ही उन्हें बुरा बना देता है। यदि उन्हे बुद्धि की देख-रेख में रखा जाय, तो वे जीवन के लिये लाभदायक ही नहीं; वरन् अनिवार्य बन जाती हैं। अतः जीवन के इतने अधिक महत्त्वपूर्ण अंग को सर्वथा नष्ट कर देना जीवन को एकागी बनाना है। ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट हो चुका है कि इच्छाओं के आगे घुटने भी टेक देना मूर्खता ही है। उनपर तो बुद्धि का अंकुश रहना ही चाहिये। जगह-जगह आत्म-प्राप्ति के लिये इच्छाओ का दमन और विनाश आवश्यक है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि इच्छाओ और इन्द्रियों को संचलित रखा जाय।

इस प्रकार पूर्णतावाद इन दोनो विरोधी सिद्धातों में सन्धि स्थापित करता है। यह बुद्धि को ऊँचा स्थान तो प्रदान करता ही है; साथ ही, इच्छाओ को भी जीवन मे यथोचित स्थान देता है।

हेगेल की कुछ उक्तियों की व्याख्या

Explanation of some Hegelian Maxims

हेगेल आधुनिक काल में पूर्णतावाद के एक महान प्रतिपोषक माने जाते हैं। चूँकि ऊपर हमने पूर्णतावाद का एक सामान्य (General) परिचय पा लिया है; अतः यहाँ हम सिर्फ हेगेल की दो उक्तियो की चर्चा करेंगे। इन्हीं दो उक्तियों से उनका नीति-शास्त्र का दृष्टिकोण भी स्पष्ट हो जाता है। ये उक्तियाँ हैं—"मनुष्य बनो" (Be a person) और "जीने के लिये मरो" (Die to live)। यहाँ हम इन दोनो को अलग-अलग देखेंगे।

मनुष्य बनो

(Be a person)

इसका अर्थ है कि व्यक्तित्व से ऊपर उठकर मनुष्यत्व का निर्माण करना ही श्रेय है। व्यक्तित्व के नियन्त्रण और संयम से ही मनुष्यत्व की पूर्ति हो सकती है। व्यक्तित्व तो मनुष्यो की तरह पशुओ में भी है। इस दृष्टिकोण

से मनुष्य भी इच्छाओ और आवेशो के वशीभूत रहता है। परन्तु मनुष्यत्व अथवा बुद्धि के कारण ही वह पशुओ से ऊपर उठकर अपनी उद्दाम इच्छाओ को वश मे रखता है। मनुष्य बनकर ही एक दूसरे के लिये पारस्परिक त्याग कर सामूहिक रूप से कार्य कर सकता है। अतः आत्म-पूर्त्ति की प्राप्ति मनुष्य बनने पर ही सम्भव है।

जीने के लिये मरो
(Die to live)

इसका अर्थ भी अब तक पाठकों की समझ में आ ही गया होगा। अतः इस सम्बन्ध मे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं।

इसका अर्थ है कि आत्म-प्राप्ति के लिये आत्म-बलिदान की आवश्यकता है। बुद्धि के लिए इन्द्रियो का दमन और बलिदान अनिवार्य है। बुरी भावनाओ और इच्छाओ का विनाश होना चाहिये, ताकि पूर्ण व्यक्तित्व का विकास सुचारु रूप से हो सके। परिमाणतः, सार्वजनिक जीवन के लिये व्यक्तिगत जीवन का बलिदान करना चाहिये। संक्षेप मे, इसका अर्थ है कि उच्च व्यक्तित्व के विकास के लिये व्यक्तिगत (Individual) सुख का त्याग आवश्यक है।

चौदहवाँ अध्याय

अधिकार और दायित्व

Rights and Obligations

अधिकार और दायित्व—यहाँ हम 'अधिकार' और 'दायित्व' के अर्थ और उनके पारस्परिक सम्बन्ध का निरीक्षण करेंगे। मनुष्य एक समाज में रहता है। उस समाज के प्रति उसके कुछ कर्त्तव्य होते हैं और फिर उस समाज से कुछ ग्रहण करने का उसे अधिकार भी रहता है। इसी अधिकार की यथार्थता के लिए राज्य-नियम, सामाजिक नियम आदि की व्यवस्था होती है, जिससे व्यक्ति का यह अधिकार कभी खतरे में न हो। व्यक्ति के कौन-से अधिकार हैं, इसे तो हम बाद में देखेंगे।

'अधिकार' और 'दायित्व' सापेक्ष पद हैं। हर अधिकार के प्रति-स्वरूप एक दायित्व होता है। यदि व्यक्ति का समाज के प्रति कुछ अधिकार है, तो समाज का भी दायित्व है कि व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा हो। यदि 'क' का यह अधिकार है कि 'ख' उसकी जान न ले, तो 'ख' के लिए भी यह दायित्व है कि वह 'क' की जान की रक्षा करे। इन दोनों पदों में एक दूसरे प्रकार का भी सम्बन्ध है। यदि किसी व्यक्ति का कुछ अधिकार है, तो उसके लिए यह दायित्व भी हो जाता है कि वह दूसरों के अधिकारों की रक्षा करे, इस प्रकार स्पष्ट है कि दायित्व कर्त्तव्य का परिणाम-स्वरूप होता है।

अधिकारों के प्रकार

१—मानवीय अधिकार

सर्वप्रथम मनुष्य को जीने का अधिकार है। व्यक्ति का आदर्श आत्म-

पूर्णता (Self-Realization) है। इसकी पूर्त्ति बिना जीए नहीं हो सकती है। अपवाद-रूप में आत्म-प्राप्ति ही के लिए आत्मोत्सर्ग की भी आवश्यकता पड़ती है। पर सामान्यतया इसके लिए जीना ही अनिवार्य है।

आश्चर्य है कि आदिम काल से आज तक व्यक्ति के इस आदर्श की रक्षा पूर्णरूपेण नहीं हो पायी है। समाज के व्यक्ति आपस में इस अधिकार का पालन करें, इसके लिए तो राज्य ने बहुत सारे नियम बनाये हैं और उनका प्रयोग भी होता है; परन्तु राज्य स्वयं इसका पालन नहीं करता। दलबन्दी (Party) अथवा राष्ट्र-प्रेम (Nationalism) के भावावेश में आकर राज्य व्यक्ति के इस आदर्श को पूर्णतया भुला देता है। स्पष्ट है कि व्यक्ति के जीने का अधिकार तब तक सुरक्षित न रहेगा, जब तक उसे जीविकोपार्जन के लिए उचित साधन न हो। अतः जीने के अधिकार में ही श्रम का अधिकार भी निहित है।

जीने के इस अधिकार के फलस्वरूप जिस दायित्व का जन्म होता है, वह यह है कि हर मनुष्य को अपनी और दूसरों की जान को पवित्र मानना चाहिए। जब कोई भी इस दायित्व का निर्वाह नहीं करता, तो वह उस अधिकार का अधिकारी भी नहीं हो सकता। जो किसीका खून करता है, उसे फाँसी होनी ही चाहिए; क्योंकि दायित्व-निर्वाह के अभाव में वह अधिकार का भी भागी नहीं।

२—स्वतन्त्रता का अधिकार
Right to Freedom

आत्म-प्राप्ति के लिए व्यक्ति को अपनी इच्छाशक्ति के प्रयोग और कार्य करने के लिए स्वतन्त्रता आवश्यक है। अतः स्वतन्त्रता उसका जन्म-सिद्ध अधिकार है। स्वतन्त्रता का अर्थ यह नहीं कि व्यक्ति जो भी चाहे, कर सके। यह तो जंगल का नियम हो जायगा, जो किसी भी आधुनिक सभ्य-समाज या राष्ट्र के लिए घातक सिद्ध हो सकता है। व्यक्तिगत तथा सामाजिक हित को ध्यान में रखते हुए हमें स्वतन्त्रता की माँग करनी चाहिए। यहाँ भूतपूर्व अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवेल्ट (Roosevelt) की चार प्रकार की स्वतन्त्रताओं (Four freedoms) का उल्लेख आवश्यक है। वे हैं :—

(I) सोचने और बोलने की स्वतन्त्रता (Freedom of thought and expression).

(II) हर व्यक्ति को अपनी इच्छा से ईश्वर-पूजा की स्वतन्त्रता (Freedom of every person to worship God in his own way.)

(III) अभाव की स्वतन्त्रता (Freedom from want)

(IV) भय की स्वतन्त्रता (Freedom from fear)

संयुक्त राष्ट्र (United Nations) ने इन्हें मूर्त रूप देने के बहुत-से प्रयास भी किए हैं।

इस अधिकार के अनुरूप फिर दायित्व की उत्पत्ति होती है। जो इन स्वतन्त्रताओं की मांग करते हैं, उनके लिए दायित्व भी है कि वे अपनी स्वतन्त्रता का प्रयोग शुभ कार्यों के लिए ही करें। विध्वंसात्मक कार्यों के लिए स्वतन्त्रता का प्रयोग उन्हे इस मौलिक अधिकार से वंचित कर देगा।

३—सम्पत्ति का अधिकार

Right to Property

जीवन-सम्बन्धी समस्यायों की पूर्त्ति के लिये जिन साधनो की आवश्यकता पड़ती है, उनमे सम्पत्ति का स्थान प्रधान है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये व्यक्ति को सम्पत्ति चाहिये। अतः सम्पत्तिवान होना उसका अधिकार है।

परन्तु किसी भी राष्ट्र मे सम्पत्ति सीमित ही होती है। साथ ही, सम्पत्ति की आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति को होती है। अतः यह अन्याय है कि किसी के पास अपार सम्पत्ति हो और दूसरी ओर लाखों के पास एक पैसा भी न हो। अतः सम्पत्ति का सामाजिक वितरण आवश्यक है। परन्तु यह वितरण किस प्रकार होना चाहिये, यह कार्य समाज-दर्शन का है। यही कारण है कि प्राचीन काल मे प्लेटो और आधुनिक काल के समाजवादी वैयक्तिक सम्पत्ति को ही उठा देना चाहते हैं।

सम्पत्ति के अधिकार के फलस्वरूप हम पर यह दायित्व भी हो जाता है कि उसके माध्यम से हम दूसरो का शोषण न करें, वरन् यथासम्भव उसका प्रयोग सामाजिक हित के लिये करें। जो इस दायित्व का निर्वाह नही कर सकते, वे सम्पति के अधिकारी भी नहीं हो सकते।

४–शिक्षा का अधिकार
Right to Education

ज्ञानोपार्जन हर व्यक्ति का अधिकार है। उसे अंधेरे में नहीं रखा जा सकता। यही कारण है कि आज के युग का हर राष्ट्र अपने नागरिकों की अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा के लिये सचेष्ट है।

फिर सभी व्यक्तियों के लिये भी यह दायित्वपूर्ण है कि वे स्वयं अपनी शक्ति और सुविधा के अनुसार शिक्षा पायें और दूसरों को भी इसकी सुविधा दें।

५-संविदा का अधिकार
Right to Contract

इसका अर्थ है कि हर व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह दूसरो के साथ कोई संविदा कर सके। इसका पालन दोनो का कर्त्तव्य है। मान लीजिये कि एक स्वामी (Employer) और सेवक (Employee) में एक संविदा होता है, जिसके अनुसार सेवक अपनी सेवा के बदले मे कुछ रुपये पायेगा और स्वामी अपने रुपये के बदले मे सेवाएँ पायेगा। अब ये दोनों ही उस संविदा के अनुसार अपने-अपने अधिकार के अधिकारी हैं। स्वामी सेवा का और सेवक रुपये का अधिकारी है।

इसका दायित्व है कि संविदा की शर्तें असंगत (Unreasonable) नहीं होनी चाहिये। किसी स्वामी को यह नहीं चाहिये कि सेवक की गरीबी की लाचारी से उससे नाजायज सेवा लेना आरम्भ कर दे। इसी प्रकार सेवक को भी स्वामी की लाचारी से नाजायज मांग नहीं करनी चाहिये। संविदा

का अर्थ ही है कि वह बिना किसी दबाव के ही इच्छापूर्वक किया गया हो।

यही प्रधान अधिकार माने जाते हैं।

दायित्व

Obligations

हमने अभी देखा है कि अधिकार और दायित्व सापेक्ष पद हैं। इसी प्रकार जब हम कहते हैं कि पड़ोसी की सहायता करना हमारा कर्त्तव्य है, अथवा पड़ोसी का हमसे सहायता पाना उसका अधिकार है, तो इसका अर्थ होता है कि यह हमारा दायित्व है कि हम उसकी मदद करें। अतः दायित्व एक प्रकार की आन्तरिक प्रेरणा है।

एक बात जानने की है कि अधिकार की रक्षा के लिये सरकार की ओर से नियम रहते हैं; परन्तु दायित्व-निर्वाह प्रधानतया नैतिक ही है। इसे हम किसी पर लाद नहीं सकते।

दायित्व-निर्वाह के सिद्धान्त

नीति-शास्त्र के जितने भी नैतिक सिद्धान्त हैं, उन्हींके अनुरूप दायित्व-निर्वाह की शर्त्तें भी मानी गयी हैं। यहाँ हम उन्हीं सिद्धान्तों को देखेंगे —

१—सर्वप्रथम हम नियमवाद को लें। इसके अनुसार नैतिक नियमों को मानना ही हमारा दायित्व है। इस दायित्व की शर्त्तें हैं दण्ड और पुरस्कार। समाज, ईश्वर, राज्य सबोंके नियम दण्ड और पुरस्कार के द्वारा ही मनवाये जाते हैं। दण्ड के भय और पुरस्कार के लोभ से हममें यह प्रेरणा होती है कि हम उन नियमों को मानें; अतः लोभ और भय इस दायित्व निर्वाह की शर्त्त है।

स्पष्ट है कि दायित्व का इस प्रकार का निर्वाह कभी भी नैतिक नहीं हो सकता। यह चतुराई है, नैतिक नहीं।

२—दूसरा सिद्धान्त स्वार्थी सुखवादियों का है। उनके अनुसार व्यक्तिगत सुख की प्राप्ति ही हमारा आदर्श होना चाहिये। अतः इसके अनुसार इस

आदर्श या कर्त्तव्य का दायित्व है कि व्यक्तिगत सुख के लिये हम ऐसा आचारण करें। यहाँ स्वार्थ ही इस दायित्व-निर्वाह की शर्त्त है।

चूँकि यह सिद्धान्त स्वयं ही निन्दनीय है; अतः दायित्व सम्बन्धी यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं।

३—तीसरा मत परार्थ सुखवादियो का है। उनके अनुसार सर्वाधिक मनुष्यो का सर्वाधिक सुख ही हमारा आदर्श होना चाहिये। उनके मत में इस दायित्व की शर्त्त सामाजिक भावना, दया और सहानुभूति है।

परन्तु इस सिद्धान्त के अध्ययन के सिलसिले में हमने देखा है कि "सुख" आदर्श होने पर स्वार्थ से परार्थ तक पहुँच पाना ही असम्भव है। अत: इनका यह सिद्धान्त भी गलत है।

४—चौथा मत अन्तःकरणवादियो का है। उनके अनुसार अन्तःकरण (Conscience) के आज्ञानुसार कार्य करना ही उचित आचरण कहा जायगा।

इनके अनुसार कार्य का औचित्य ही दायित्व-पूर्त्ति की शर्त्त है।

परन्तु जैसाकि हमने अन्तःकरणवाद के अध्ययन में पाया है कि यदि अन्तःकरण की प्रेरणाओ मे ही संघर्ष उठ खड़ा हो, तो दायित्व-निर्वाह की बात अलग रहे, हम आदर्श-निर्धारण भी नहीं कर सकते।

५—अन्तिम सिद्धान्त पूर्णतावादी विचारकों का है। इनके अनुसार आत्मपूर्णता ही हमारा आदर्श है। यह मत इन्द्रियो और विवेक में समन्वय स्थापित करता है।

दायित्व, इस सिद्धान्त के अनुसार, बाहर से लादा नहीं जाता; वरन् अन्दर से ही आता है। यह आत्म-प्रेरित होता है। आत्म-पूर्णता के फलस्वरूप स्वयं ही इसकी उत्पत्ति होती है।

इन सभी सिद्धान्तो में अन्तिम सिद्धान्त ही सर्वश्रेष्ठ है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

कर्त्तव्य और सद्गुण

Duties and Virtues

अधिकार, दायित्व और कर्त्तव्य

कर्त्तव्य और सदगुण को देखने के पूर्व हमें अधिकार, दायित्व और कर्त्तव्य के सम्बन्ध को देख लेना आवश्यक है। इन तीनो मे अविच्छेद्य (inseparable) सम्बन्ध है। एक ही कार्य तीन दृष्टिकोण से देखने पर अधिकार, दायित्व और कर्त्तव्य बन जाता है। उदाहरण के लिये हम 'क' और 'ख' दो मनुष्यो के सम्बन्ध को लें। 'क' और 'ख' दोनो का यह अधिकार है कि समाज मे उनकी जान की रक्षा हो। इस अधिकार के फलस्वरूप उनपर यह दायित्व है कि वे पारस्परिक रूप में और फिर दूसरो की भी जान की रक्षा करें। परन्तु दायित्व तो सिर्फ विचारों मे ही होता है। उसे मूर्त्त रूप देने के लिये यह हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि आवश्यकता पड़ने पर हम ऐसे आचरण करें, जिनसे दूसरो के प्राण की रक्षा हो सके। अतः अधिकार समाज के प्रति व्यक्ति की उचित माँग है, दायित्व विचार-रूप में उस अधिकार के फलस्वरूप उत्पन्न कर्त्तव्य-निष्ठा की प्रेरणा है और कर्त्तव्य उस अमूर्त्त कर्त्तव्य-निष्ठा रूपी प्रेरणा को आचरण-रूप में ढालने का नाम है।

कर्त्तव्य और सद्गुण

शुभ कार्यों को करना ही हमारा कर्त्तव्य है। जो बुरे कार्य हैं, उन्हें न करना भी हमारा कर्त्तव्य होता है। अतः कर्त्तव्य का भावात्मक और निषेधात्मक दोनो रूप होता है। शुभ कार्यों को करना और अशुभ को नहीं करना दोनों ही हमारे कर्त्तव्य हैं।

सद्गुण चरित्र का आभूषण माना जाता है। इसे धीरे-धीरे हम अपने उचित आचरणों द्वारा अर्जित करते हैं। दुर्गुण (vice) सद्गुण का उल्टा है। यह भी अनुचित कार्यों द्वारा ही अर्जन किया जाता है। यदि हम अभ्यास-जन्य (Habitual) रूप से उचित आचरण करते हैं, तो वही सद्गुण, आदर्श अर्थात् शुभ की ओर कर्त्ता के स्वाभाविक झुकाव (Habitual action) का नाम है। उदाहरण के लिये हम सेवा-कार्य को लें। मान लीजिये, दो व्यक्ति सड़क से होकर गुजर रहे हों। एक अन्धा सड़क पार करने के लिये चिल्ला-चिल्लाकर सहायता की माँग कर रहा है। अब दो व्यक्तियों में से एक का स्वभाव ही है कि वह दूसरों को दुःख में देखकर उनकी सेवा के लिये आतुर हो उठता है। वह यहाँ भी उसके सहायतार्थ दौड़ पड़ता है। परन्तु, दूसरा व्यक्ति अपने से बड़े पदाधिकारी के साथ चल रहा है। अपने आफिसर को खुश करने के लिये वह और भी दौड़कर उस अन्धे को सड़क से पार करा देता है। यहाँ हम पहले व्यक्ति के चरित्र में सद्गुण पाते हैं; परन्तु दूसरे के चरित्र में सद्गुण का सर्वथा अभाव है। वह तो एकमात्र धूर्त व्यक्ति ही कहा जायगा। अतः सद्गुण शुभ कार्यों की ओर एक प्रकार का स्वाभाविक झुकाव है।

इसी प्रकार उचित आचरणों के करते-करते हम सद्गुण का अर्जन करते रहते हैं। अतः यह एक प्रकार से सामान्य स्वाभाविक झुकाव है।

अब हम कर्त्तव्य और सद्गुण के पारस्परिक सम्बन्ध को देख सकते हैं। इन दोनों ही प्रत्ययों का प्रयोग एक ही वस्तु को दो पहलुओं से देखने के लिये किया जाता है। सद्गुण चरित्र के आन्तरिक भाग की ओर लक्ष्य करता है। जैसा हमने कहा है कि यह चरित्र का आभूषण है। परन्तु बाह्य नहीं, वरन् आन्तरिक। फिर हम जानते हैं कि आचरण चरित्र का द्योतक है। 'उचित आचरण' को ही हम कर्त्तव्य कहते हैं। अतः जहाँ सद्गुण चरित्र के आन्तरिक रूप की ओर लक्ष्य करता है, कर्त्तव्य उसके बाह्य रूप की ओर।

सद्गुण मात्र ज्ञान है अथवा अभ्यासजन्य इच्छा ?

Is virtue a kind of knowledge or a habit of wills ?

सद्गुण मात्र ज्ञान है अथवा अभ्यास-जन्य इच्छा, यह प्रश्न विवादास्पद रहा है। ऊपर से देखने में ये दोनों ही विकल्प-विरोधी मालूम पड़ते हैं; परन्तु वस्तुतः ये एक दूसरे के पूरक हैं। ज्ञान और अभ्यास में विरोध का नहीं; वरन् अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। ज्ञान की परिणति अभ्यास में होती है और अभ्यास द्वारा ज्ञान भी परिपक्व होता है। ये दोनों ही बातें सद्गुण के सम्बन्ध में किस प्रकार सम्भव हैं, यही देखना हमारा तात्पर्य है।

सुकरात ने कहा—"ज्ञान ही सद्गुण है"। उसके अनुसार यदि किसीको कर्त्तव्य-ज्ञान है; यदि उसे अपने सही आदर्श का पता है, तो फिर वह उसे कार्य-रूप में परिणत करेगा ही, जिसके फलस्वरूप सद्गुण की उत्पत्ति होगी। अतः उसके मत में ज्ञान ही सद्गुण है।

इस मत के पक्ष और विपक्ष में बहुत-सी बातें कही गई हैं। उनकी चर्चा करना यहाँ हमारा उद्देश्य नहीं। यहाँ हम सिर्फ एक दोष की ओर देखेंगे। कार्य करने में ज्ञान और इच्छा-शक्ति दोनो का ही बराबर स्थान है। हमारा कर्त्तव्य क्या है, इसे जानना ज्ञान हुआ। परन्तु हममें इतनी शक्ति हो कि हम उसे वस्तुतः कार्य मे ला सकें, इसे इच्छा-शक्ति कहेंगे। 'सत्य बोलना चाहिये।' यह ज्ञान तो शायद सबोंको होता है। परन्तु कितने आदमी सत्यवादी होते हैं ? इसका कारण है कि उनमें इच्छा-शक्ति का अभाव है। अतः ज्ञान और इच्छा-शक्ति दोनों ही कर्त्तव्य करने के लिये आवश्यक हैं और तभी सद्गुण की उत्पत्ति हो सकती है।

अतः सद्गुण मात्र ज्ञान नहीं हो सकता। परन्तु ज्ञान की महत्ता को हम इन्कार भी नहीं कर सकते। पूछा जा सकता है कि क्या सद्गुण सिखलाया जा सकता है ? इसके उत्तर मे हम एरिसटाटल के साथ कह सकते हैं कि यह सही माने में सीखने की चीज है। सर्वप्रथम तो हम इसे दूसरों से सीखते हैं। हम अपने माता-पिता, गुरुजन, साथी और फिर समाज से इसे

सीखते हैं। एक छोटा बच्चा आरम्भ में सफाई का ध्यान नही रखता। साफ-सुथरा रहने की शिक्षा वह दूसरो से ही पाता है। अन्त में वह समझ पाता है कि साफ-सुथरा रहना एक सद्गुण है। इसी प्रकार जीवन की अन्य अच्छी बातें वह सीखता है। इस अर्थ में सद्गुण एक प्रकार का ज्ञान ही है, जिसे हम दूसरो से सीखते हैं। परन्तु दूसरो के अतिरिक्त व्यक्ति अपनी बुद्धि का प्रयोग कर भी जीवन मे इसे सीखता है।

लेकिन अन्य गुणों की तरह सिर्फ ज्ञान से ही यहाँ काम नहीं चलता। उस ज्ञान को जीवन मे उतारना आवश्यक है। कर्त्तव्य करने पर ही सद्गुण आता है, मन ही मन विचार करने पर नही। जिस प्रकार चलना सीखने के लिये चलना जरूरी है और बोलना सीखने के लिये बोलना है, उसी प्रकार सद्गुण प्राप्त करने के लिये कर्त्तव्य करना आवश्यक है। किसीको बोलते देखने से हम बोलना नहीं जान सकते और न चलते देखकर चलना ही सीख सकते हैं। हमे तो व्यवहार मे उसे स्वयं करना होगा। ठीक उसी प्रकार सद्गुण के उपदेश सुनने अथवा किताबी ज्ञान से सद्गुण नहीं होता। उसे तो इच्छा-शक्ति का प्रयोग कर कर्त्तव्य करके ही पाना होगा। माता-पिता और गुरुजनो की शिक्षा हमें रास्ता दिखा सकती है, उसे करना तो हमारी इच्छा-शक्ति का ही काम है। अतः सद्गुण अभ्यासजन्य इच्छा भी है। इच्छा-शक्ति के प्रयोग द्वारा अभ्यास करते-करते ऐसा समय आता है, जब कर्त्तव्य-पालन में हमे सोचना नही पडता, वरन् वह अपने-आप ही होने लगता है।

इस प्रकार सद्गुण ज्ञान भी है और अभ्यासजन्य इच्छा भी। ज्ञान हमे रास्ता दिखलाता है और इच्छा-शक्ति हमे उसपर ले चलती है। इन दोनो के फलस्वरूप कार्य होता है, जिससे सद्गुण की उत्पत्ति होती है।

कर्त्तव्य का विभाजन
Classification of Duties

जीवन में स्पर्धा (Competition) और सहकारिता (Co-opera-

tion) दोनों ही बाते पाई जाती हैं। कही तो व्यक्ति अपने साथियो की सहायता करना अपना कर्त्तव्य समझता है; पर दूसरी जगह वही व्यक्ति उन्हीं साथियों के साथ संघर्ष करके अपने लिये कुछ प्राप्त करता है। इस प्रकार जीवन में ऐसे समय भी आते हैं, जब एक की क्षति मे ही दूसरे का लाभ होता है। अतः यदि यही सही है, तो प्रश्न है कि क्या किसी सामान्य शुभ अथवा सामान्य कर्त्तव्य (Common good or common duty) की बाते निरर्थक हैं? यदि शुभ अथवा कर्त्तव्य अनिवार्यतः सामान्य ही हो, तो एक ही समय में सभी कर्त्तव्य अपने प्रति, दूसरो के प्रति और फिर ईश्वर के प्रति भी माने जायँगे। इसे हम अध्ययन के सिलसिले में देखते जायँगे।

कर्त्तव्य को हम तीन भागो मे बाँट सकते हैं—

१—आत्मगत कर्त्तव्य अथवा अपने प्रति कर्त्तव्य (Duty to self)

२—सामाजिक प्राणियो के प्रति कर्त्तव्य (Duty towards our fellow-men)

३—ईश्वर के प्रति कर्त्तव्य (Duty towards God)

इन्हें हम एक-एक कर देखेंगे।

आत्मगत कर्त्तव्य

इसके अन्तर्गत क्या-क्या कर्त्तव्य आते हैं, इन्हें देखने के पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि क्या आत्मगत-कर्त्तव्य और दूसरो के प्रति कर्त्तव्य में वास्तविक विरोध है। यह निसन्देह ही हर व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह आत्मोन्नति के लिये सब कुछ करे। उसका यह भी कर्त्तव्य है कि दूसरो के साथ संघर्ष में वह अपने लिये अत्यधिक प्रयास करे। पुरस्कृत और यशस्वी बनने के लिये प्रयास करना निश्चय ही उसके लिये उचित माना जायगा। परन्तु यहीं पर प्रश्न है कि यह वैयक्तिक शुभ सबों के लिये शुभ किस प्रकार से माना जायगा? परन्तु यह सम्भव है। इतना तो स्पष्ट है कि मनुष्य अपनी शक्तियों को बढ़ाकर अपने को इस योग्य बना लेता है कि वह समय पड़ने पर अपने अथवा दूसरो के लिये अधिक उपयोगी सिद्ध

हो सके । दूसरी बात है कि विकास अथवा उन्नति के लिये जितना ही आवश्यक सहकारिता है उतना ही संघर्ष। फिर जीवन-उत्कर्ष के लिये असफलता का स्थान उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितनी सफलता का । असफलता की भित्ति पर ही व्यक्ति सफलता के लिये दूने जोश से क्रियाशील होता है । सफलता से तो हमे व्यर्थ का संतोष (Complacency) होता है, जो सदा ही बुरा है । अतः जीवन में संघर्ष का यह फायदा है कि हर व्यक्ति आत्म-विकास के लिये प्रतिक्षण क्रियाशील रहता है । फिर संघर्ष में असफलता पाने पर ही हम सफलता के लिये प्रयास करते हैं। इस प्रकार इस वैयक्तिक कर्त्तव्य से भी दूसरो का लाभ होता है । अतः दोनो विरोधी नहीं माने जा सकते । संघर्ष उचित है । इसकी शर्त्त इतनी है कि वह सामाजिक भलाई के लिये हो, न कि दुर्बलो को सताने के लिये ।

अब हम देख सकते हैं कि व्यक्ति के अपने प्रति क्या कर्त्तव्य हैं। इन कर्त्तव्यों को हम चार भागों में बाँट सकते हैं—

१—अपना सांस्कृतिक उत्थान २—आत्म-सन्तोष (Self-Contentment) ३—आत्म-नियन्त्रण (Self-Control) ४—आत्म-रक्षा (Self-Preservation)

सांस्कृतिक उत्थान
Cultural Development

सांस्कृतिक विकास के लिये व्यक्ति को सर्वप्रथम आलस्य छोड़ना चाहिये । यह मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु होता है। निष्क्रिय बनाने के अतिरिक्त यह व्यक्तियो को दुर्गुणो की खान बना देता है । कहावत भी है, "आलस्यपूर्ण मष्तिस्क शैतान का कारखाना है" । अतः व्यक्ति का पहला कर्त्तव्य है कि वह आलस्य न करे ।

यह तो निषेधात्मक संकेत हुआ । भावात्मक रूप मे उसका कर्त्तव्य है कि वह सदा क्रियाशील हो । कर्त्तव्य को वह पूजा के बराबर समझे । समय का सदुपयोग और क्रियात्मक जीवन ही भक्ति का सबसे बड़ा धर्म है । श्रम

से हमे सन्तोष होता है और सन्तोष से आनन्द की उत्पत्ति होती है। अतः क्रियाशील जीवन भक्ति का दूसरा कर्त्तव्य है।

सांस्कृतिक विकास के लिये उचित आचरण अत्यन्त ही आवश्यक है। बुद्ध और जैन-दर्शन मे इसपर अत्यन्त ही जोर दिया गया है। इसका उल्टा होगा—बुरी इच्छाओ का परित्याग और बुरे आचरणो से बचना हमारा कर्त्तव्य है। शराबखोरी, वेश्यागमन, या इसी प्रकार की निम्न इच्छाओं को हमें छोड़ना चाहिये। इनसे शारीरिक अथवा मनसिक सभी शक्तियो का ह्रास होता है। अतः इनसे बचना भी हमारा कर्त्तव्य है।

आत्म-सन्तोष

Self-Contentment

सन्तोष मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म है और इसे उत्पन्न करना व्यक्ति का महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है। जिसे सन्तोष नहीं होता, उसका जीवन अत्यन्त ही कष्टप्रद होता है। उसकी जिन्दगी ही अभाव की जिन्दगी होती है। परन्तु जिन्हे सन्तोष है, उनका जीवन आनन्दमय होता है। वे अपनी शक्ति और आवश्यकता के अनुपात मे ही अपनी इच्छा को रखते हैं। अतः सुखद एवं शान्तिपूर्ण जीवन के लिये सन्तोष प्रथम एवं आवश्यक सीढ़ी है।

आत्म-नियन्त्रण

अपनी इच्छाओ एवं आवश्यकताओं को संयमित रखना ही आत्म-नियन्त्रण कहा जाता है। सर्वप्रथम व्यक्तित्व मे इन्द्रियाँ और विवेक ही प्रधान अंग हैं। व्यक्ति का पहला कर्त्तव्य है कि वह अपने पर इस प्रकार का नियन्त्रण रखे कि वह सदा विवेक द्वारा ही चालित हो; अतः विवेकपूर्ण जीवन आत्म-नियन्त्रण द्वारा ही सम्भव है।

आत्म-रक्षा

Self-Preservation

आत्म-विकास इत्यादि तभी सम्भव है, यदि व्यक्ति जिन्दा रह सके। वह जीवित रहने पर ही दूसरो के काम भी आ सकता है। अतः यह उसका

कर्त्तव्य है कि वह आत्म-रक्षा करे। परन्तु यहाँपर एक विवाद उठ खड़ा होता है। यदि आत्म-रक्षा कर्त्तव्य है, तो आत्म-हत्या नैतिक कहा जायगा या अनैतिक ?

म्योरहेड साहब ने एक ऐसे ही व्यक्ति की कल्पना की है। मान लीजिये, एक व्यक्ति है, जिसे स्त्री, बच्चे आदि कुछ नहीं है। न तो उसे कोई नौकरी है, न व्यापार। वह पूर्णतया अकेला है। ऐसा व्यक्ति ऊबकर आत्महत्या कर लेता है। लगता है कि उसके इस कार्य मे समाज क्यों बाधा डालेगा ? उसने समाज का कुछ तो बिगाडा नही है ? उसकी जिन्दगी अपनी जिन्दगी है। उसे समाज ने नही दी।

परन्तु उनका उत्तर है कि यह आत्महत्या उचित नहीं मानी जा सकती। व्यक्ति का जीवन उसका अपना नहीं। उसे तो वह समाज से मिला है। वह तो समाज का एक अंग है और उसने समाज के साथ संविदा (Contract) किया था। वह समाज के लिये है और समाज उसके लिये है। यदि समाज ने उसके प्रति अपना कर्त्तव्य-निर्वाह नहीं किया, तो यह राज्य का कर्त्तव्य है कि उसपर उचित कार्रवाई करे। व्यक्ति का कोई अधिकार नहीं कि वह उस संविदा को तोड़कर आत्म-हत्या करे।

परन्तु म्योरहेड साहब का यह कहना ठीक नहीं। संविदा का अर्थ है इच्छापूर्वक समाज से सन्धि। परन्तु व्यक्ति ने ऐसा कभी भी किसीके साथ बैठकर यह तय नही किया था। यह संविदा तो उसपर लादा हुआ कहा जायगा।

इसके उत्तर मे कहा जा सकता है कि समाज एक जीवधारी (Organism) है, जिसका विकास धीरे-धीरे हुआ है। इस विकास के फलस्वरूप व्यक्ति का हित समाज के हित में ही है। परन्तु यदि इसे सत्य भी मान लिया जाय, तो व्यक्ति की आत्महत्या को मानेंगे कि अस्तित्त्व-संघर्ष मे वह सफल नहीं हो सका। उसका प्राकृतिक चुनाव (Natural Selection) नहीं हुआ। इसमें उसका क्या कसूर ?

इस प्रकार इन सभी सिद्धान्तो के अधार पर आत्म–हत्या की निन्दा नहीं की जा सकती। तब क्या आत्म-हत्या नैतिक है ? कदापि नहीं। व्यक्ति को हम पूर्णतया समाज के अन्तर्गत नहीं रख सकते । यह तभी सम्भव है, जब हम यह माने कि ईश्वर के कारण ही सभी व्यक्तियो मे पारस्परिक सम्बन्ध है। सम्पूर्ण विश्व ईश्वर-द्वारा निर्मित है। प्रत्येक व्यक्ति का आदर्श सबो के लिये आदर्श है; क्योंकि सभी ईश्वर के ही अंग हैं। व्यक्ति समाज से अलग भले ही किया जा सकता हो, ईश्वर से नही। व्यक्ति का जीवन उसका अपना नही है, इसलिये नहींकि वह समाज का है; बल्कि ईश्वर का है। अतः इस जीवन को बनाने मे यदि उसका हाथ नही है, तो फिर इसे वह नष्ट भी नहीं कर सकता। उसे जीवन से संघर्ष करना चाहिये। संघर्ष मे ही उसकी सफलता और सार्थकता है। अतः आत्म-हत्या उचित नहीं।१

सामाजिक प्राणियों के प्रति कर्त्तव्य

सामाजिक प्राणियो में मनुष्यो के अतिरिक्त वनस्पति और पशु आदि भी आते हैं। चूँकि उन सबोंमें भी प्राण है, अतः उनकी रक्षा भी हमारा कर्त्तव्य है। इसके सम्बन्ध में हमे अधिक नहीं कहना है।

मनुष्यो के प्रति व्यक्ति के कर्त्तव्य को हम तीन भागों मे बाँट सकते हैं—

१—सत्यवादिता (Veracity)

२—न्याय (Equity)

३—सहानुभूति (Benevolence)

सत्यवादिता

इसका अर्थ है कि हम अपने विचारो को निर्भयतापूर्वक सही-सही समाज के सामने रख सके। वचन अथवा क्रिया में कभी दूसरो को धोखा देने का प्रयास न करें। किसी बात को बढ़ा-चढ़ाकर कहना, सत्य को छिपाना, बहाना

१–विशिष्ट अध्ययन के लिये (System of Ethics : Paulsen) देखें।

करना आदि सभी सत्यवादिता के विपरीत है। इन सबोंके अपवाद भी हैं। जीवन में ऐसे क्षण भी आते हैं, जब सत्य कहने में हमें द्वन्द्व उठ खडा होता है। इन सबोंकी चर्चा हमने बहुत जगहों पर की है।

न्याय

न्याय से वैधानिक न्याय हमारा तात्पर्य नहीं। न्याय का अर्थ है, जिसकी उत्पत्ति व्यक्ति के अन्तःकरण अथवा विवेक के फलस्वरूप हो। यदि वह राज्य अथवा विधान के विपरीत भी है, तो व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह अपना बलिदान करके भी उसकी रक्षा करने में तत्पर हो। हमें दूसरों का आदर करना चाहिये। परन्तु जहाँ सुधार के लिये दण्ड की आवश्यकता हो, वहाँ भी हम पीछे न हटें। किसी भी व्यक्ति को अपने स्वार्थ के लिये साधन बनाना न्याय नहीं। व्यक्ति का तो कर्त्तव्य है कि वह समझे कि सभी व्यक्ति अपने में आदर्श हैं। उनकी आदर्श-प्राप्ति में सहायता देना ही न्याय माना जायगा।

सहानुभूति

सभी प्राणियों के प्रति सहानुभूति रखना व्यक्ति का महान कर्त्तव्य है। वह दूसरे के दुःख को अपना दुख समझे। तभी उसमें दूसरों की भलाई की प्रेरणा आ सकती है। यदि कोई बुराई भी करे, तो उससे बदला लेने की भावना निन्दनीय है। प्रतिहिंसा का कहीं भी अन्त नहीं है। क्षमा से बढ़कर कोई वस्तु नहीं। अतः वैसे व्यक्तियों को हमें क्षमा कर देनी चाहिये। उनके साथ हमारी सहानुभूति होनी चाहिये। हम मन, कर्म और वचन से उनकी सहायता करें, यही हमारा कर्त्तव्य है।

ईश्वर के प्रति कर्त्तव्य

Duty towards God

ईश्वर में विश्वास नीति-शास्त्र के लिये एक महत्त्वपूर्ण विषय है। काण्ट ने तो इसे नैतिकता की मान्यता ही माना था। सिद्धान्त-रूप में ईश्वर का अस्तित्व भले ही सिद्ध न हो सके, सुचारु रूप में व्यावहारिक जीवन के लिये यह विश्वास कुछ आवश्यक-सा मालूम पड़ता है। व्यक्ति और समाज के

संघर्ष को पूर्णतया मिटाने का एकमात्र आधार ईश्वर ही मालूम पड़ता है। सबोंको ईश्वर का ही अंग मान लेने पर हम उनमे एक आवश्यक सम्बन्ध (Necessary relation) स्थापित कर सकते हैं। खैर।

ईश्वर के प्रति कर्त्तव्यों मे हम प्रेम, पूजा और सत्कार (Veneration) को मानेंगे। ये सभी स्वगत और स्वाभाविक ढंग पर होने चाहिये। इससे आत्म-बल और शान्ति तो अवश्य ही मिलती है। विश्वास को तर्क से समाप्त नहीं किया जा सकता। यदि व्यक्ति विश्वासपूर्वक ईश्वर के प्रति इन कर्त्तव्यों को निभाये, तो निस्सन्देह उसे शान्ति मिलती है।

सद्गुण का विभाजन

Classification of virtue

सद्गुण एक है—सद्गुण के विभाजन करने के पहले प्रश्न उठता है कि क्या सद्गुण का विभाजन सम्भव है ? क्या विश्व में बहुत-से सद्गुण हैं अथवा सद्गुण सिर्फ एक है ? इस प्रश्न का हल देखना हमारा ध्येय है।

सही रूप में सद्गुण सिर्फ एक है। शुभ का अभ्यासजन्य चुनाव (Habit of choosing) ही सद्गुण है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि सद्गुण हमारी सभी इच्छाओं को शुभ के अन्तर्गत रखने की स्वाभाविक इच्छा का नाम है। परन्तु एक रहने पर भी सद्गुण की अभिव्यक्ति बहुत सारे सद्गुणों में होती है।

सद्गुण सिर्फ एक है। इसके प्रमाण में कह सकते हैं कि तथाकथित सद्गुणों को हम एक दूसरे से बिल्कुल अलग कर ही नहीं सकते। उदाहरण के लिये हम साहस (Courage) और आत्म-नियन्त्रण (Self-Control) को लें। ये दोनों ही अलग नहीं किये जा सकते। साहस एक ऐसा सद्-गुण है, जो दुःख के डर को रोकता है और आत्मनियन्त्रण वह है, जो सुख के प्रलोभन से हमारी रक्षा करता है। इसी प्रकार न्याय और सहानुभूति (Justice & Benevolence) को लें। यद्यपि इन दोनों में विभेद किया जाता है; फिर भी, इनमें से हर को समझने के लिये दूसरे से उनका सम्बन्ध करना आवश्यक है।

इस तरह एक सद्गुण मानने के पर्याप्त कारण हैं। फिर भी, जिस प्रकार एक नैतिक आदर्श की प्राप्ति के लिये बहुत सारे नियम आदि बनाये जाते हैं अर्थात् एक ही नैतिकता की अभिव्यक्ति बहुत-सी धारणाओं में पाई जाती हैं, उसी प्रकार एक ही सद्गुण की अभिव्यक्ति अन्य सद्गुणों में भी होती है।

यही कारण है कि सद्गुण के विभाजन किये जाते हैं।

सद्गुण का विभाजन—इस सिलसिले में हमें सदा याद रखना है कि ये विभाजन दूसरे से बिल्कुल अलग नहीं, वरन् उनमें आन्तरिक सम्बन्ध है। सर्वप्रथम हम सद्गुण के सम्बन्ध में प्लेटो के सिद्धान्त को देखेंगे।

प्लेटो के अनुसार प्रधान सद्गुण
Cardinal Virtues

प्लेटो ने कुछ सद्गुणों को तो प्रधान कहा है और बाकी को गौण। वे गौण इसलिये हैं कि वस्तुतः वे प्रधान सद्गुण से ही निकलते हैं। अतः अपने में उनका बहुत महत्त्व नहीं है। प्लेटो के अनुसार ये प्रधान सद्गुण चार हैं—

१–Wisdom—ज्ञान अथवा व्यावहारिक बुद्धिमानी

२–Courage—साहस

३–Temperance—संयम

४–Justice—न्याय

व्यावहारिक बुद्धिमानी—इसका अर्थ है कि व्यक्ति को अपनी बुद्धि के नियन्त्रण में रहना ही सद्गुण है। विदित है कि प्लेटो ने आत्मा के तीन हिस्से किये हैं—बौद्धिक (Reasoning), साहसी (Spirited) और इच्छुक (Desiring)। अन्तिम हिस्से के कारण व्यक्ति ऐन्द्रिक सुख और बुरी भावनाओं के पीछे पड़ा रहता है। दूसरे के अनुसार वह प्रतिष्ठा के लिये प्रेरित होता है; परन्तु उसे यह ज्ञान नहीं रहता कि प्रतिष्ठा-प्राप्ति होगी कैसे। पहले के अनुसार व्यक्ति अपनी बुद्धि का सहारा लेता है। वह बाकी दोनों हिस्सों पर

नियन्त्रण रखता है। उचित-अनुचित का निरूपण करता है। अतः सर्वोत्तम सद्गुण है कि व्यक्ति व्यावहारिक क्षेत्र में अपनी बुद्धि द्वारा नियन्त्रित हो, भावनाओं द्वारा नहीं।

साहस—स्पष्ट है कि यह सद्गुण आत्मा के दूसरे हिस्से के लिये है। युद्ध-क्षेत्र में मर-मिटने का साहस और फिर दुख अथवा तकलीफ बर्दाश्त करने की हिम्मत को ही हम 'साहस' का सद्गुण कहकर पुकारते हैं। ध्यान रहे कि इसे बुद्धि के नियन्त्रण में रहकर ही काम करना है।

संयम—अपनी बुरी भावनाओं और इच्छाओं पर नियन्त्रण रखने का नाम ही संयम है। हम सुख के प्रलोभन में बुरे काम न कर बैठें, इसलिये हमारी इन्द्रियों पर रोक-थाम आवश्यक है। इसी रोक-थाम का नाम संयम है।

न्याय—न्याय का अर्थ है कि व्यक्ति अपनी आत्मा के विभिन्न हिस्सों में उचित सम्बन्ध रखे। इच्छाएँ बुरी भी होती हैं और अच्छी इच्छाओं को जीवन में उचित स्थान देने का नाम ही न्याय है।

यद्यपि ऊपर से देखने से तो ये सभी सद्गुण वैयक्तिक ही मालूम पड़ते हैं; परन्तु वास्तव में प्लेटो इन्हें सामाजिक भी मानता था। उसके अनुसार आदर्श राज्य (Ideal State) में शासक-वर्ग में बुद्धिमानी, योद्धाओं में साहस एवं शौर्य, शासित में संयम होना आवश्यक है। न्याय फिर शासक, योद्धा एवं शासित में उचित सम्बन्ध रखने का नाम है।

इस सम्बन्ध में हम दूसरी बात पाते हैं कि सद्गुण के इस प्रकार विभाजन करने पर भी यह विभाजन कृत्रिम (artificial) है, वास्तविक नहीं। बुद्धिमानी ही ऐसा सद्गुण है, जिसमें बाकी सभी अन्तर्निहित हैं। बिना बुद्धि के प्रयोग द्वारा कोई भी उचित कार्य सम्भव नहीं। इसी प्रकार न्याय का प्रयोग सबों के लिये हो सकता है।

इन चारों सद्गुणों के अतिरिक्त बाकी सबों को प्लेटो गौण मानता था।

सद्गुण का सामान्य विभाजन
General classification of virtue

प्लेटो के अतिरिक्त सद्गुण का विभाजन बहुत-से विद्वानों ने बहुत ढंग से किया है। वे एक दूसरे से बहुत कुछ मिलते हैं। उन सबोंका उल्लेख यहाँ निरर्थक होगा। अतः हम सद्गुण के कुछ सामान्य विभाजन की चर्चा करेंगे, जो सर्वमान्य होना चाहिये।

सद्गुण का विभाजन हम नीचे दी गई तालिका द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं—
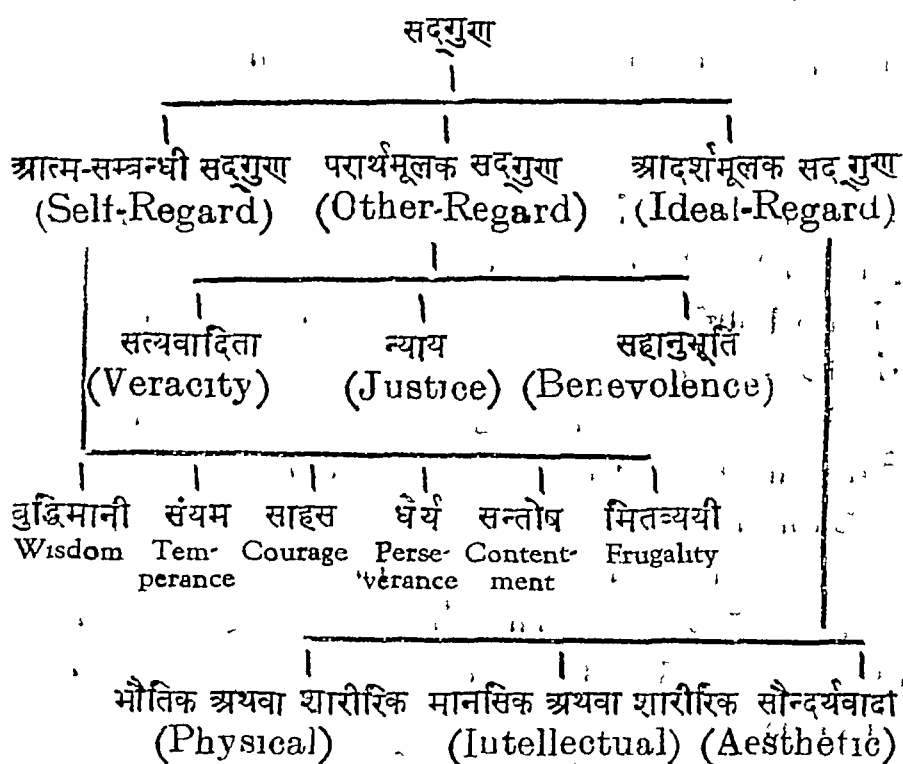
इन्हें हम एक-एककर देखेंगे—

आत्म-सम्बन्धी सद्गुण

मनुष्य का लक्ष्य आत्म-विकास और समाज-विकास दोनो ही होता

है। आत्म-सम्बन्धी सद्गुण वे हैं, जिनको पाकर व्यक्ति अपना विकास करता है।

बुद्धिमानी:—इसका अर्थ है मनुष्य मे व्यावहारिकता का स्थान। जीवन मे बुद्धि का स्थान प्रधान होना चाहिये और किसी भी परिस्थिति मे बुद्धि और विवेक द्वारा चालित होना चाहिये। उसका स्वार्थ-साधन भी इसी में सम्भव है। अतः यह सबसे प्रमुख सद्गुण माना जायगा; क्योंकि किसी भी क्रिया मे बुद्धि का स्थान आवश्यक है।

संयम:—यह व्यक्ति के लिये दूसरा सद्गुण है। असंयमित जीवन-बिना पतवार के नौका के समान है। वह सब कुछ भावावेश मे आकर ही करता है। वही व्यक्ति प्रातःकाल तो शराब न पीने की शपथ लेता है और सायंकाल डटकर पीता है। वह कभी भी अपने निश्चय पर अटल नहीं सकता।

अतः जीवन में संयम अत्यन्त ही आवश्यक है। सिर्फ सुख के पीछे दौड़ना मूर्खता है। अतः निम्नकोटि के सुख-प्रलोभन से बचने का नाम ही संयम है। यौनिक (sex), आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक आदि सभी क्षेत्रो में संयम आवश्यक है।

साहस:—साहस का अर्थ युद्ध-क्षेत्र मे वीरता ही नहीं, वरन् दुःख बर्दाश्त करना भी है। दुःख से हमें भयभीत नहीं होना चाहिये, बल्कि साहस-पूर्वक उसका सामना करना चाहिये। साहस के कारण ही कोई सुन्दर भविष्य के लिये वर्त्तमान मे नाना प्रकार की तकलीफें झेलता है।

धैर्य:—सुख और दुःख दोनो मे ही धैर्य श्रेयस्कर है। अपने को अनुकूल परिस्थिति मे पाकर यदि व्यक्ति संयम खो देता है, तो उससे धैर्य भी अपना नाता तोड़ लेता है। इस हालत मे धैर्य खोकर वह दुःख को बुलावा देता है। अतः सुख में भी आदमी को उतावला नहीं होना चाहिये।

परन्तु धैर्य की असल आवश्यकता दुःख मे है। कष्ट होने पर बड़े बड़े लोगोंके पॉव भी डगमगाने लगते हैं। पुत्री के हाथ में से घास की रोटी भी बिल्ली द्वारा छीनी जाने पर महाराणा प्रताप अकबर से सुलह की बात सोचने

लगे थे। परन्तु इस दुर्दिन में धैर्य ने उनका साथ देकर इतिहास मे उनका नाम अमर कर दिया। अतः दुःख मे भी अध्यवसाय और धैर्य को रखना ही सद्गुण है।

सन्तोष–कहा जाता है कि सन्तोष से बढ़कर दूसरा धन नहीं है। इच्छाएँ तो अनन्त होती हैं। एक की पूर्त्ति कीजिये, तो दूसरी सामने आ जाती है; परन्तु मनुष्य की शक्ति सीमित है। वह अपनी सभी इच्छाओ की पूर्त्ति नहीं कर सकता। इच्छाओ की पूर्त्ति न होने पर ही कष्ट होता है। अतः इन कष्टो से बचने का एकमात्र उपाय है कि व्यक्ति को सन्तोष हो। सन्तोष हो जाने पर उसको इच्छाएँ अपरिमित नहीं रहती और फलस्वरूप उसे तकलीफ भी नहीं होती।

मितव्ययिता—मितव्ययिता का अर्थ कंजूसी नहीं है। धन का अपव्यय दुर्गुण है। धन की सार्थकता इसीमे है कि अच्छे कार्यों में उसका व्यय हो। ऐशोआराम अथवा अनावश्यक स्थानो मे धन खर्च करना मूर्खता है। धन का मूल्य व्यक्ति को समझना चाहिये। बुरे अथवा अनावश्यक कार्यों से धन बचाकर उसका उपयोग शुभ कार्य के लिये करना चाहिये। अतः मितव्ययिता भी एक सद्गुण ही है।

ऊपर हमने इन सभी सद्गुणो को मिलाकर आत्म-सम्बन्धी-सद्गुण कहा। इसका यह अर्थ कदापि नही कि समाज से इनका कोई तात्पर्य नहीं। आखिर व्यक्ति इन सभी गुणो का अर्जन इसीलिये तो करता है कि वह समाज के काम आ सके।

परार्थमूलक सद्गुण

व्यक्ति समाज में ही रहता है। अतः समाज से उसका यथोचित सम्बन्ध हो एवं समाज का उत्थान भी हो, इस कारण उसके समाज के प्रति भी कुछ कर्त्तव्य होते हैं। उन्हीं कर्त्तव्यो के कारण जो सद्गुण वह अर्जन करता है, उसे परार्थमूलक सद्गुण कहते हैं। इन सबोंका वर्णन हम कर्त्तव्य के

विभाजन के सिलसिले में कर चुके हैं। फिर भी, यहाँ संक्षेप में उन्हें देख लेना श्रेयस्कर ही होगा।

सत्यवादिता—सत्यवादिता का अर्थ सिर्फ सत्य बोलना ही नहीं, वरन् ईमानदारी भी है। हमारे विचार और वचन में एकता होनी चाहिये। दूसरों के साथ व्यवहार में हम चतुर नहीं, वरन् ईमानदार हों। कुछ अपवादों को छोड़कर समय पर चुप रह जाना भी असत्य ही कहा जायगा। अतः निर्भयतापूर्वक सत्य बोलना एवं आचरण करना एक महान सद्‌गुण है।

न्याय—व्यक्ति को न्यायप्रिय होना चाहिये। वह सारी चीजों का उपभोग अपने लिये न करे। स्वार्थ सदा गौण होना चाहिये। हर व्यक्ति को उसका उचित अधिकार देना ही न्याय है। इतना ही नहीं, यदि किसीका अधिकार दूसरे द्वारा नष्ट हो रहा हो, तो उसके अधिकारों की रक्षा करना भी न्यायप्रियता ही कहा जायगा।

सहानुभूति—विश्व के हर प्राणी से प्रेम और उनकी भलाई की चिन्ता का नाम ही तो सहानुभूति है। दूसरों के दुःख को अपना दुःख मानना और अपनी ही भाँति उनका उन दुःखों से त्राण दिलाना आखिर सहानुभूति के कारण ही तो होता है। प्रथम तो वह सहानुभूति स्वाभाविक होती है। अपने परिवार, ग्रामीण, जिला प्रान्त और फिर राष्ट्र के लिये सहानुभूति तो स्वाभाविक ही है। परन्तु इनके अतिरिक्त भी सहानुभूति का रोग है। हम अनजाने व्यक्ति को दुःख में देखकर क्षुब्ध हो उठते हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता का नारा बुलन्द करते हैं। इस प्रकार की सहानुभूति अर्जन की जाती है और वस्तुतः इसीका नाम सहानुभूति है। वसुधैव कुटुम्बकम् तो आखिर सहानुभूति के आधार पर ही सम्भव है।

आदर्शमूलक सद्‌गुण

जीवन में छोटे-बड़े कुछ आदर्श हुआ करते हैं। उन आदर्शों के अनुकूल आचरण को उचित कहते हैं और उनके फलस्वरूप कर्त्ता के चरित्र में जो अच्छाइयाँ आती हैं, उन्हें हम आदर्श-मूलक सद्‌गुण कहते हैं। इस प्रकार

के सद्गुण को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं:—शारीरिक अथवा भौतिक, मानसिक अथवा बौद्धिक और सौन्दर्यमूलक।

शारीरिक अथवा भौतिक—स्वच्छता और स्वास्थ्य आदि को ही हम शारीरिक अथवा भौतिक सद्गुण कहते हैं। मन और शरीर में बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन का निवास रहता है। बिना स्वस्थ मन अथवा आत्मा के अच्छे कार्यों की ओर हमारी रुचि जा ही नहीं सकती। स्वास्थ्य के अतिरिक्त स्वच्छता भी एक सद्गुण है। अपना शरीर, वासस्थान, वातावरण आदि सभी ऐसी चीजें हैं, जिनके स्वच्छ रहने पर ही व्यक्ति का मन खुश रहता है। अतः अच्छा स्वास्थ्य और स्वच्छता हर व्यक्ति का आदर्श होना चाहिये। उसके पालन से ही सद्गुण की उत्पत्ति होती है।

मानसिक अथवा बौद्धिक सद्गुण—यथार्थ ज्ञान और व्यावहारिकता को ही हम बौद्धिक सद्गुण कहेंगे। यथार्थ ज्ञान का अर्थ है कि वस्तुओं का ज्ञान हमें बिल्कुल सही-सही हो। मिथ्या ज्ञान से हम गलत-सलत काम कर बैठते हैं। ऐसी परिस्थिति में हम सोचते कुछ हैं और होता कुछ और ही है। फलस्वरूप हमें कष्ट होता है। हम निराशावादी हो जाते हैं, अतः हम जीवन में सफल हो, इसकी पहली शर्त है कि हममें इतनी शक्ति हो कि हम वस्तुओं के सम्बन्ध में यायार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकें।

परन्तु सिर्फ ज्ञान से ही काम नहीं चलता। व्यावहारिकता के अभाव में ज्ञान तो कोरी कल्पना ही रह जाती है। इसी कारण बेकन (Bacon) का कहना था कि "ज्ञान शक्ति है" (Knowledge in power)। इसका अर्थ है कि ज्ञान का व्यवहार हम अपने आचरण में करें, जिससे प्रकृति पर हम विजय पा सकें। अतः सफल जीवन के लिये व्यावहारिकता दूसरी शर्त है।

इस प्रकार यथार्थ ज्ञान और व्यावहारिकता आदर्शमूलक सद्गुण हैं।

सौन्दर्यमूलक सद्गुण—यह एक प्रकार का सांस्कृतिक विकास है।

जिसमे इस प्रकार का विकास हो चुका है, सिर्फ वे ही प्रकृति और कला की सुन्दरता एवं सौम्यता को आँक सकते हैं । इस प्रकार के विकास होने पर हमारे स्वभाव मे सुधार हो जाता है और जीवन-भर विशुद्ध आनन्द का अनुभव होता है । जैसा आनन्द एवं सन्तोष एक पुजारी को अपने आराध्य के प्रति श्रद्धा में प्राप्त होता है, वैसा ही आनन्द एवं सन्तोष एक कला के पुजारी को होता है । अतः जीवन को सुन्दर बनाने का एकमात्र साधन कला के प्रति प्रेम ही है । जिन्होने इसका उचित विकास कर लिया है, वस्तुतः उन्होने एक बहुत ही महान सद्गुण सँजो रखा है ।

दूसरा-भाग

भारतीय नीति-शास्त्र की रूपरेखा

पहला अध्याय

भारतीय दर्शन में नीति का स्थान

विषय-प्रवेश—पाश्चात्य दर्शन की तरह भारतीय दर्शन केवल सैद्धान्तिक (theoretical) ही नहीं, अपितु व्यावहारिक भी है। इसका कारण यह है कि भारतवर्ष में दर्शन की उत्पत्ति जिज्ञासा या कौतूहल मात्र से नहीं हुई है। भारतीय दर्शन का उद्देश्य जीव, जगत् तथा ईश्वर के ज्ञान के आधार पर मानव-जीवन को नियमित करना है; क्योंकि तभी दुःख का नाश तथा सुख की प्राप्ति हो सकती है, जिसे भारतीय दार्शनिक मोक्ष कहते हैं। दुःख-निवृत्ति तथा सुखप्राप्ति का एकमात्र मार्ग तत्त्वज्ञान है तथा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होते ही मनुष्य को अनन्त सुख की प्राप्ति हो जाती है और सारे दुःख दूर भाग जाते हैं। इसी कारण भारतीय दर्शन का मानव-जीवन से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारतीयों की दृष्टि सदा से संश्लेषणात्मक (Synthetic) होती आई है और इसीलिए सिद्धान्त (Theory) और व्यवहार (Practice) के बीच भारतीय दर्शन में घनिष्ठ सम्बन्ध है। (१) सही भी है कि सिद्धान्त के बिना कोई कार्य वैज्ञानिक नहीं हो सकता तथा व्यवहार के बिना

---

१. On account of the close connection between theory and practice, doctrine and life, a philosophy which could not stand the test of life not in the pragmatic but in the larger sense of the term had no chance of survival...To those who realise the true kinship between life and theory, philosophy

सिद्धान्त भी व्यर्थ है। व्यवहार और सिद्धान्त के इस अटूट सम्बन्ध को ध्यान मे रखते हुए ही भारतीय दार्शनिको ने उन सभी मानव सद्गुणो को भी ज्ञान ही कहा है, जिससे जीव, जगत् तथा ईश्वर के ज्ञान अथवा आत्मसाक्षात्कार (Self-Realisation) मे सहायता मिलती है। (१) इस तरह हम देखते हैं कि आचारशास्त्र का भारतीय दर्शनो मे बहुत बड़ा स्थान है। सभी दार्शनिक जीव, जगत् तथा ईश्वर के स्वरूप-निरूपण मे भले ही एक-दूसरे से विभिन्न मत रखते हैं; शंकर, रामानुज, निम्बार्क आदि सम्प्रदायाचार्य भले ही अपने-अपने सिद्धान्तों मे एक-दूसरे से भिन्न हो; किन्तु व्यवहार-पक्ष मे सभी एकमत हैं। २)

इस तरह हम देखते हैं कि भारतीय दर्शन आचार-प्रधान दर्शन है। फिर आलोचको का मत है कि भारतीय दर्शन में आचार का कोई स्थान ही नहीं है (३)। भारतीय दर्शन के विरुद्ध ये आक्षेप श्री शंकराचार्य के दृष्टिकोण से किए जाते हैं। ईश्वरवादी दृष्टिकोण से भी भारतीय दर्शन मे आचार का कोई स्थान नहीं। इस प्रकार, भारतीय दर्शन को ईश्वरवादी (Theistic) तथा परमतत्त्ववादी (Absolutestic) दो कोटियो मे रखते हुए इन आलोचको का कहना है कि चाहे किसी प्रकार का दर्शन भारतवर्ष मे क्यो न हो, आचार का कोई स्थान नहीं। संक्षेप मे इनकी ये युक्तियां हैं—

---

becomes a way of life, an approach to spiritual realisation:

—Radhakrishnan, Indian Philosophy: Vol I, P. 26

१. श्रीमद्भगवद्गीता १३–७–१२।

२. This broadness in believing and narrowness in behaving are the two sides of the same coin.

—C.E.M. Joad: Counterattack from the East, Chapter V.

३. The Upanisads render morality in the ultimate issue valueless aud meaningless.

—Keith, A. B.

१ शंकराचार्य के दृष्टिकोण से परमतत्त्ववादी दर्शन अद्वैत वेदान्त में आचार के अभाव के समर्थन के लिये निम्नलिखित युक्तियाँ दी जाती हैं :—

(क) जीव तथा ईश्वर में अभेद।

(ख) जगत् की अनित्यता।

(ग) मुक्तात्मा की स्वच्छन्दता।

२. ईश्वरवादी दृष्टिकोण (Theistic standpoint) से भी यह कहा जाता है कि यहाँ तो सब कुछ ईश्वर की कृपा से होता है। मनुष्य स्वयं कुछ नहीं करता। इस प्रकार ईश्वरवादी दर्शनों मे स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति (Freedom of will) का कोई स्थान ही नहीं; जो आचार-शास्त्र का आधार माना जाता है।

अब हम प्रत्येक की व्याख्या कर देखें कि किस प्रकार ये आलोचक इन युक्तियों के आधार पर भारतीय दर्शन में आचार-शून्यता का प्रतिपादन करते हैं।

जीव तथा ईश्वर में अभेद

आचार्य डायसन कहते हैं कि भारतीय दर्शन के प्रतिनिधि अद्वैत, वेदान्त तथा उपनिषदों में सर्वेश्वरवाद (Pantheism) का प्रतिपादन किया गया है। उपनिषदों मे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् सब कुछ ब्रह्म ही है, 'नेह नानास्ति किंचन' अर्थात् नानात्व (Plurality) की सत्ता नहीं है, इत्यादि भाव के

The Philosophy of the Upanisads is atheistic, materialistic and indifferent to Ethics.

—Hertel.

No longer is worship, or good conduct, the requisites of Religion. —Dr Robert Hume.

There is practically no ethical philosophy in the frontiers of Hindu thinking.

—Farquhar, Hibbert Journal, October 1921, P24.

द्योतक वचन पाए जाते हैं। इस प्रकार जब वेदान्त की दृष्टि में सब कुछ ब्रह्म ही है, जब नानात्व केवल आभासमात्र है, तब आचार का स्थान कैसा? जब जीव ब्रह्म है ही, तथा जगत् की सारी वस्तुएँ ब्रह्म ही हैं, तब वैसी कौन-सी वस्तु हो सकती है, जिसे उद्देश्य मानकर चलने से आचार की पूर्णता सम्भव हो?

इसी तरह अद्वैत वेदान्त इस सिद्धान्त की पुष्टि करता है कि जीव तथा ब्रह्म का भेद केवल भ्रम है। वस्तुतः जीव तथा ब्रह्म में भेद नहीं है। उपाधियों के कारण ही शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाववाला आत्मा परिच्छिन्न तथा सीमित शक्तियोंवाला जान पडता है। जीव और ब्रह्म वस्तुतः एक ही तत्त्व हैं, ठीक उसी तरह जिस तरह महाकाश तथा घटाकाश तत्त्वतः एक ही द्रव्य हैं। महाकाश तथा घटाकाश का भेद केवल उपाधिजन्य है। और, यह उपाधि सदा रहनेवाली नहीं है। जब घड़ा फूट जाता है, तो जिस तरह घटगत आकाश और ऊपर फैले अनन्त आकाश में कोई भेद नहीं दीख पड़ता, ठीक इसी तरह शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि उपाधियों के कारण ही आत्मा की शक्तियाँ सीमित हो जाती हैं तथा यह परिच्छिन्न-सा जान पड़ता है। वस्तुतः यह भी ब्रह्म ही है। जब शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि उपाधियाँ नष्ट हो जाती हैं, तो जीव भी ब्रह्म ही हो जाता है। इस प्रकार जब जीव ब्रह्म है ही, तब जीव के लिए विधि-निषेध आदि आचार का कुछ भी मूल्य नहीं।

जगत् की अनित्यता

अद्वैत वेदान्त की दृष्टि में जगत् भी मिथ्या ही है। शंकराचार्य के अनुसार परमार्थ सत्य (Absolutely true) वही पदार्थ हो सकता है, जिसका कभी भी बोध न हो सके। जगत् तथा जगत् की वस्तुएँ ऐसी नहीं हैं। सामान्य अनुभव का विषय है कि नित्य प्रति जगत् का बोध होता ही है। स्वप्न की अवस्था में जगत् नष्ट हो जाता है। फिर जाग्रतावस्था में भी स्वप्नजगत् नष्ट हो जाता है। इस प्रकार हमारे जीवन में प्रत्यक्षतः जगत् नष्ट होता जान पड़ता है। इसी प्रकार सभी सांसारिक वस्तुओं का स्वरूप बदलता

रहता है और सामान्य अनुभव की बात है कि हमलोग भी रूप बदलते रहनेवाले मनुष्य पर विश्वास नहीं करते। शंकराचार्य सदा बदलते रहनेवाले संसार को भी सत्य नहीं मानते। तो जब जगत् सत्य नहीं तो पाप-पुण्य, सत्य-असत्य, सत्-असत् आदि भी, जिनका अस्तित्व जगत् की सत्ता पर ही निर्भर है, असत्य ही ठहरे। और, जब जीवन में इनकी कुछ मान्यता नहीं, तो आचार-व्यवहार भी निरर्थक हो जाता है। जब मनुष्य यह जान ले कि सत्य की कुछ कीमत नहीं; क्योंकि जिस जगत् में सत्य की कीमत हो, वह स्वयं ही नश्वर है, तब वह क्योंकर बुरे आचरण को दूर करने तथा सदाचार को ग्रहण करने की चेष्टा करेगा? अतएव जगत् की अनित्यता का यह निष्कर्ष हुआ कि सत्य-झूठ, पाप-पुण्य, अच्छाई-बुराई आदि नैतिक गुण निरर्थक हैं।

मुक्तात्मा की स्वच्छन्दता

फिर इन आलोचकों का कहना है कि अद्वैत वेदान्त का चरमोद्देश्य जीव को उस अवस्था की प्राप्ति करानी है, जिसे पाकर वह पाप-पुण्य, सद्सत्, अच्छा-बुरा आदि के द्वन्द्वों से दूर हट जाता है तथा विधि-निषेध आदि का कुछ महत्त्व नहीं रहता। ब्रैडले महोदय इस अवस्था को द्वन्द्वतीतावस्था (Beyond Good & Evil) कहते हैं। शंकराचार्य इस अवस्था को त्रिगुणातीतावस्था कहते हैं। त्रिगुणातीत या ज्ञानी मनुष्यों के लिए विधि-निषेध, शास्त्रादि के नियम नहीं। आचार-सम्बन्धी नियम तो अज्ञानियों के लिए है।[१] अज्ञानावस्था में ही आचार आदि का मूल्य है। मनुष्य जब परम तत्व जान लेता है, जब उसे ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, तब वह जो चाहे, कर सकता है। उसे किसी प्रकार का दोष या पाप नहीं लग सकता। इन आलोचकों की दृष्टि में शंकराचार्य का सिद्ध पुरुष निट्शे (Nietzsche) के अतिमानव (Superman) से भिन्न नहीं है। इस तरह अद्वैत वेदात में चरमावस्था वह मानी जाती है, जो आचारहीन तथा स्वच्छन्दतापूर्ण हो, जहाँ पाप-पुण्य का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता।

१—निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को वा निषेधः।—शंकराचार्य।

ईश्वरवादी दर्शन की आलोचना

इतना ही नहीं, ईश्वरवादी दार्शनिक सम्प्रदायों में संकल्प स्वातन्त्र्य (Freedom of will) का, जो आचरण की आधार-शिला है, कोई स्थान ही नहीं है। सब कुछ ईश्वर की प्रेरणा से होता है। सभी ईश्वरवादी सन्त-साधुओं का यह विश्वास है कि ईश्वर के आदेश के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता। भगवद्गीता में कहा गया है कि मनुष्य अपने पूर्वकर्मकृत स्वभाव का पुतला है। स्वभाव ही मनुष्य से अच्छा-बुरा काम करवाता रहता है। इतना ही नहीं, शरीररूप यन्त्र मे आरूढ हुए सभी प्राणियो को अन्तर्यामी ईश्वर अपनी माया से उन्हे घुमाता हुआ उनके हृदय मे स्थित है। इस प्रकार ईश्वर ही उन प्राणियों से अच्छे काम करवाता है, जिन्हें वह ऊपर उठाना चाहता है तथा उनसे बुरे काम भी करवाता है, यदि उनको उसे नीचे गिराने की इच्छा होती है। १ इस प्रकार यदि समस्त भारतीय दार्शनिक साहित्य का अध्ययन किया जाय, तो पता चलेगा कि हिन्दू-दर्शन मे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का कोई स्थान नहीं; जो कुछ है, ईश्वर ही है। ऐसी परिस्थिति में आचारचर्या की रंचमात्र की चर्चा नहीं हो सकती।

विरोधी व्यक्तियों का उत्तर

पाश्चात्य आलोचक उपर्युक्त युक्तियो को भारतीय दर्शनग्रन्थो के आधार पर प्रस्तुत करते हुए इस प्रकार भारतीय दर्शन मे आचार-शास्त्र का सर्वथा अभाव बतलाते हैं। लेकिन हम आगे देखेंगे कि इन विद्वानो का यह मत सर्वथा निराधार है तथा जिन तर्कों के बल पर वे अपने निष्कर्ष का प्रतिपादन करते हैं, वे भी निर्मूल हैं। वस्तुतः वे युक्तियाँ ही, जिन्हे आलोचकगण भारतीय आचार-शास्त्र का घातक मानते हैं, भारतीय आचार-शास्त्र का द्योतक हैं। आलोचक लोग केवल स्थूल दृष्टि से ही भारतीय सिद्धातो पर विचार करते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर उपर्युक्त युक्तियो

---

१ एष ह्येव साधु कर्माणि कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते। —कौषीतकि ब्राह्मण ३—८।

का कुछ दूसरा ही अर्थ होता है तथा यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय दर्शन में आचार-शास्त्र का सर्वथा अभाव बतलानेवाले विद्वान लोग कितनी गलती करते हैं।

सबसे पहली बात यह हैकि अद्वैत वेदान्त कदापि इस मत का प्रतिपादन नहीं करता कि जीव और ब्रह्म एक हैं। 'अद्वैत' शब्द का अर्थ होता है 'दो का अभाव'। अर्थात् अद्वैत वेदान्त केवल इतना ही कहता है कि जीव और ब्रह्म दो नहीं हैं। जीव और ब्रह्म के दो नही होने का यह अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता कि जीव और ब्रह्म एक ही हैं। यदि जीव ब्रह्म ही होता तो फिर जीव को, मोक्ष प्राप्ति के निमित्त, शास्त्रो मे प्रतिपादित नाना-प्रकार के साधनो के अभ्यास करने की क्या आवश्यकता थी? इसीलिए अंग्रेजी मे अद्वैतवाद का पर्यायवाची शब्द No -Dualism ही Monism की अपेक्षा अधिक उचित जान पड़ता है। जीव ब्रह्म की एकता प्रतिपादित करनेवाले वाक्यो का कुछ दूसरा ही अर्थ है। शंकर प्रकृत अर्थ मे (Literally) कभी जीव तथा ब्रह्म को एक नहीं मानते।

जब शंकर जीव को ब्रह्म से अभिन्न मानते हैं, तो इस अभिन्नता से उनका तात्पर्य अनन्तता होता है। जीव के ब्रह्म से अभिन्न होने का अभिप्राय यह है कि जीव ब्रह्म से अनन्य है। जीव ब्रह्म से पृथक् नहीं है; क्योंकि ब्रह्म सदा अन्तर्यामी रूप से जीव में विद्यमान रहता है। अभिन्नता का अर्थ है, स्वतन्त्रसत्ता का सर्वथा अभाव। जीव के ब्रह्म से अभिन्न होने का मतलब है कि जीव ब्रह्म से निरपेक्ष, स्वतन्त्र कदापि नहीं हो सकता। जीव की ब्रह्म से पृथक् सत्ता नहीं है। शंकर के भाष्य ग्रन्थो में जहाँ कहीं भी जीव-ब्रह्म की एकता प्रतिपादन करनेवाले वाक्य हैं, उनका सच्चा अभिप्राय यही है। (१) कहीं-कहीं जीव को ब्रह्म का आभास (Reflective)-होना बतलाया गया है। लेकिन आभासवाद से भी जीव ब्रह्म की एकता नही प्रतिपादित होती। वेदान्तभाष्य मे जहाँ

१—देखिए—शंकराचार्य का वेदान्तभाष्य १—१—१७।

प्रतिषिध्यते एव तु परमार्थतः सर्वज्ञात् परमेश्वरात्

'अन्यो' द्रष्टा श्रोता वा -परमेश्वरस्तु विज्ञानात्माख्यात् अन्यः

आभासवाद का प्रकरण आया है, वहाँ शंकर की उक्तियों से ही इस मत का स्पष्टीकरण हो जायगा । आभासवाद के द्वारा तो और भी जीव ब्रह्म के पारस्परिक भेद स्पष्ट हो जाते हैं ।१

इस प्रकार जीव और ब्रह्म की एकता का अर्थ वस्तुगत या द्रव्यगत एकता अथवा अभिन्नता (Substential Identity) होता है, न कि स्वरूपगत एकता वा अभिन्नता । द्रव्य के दृष्टिकोण से जीव ब्रह्म से अभिन्न ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार घट मृत्तिका से अभिन्न है, तथा घटाकाश महाकाश से अभिन्न है । किन्तु स्वरूपतः, अर्थात् अपने स्वरूप या स्वभाव के दृष्टिकोण से दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं । घट स्वरूपतः मृत्तिका से भिन्न है; क्योंकि घट का व्यापार मृत्तिका से सम्पादित नहीं हो सकता ।

जीव तथा ब्रह्म की एकता का उपर्युक्त रहस्य जान लेने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अद्वैत वेदान्त में जीव ब्रह्मैक्य के कारण आचारशास्त्र के अभाव का प्रतिपादन करना कितना भ्रामक है । शंकराचार्य द्वारा विभिन्न देवों की स्तुति के निमित्त बनाए गए अनेक स्तोत्रों द्वारा भी यह मत सर्वथा व्यक्त ही है । शंकराचार्य के सारे भाष्यग्रन्थों में यही कहा गया है कि जीव ब्रह्म है, न कि ब्रह्म जीव है । एकता तो दोनों तरफ से होती है । यदि भगवान् शंकर जीव को सर्वथा ब्रह्म से अभिन्न मानते, तो केवल यही कहकर वह चुप नहीं हो जाते कि जीव ब्रह्म है; प्रत्युत् यह भी कहते कि ब्रह्म भी जीव है । किन्तु न तो शंकर के भाष्य ग्रन्थों में और न उपनिषदों मे ही

१—आभास एव चैष जीवः परस्यात्मा परस्यात्मनः, जलसूर्यकादिवत् । न स एव साक्षात्, नापि वस्त्वन्तरम्

—ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य २—३—५०

फिर देखिए—

न केवलं अध्यात्मोपाधि परिच्छिन्नस्य ब्रह्मणो रूपं त्वं 'मल्पं' वेत्थ; यदपि अधिदैवतोपाधिपरिच्छिन्नस्य अस्य ब्रह्मणो रूपं वेत्थत्वे, तदपि नूनं 'दभ्रमेव वेत्थ' । केन उपनिषद् भाष्य, २—१

ऐसे वाक्य पाये जाते हैं। फिर आचार्य शंकर ने अपने प्रकरण ग्रन्थो मे अनेक स्थलो पर स्पष्ट रूप से ब्रह्म का जीव(१) तथा जगत् से भेद(२)ही स्पष्ट किया है।

दूसरी बात यह कि शंकर द्वारा जगत् के अनित्य माने जाने पर भी आचार-शास्त्र का कोई अभाव नहीं रह पाता। जिस तरह शंकराचार्य के जीव ब्रह्मैक्य को लोग ठीक से नहीं समझने की चेष्टा करते, ठीक उसी प्रकार जगत् की अनित्यता का रहस्य भी उन्हें उचित अर्थ में ज्ञात नहीं। और, तभी वे ऐसा कहा करते हैं कि अनित्य जगत् मे अनित्य पाप–पुण्य, सद्सत सम्बन्धी विचार-विमर्श भी निरर्थक हैं। वस्तुस्थिति कुछ दूसरी ही है। जिस तरह जीव ब्रह्मैक्य का प्रकृत अथ नहीं लिया जा सकता, उसी तरह जगत् की अनित्यता भी प्रकृत अर्थ मे नहीं मानी जा सकती। शंकराचार्य द्वारा जगत् की अनित्यता प्रतिपादन करने का अर्थ यह है कि जगत् ब्रह्म से निरपेक्ष नही है। जगत् स्वतन्त्र निरपेक्ष नहीं हो सकता। जगत् ब्रह्म पर ही अवलम्बित है। जगत् अपनी सत्ता अथवा अस्तित्व के लिए ब्रह्म की सत्ता पर अवलंबित है। (३) जगत् का स्वरूप सदा बदलता रहता है। यह परिवर्त्तनशील है। जो कुछ परिवर्त्तनशील होता है; वह सत्य नहीं हो सकता। परमार्थ तत्त्व (Absolute) तो वही हो सकता है, जिसका रूप कभी न बदले, जिसका कभी बाध (Contradiction) न हो, जिसका किसी अवस्था में अभाव ज्ञात न हो। शंकर जब जगत् को अनित्य कहते हैं, तो कुछ ऐसी बात नहीं करते, जो

---

१ सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥
—आचार्य शंकरकृत षट्पदीस्तोत्र–३।

२ (क) न खल्वनन्यत्वमित्यभेदं ब्रूमः किन्तु भेदं व्यसेधाम।
—वेदान्त सूत्र १–१–१ के ऊपर शांकरभाष्य की भामती टीका।

(ख) कारणात् पृथक् सत्ताशून्यत्वं साध्यते; न तु ऐक्याभिप्रायेण।
—भामती।

३ बृहदारण्यकोपनिषद् ४–५-८-१२; छान्दोग्य उपनिषद् ६-१-४–७; श्वेताश्वतरोपनिषदे ४-१० पर शां० भा०

लौकिक दृष्टिकोण से अनुचित या विचित्र जान पड़े। हम सभी यह अच्छी तरह जानते हैं कि जगत् की वस्तुएँ सदा बदलती रहती हैं। उनका रूप सदा एक-सा नहीं रहता। और, इसलिए ये सदा बदलती रहती हुई वस्तुएँ एक ऐसी सत्ता की ओर संकेत करती हैं, जो अविनाशी, अव्यय तथा अद्वय हो। इस परिवर्त्तनशील जगत् का आधार अद्वय, अव्यय, एकरस, नित्य परमात्मा है। उससे अलग जगत् की सत्ता नहीं हो सकती। इस तरह हम देखते हैं कि प्रवाह रूप से शंकर जगत् को नित्य मानते हैं। जगत् के नित्य मानने पर सारे जागतिक व्यवहार, पाप–पुण्यादि नैतिक आचार-व्यवहार भी नित्य ही हैं। सृष्टि-चक्र या जगत-चक्र सदा चलता रहता है। हिन्दू-धर्म तथा संस्कृति में जगत् नित्य माना जाता है। तभी तो कर्म-प्रवाह भी अनादि माना जाता है। जगत् को अनादि माननेवाले अद्वैत वेदान्त तथा अन्य भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में नैतिक आचार-व्यवहार क्योंकर अनित्य हो सकते हैं; क्योंकि पाप–पुण्यादि पर ही तो जीवों की विविध गतियाँ निर्भर करती हैं। वेदान्त मत के प्रतिपादक ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता में भी उनलोगोंको निम्न कोटि का मनुष्य माना गया है, जो जगत् को असत्य तथा स्वतन्त्र मानते हैं ! (१)

ईश्वर को भी पाप-पुण्य से परे बतलाया जाता है। आलोचकों के मत में अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म निर्गुण है। वह पाप-पुण्य से दूर रहता है। सुकृत-दुष्कृत से उसका कुछ सम्बन्ध नहीं है। (२) इस तरह जब स्वयं ईश्वर ही अनैतिक है, पाप-पुण्यादि से उसका रंचमात्र भी सम्बन्ध नहीं, तो फिर वह आचार-व्यवहारादि में किस प्रकार जीव का प्रेरक हो सन्मार्ग का दर्शक हो सकता है ? किन्तु श्रीमद्भगवद्गीता के कुछ श्लोकों तथा अन्यत्र भी अन्य हिन्दू-धर्म के ग्रन्थों के कतिपय अवतरणों के ये आशय बतलाए जाते हैं

१—असत्यम प्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्
—श्रीमद्भगवद्गीता १६—८।

२—देखिए, श्रीमद्भगवद्गीता—अध्याय,३–१७, १८; १२–१६ से १६; ८–६; ६–२७, २८; ५–१२–१५

जिनके बल पर बहुत-से आलोचक ईश्वर को अनैतिक बतला कर, मानो भारतीय आचार-शास्त्र की जड़ ही खोद डालना चाहते हैं।

सचमुच, ईश्वर के अनैतिक होने, पाप—पुण्यादि का नियमन न करने तथा स्वय भी पाप—पुण्य से परे रहने के कारण जीव को आचार-व्यवहार मे कुछ भी प्रेरणा नहीं मिल सकती। लेकिन भारतीय दर्शन के सिलसिले में ऐसी बातें ठीक नहीं जँचतीं; क्योंकि प्रत्येक हिन्दू इस सिद्धान्त से अवगत है कि परमेश्वर धर्म की संस्थापना के निमित्त तथा दुष्टों के नाश के लिए अपने शुद्ध स्वरूप को खोकर इस पृथ्वी में अवतार ग्रहण करता है। (१) अवतारवाद में विश्वास करनेवाले हिन्दू-धर्म का ईश्वर कभी अनैतिक नहीं हो सकता। भले ही, जिन श्लोकों से उपर्युक्त आशय व्यक्त होते हों, परन्तु यदि जिस प्रकरण मे वे श्लोक आए हैं, उस प्रकरण के दृष्टिकोण से विचार किया जाय, तो उपर्युक्त आक्षेप दूर हो जायँगे। उदाहरणार्थ उपर्युक्त श्लोक उन प्रकरणों में आये हैं, जहाँ निष्काम कर्म की प्रशंसा की गई है। शुभ और अशुभ का अर्थ उन प्रकरणो मे संसारावस्था मे उत्तम या अधम योनि को धारण करना मात्र है। जब यह बतलाया जाता है कि परमेश्वर का भक्त शुभ तथा अशुभ दोनो को अतिक्रांत कर जाता है, तो यहाँ इसका यह अर्थ होता है कि वह मोक्ष पा लेने के पश्चात संसार मे पुनः अच्छी या बुरी योनि नहीं धारण करता। आवागमन से वह मुक्त हो जाता है। वस्तुतः ज्ञानी या मुक्त शुभ से कभी मुक्त नहीं होता; क्योंकि आखिर, मोक्ष भी तो उसके लिए शुभ ही है! फिर जहाँ परमेश्वर के सम्बन्ध मे यह आया है कि उनका सुकृत-दुष्कृत से कुछ तात्पर्य नहीं, वहाँ यह अर्थ है कि चूँकि जीव अपनी इच्छा से पाप या पुण्य करता है, इसलिए ईश्वर जीव द्वारा किए पाप-पुण्यादि का उत्तरदायी नहीं है। जीव स्वयं अपने किए गए पाप-पुण्यादि का उत्तरदायी है। इस श्लोक का यह अर्थ कदापि नहीं कि परमेश्वर का पाप-पुण्यादि से कोई संबंध नहीं; क्योंकि गीता के अध्ययन करनेवाले सभी जानते हैं कि किस प्रकार

१—गीता ४–७।

भगवान् सन्तों की रक्षा तथा पापियों को अनेक प्रकार की अधम योनियों द्वारा दण्ड देते हैं। (१) चूँकि जिस प्रकरण या अध्याय में उपर्युक्त श्लोक आया है, जिसके द्वारा परमेश्वर को शुभ तथा अशुभ वा पाप तथा पुण्य से अन्यमनस्क बतलाया जाता है, वहाँ प्रतिपाद्य विषय जीव है। जीव के प्रतिपाद्य विषय होने के करण उपर्युक्त श्लोक का तात्पर्य जीव से ही, न कि ईश्वर से हो सकता है।

इस प्रकार स्पष्ट सिद्धान्त है कि हिन्दू-धर्म का ईश्वर कदापि नहीं हो सकता। हिन्दूधर्म का ईश्वर या ब्रह्म नैतिक है। पाप-पुण्यादि कर्मों का यथा-योग्य फल देनेवाला है। पापियो को दण्ड देनेवाला है। पुण्यात्मा ज्ञानी भक्त मनुष्य परमेश्वर के अतिशय प्रिय हैं। (२)

भारतीय दर्शन मे आचार-शास्त्र के सर्वथा अभाव का एक दूसरा कारण शंकराचार्य के परमतत्त्ववादी दर्शन (Absolutsstic School) में कर्म करने की प्रवृत्ति को निन्दनीय मानना बतलाया जाता है। कतिपय विद्वानों का कहना है कि शंकराचार्य के अनुसार कर्म से बन्धन होता है (३) कर्म के वशीभूत होकर ही मनुष्य इस जगत् की अनेक योनियों में शरीर धारण कर नाना प्रकार के दुःखों को भोगता है; अतएव मुक्ति, कर्म से निवृत होने पर ही हो सकती है।

मुक्ति एकमात्र ज्ञान द्वारा ही सिद्ध हो सकती है। (४) ज्ञान और कर्म

१—गीता १६—१६; १६—१६—२०।

२—The Upanisads donot require the performance of any action but reveal only the action.

३—The Upanisads donot require the performance of any action but reveal the ultimate trnth

—Dr. S. N. Dasgupta.

४—तैतिरीय २-६-१-२-१-१; बृहदारण्यक १-४-१०, २-२-४; मुण्डक २-२-८, ३-२-६; केन २-४; ईश ७।

परस्पर विरुद्ध हैं; अतएव ज्ञान का लक्ष्य कर्म का लक्ष्य कभी नहीं हो सकता। शंकराचार्य ने कर्म तथा ज्ञान की क्रमशः अन्धकार तथा प्रकाश से तुलना की है। (१) अतएव शंकराचार्य के निवृत्तिपरायण दर्शन में आचारशास्त्र का रंचमात्र भी स्थान नहीं।

उपर्युक्त आक्षेप बाह्यतः सच्चे मालूम पड़ते हैं और शंकर ने वस्तुतः कर्म की निन्दा की है। किन्तु जब वे कर्म की निन्दा करते हैं, तो उनका तात्पर्य वासनाप्रेरित कर्म से रहता है। वासनामूलक कर्मों में ही फल देने की शक्ति रहती है तथा ऐसे कर्मों के कारण मनुष्य की उत्तम या अधम गति हो सकती है। वैसे कर्मों का सचमुच ज्ञान के साथ विरोध है। वैसे कर्मों के सम्पादन द्वारा वस्तुतः चित्त शुद्धि नहीं हो सकती तथा चित्तशुद्धि के अभाव में ज्ञान की प्राप्ति न होने पर मुक्ति नहीं हो सकती। किन्तु शंकर तथा अन्य अद्वैत वेदान्ती एक दूसरे प्रकार के कर्म की भी चर्चा करते हैं, जिसका ज्ञान से विरोध नहीं रहता। (२) ऐसे कर्मों को सदा करते रहने का आदेश दिया जाता है; क्योंकि बिना ऐसे कर्मों को किए चित्तशुद्धि नहीं हो सकती तथा ज्ञान-प्राप्ति के अभाव के कारण परम पुरुषार्थ सिद्ध नहीं हो सकता।

---

(१) न तु कर्मणा निवर्तयितव्यमज्ञानम्, न चा ज्ञानव्यतिरेकेण मोक्षस्य व्यवधानान्तरं कल्पयितुं शक्यम्, नित्यत्वान्मोक्षस्य साधकस्वरूपा व्यतिरेकाच्च यत्कर्मणा निवर्त्येत। अनभिव्यक्तिरज्ञानम्, अभिव्यक्तिलक्षणेन ज्ञानेन विरुद्ध्यते; कर्मतु नाज्ञानेन विरुद्ध्यते, तेन ज्ञान विलक्षणं कर्म।

—बृहदारण्यक उपनिषद ३-३-१ पर शंकराचार्य की भूमिका।

(२) तेषा निरभिसन्धीना नित्याना कर्मणामाराद्रुप कारकत्वात्, मोक्षसाधनान्यपि कर्म्माणि भवन्ति, न विरुद्ध्यते।

—बृहदारण्यक शांकर भाष्य ३-३-१

अनभिसन्धाय फलमनुष्ठितानि यज्ञादीनि मुमुक्षोर्ज्ञानसाधनानि भवन्ति।

—वेदान्तसूत्र शांकर भाष्य ३-४-२७।

(१)सामान्य अनुभव की बात है कि समाज संगठन तथा समाज की उन्नति भी जब स्वार्थमूलक वासना-प्रेरित कर्मों द्वारा सम्पादित नहीं हो सकते, तब परमार्थ की सिद्धि अथवा मोक्ष की प्राप्ति हम किस प्रकार स्वार्थमूलक कर्मों के द्वारा कर सकते हैं ? अतएव शंकर का मत है कि स्वार्थपरायण कर्म न किए जाएँ, ऐसे कर्म जिनके द्वारा समाज की उन्नति सम्भव न हो, जिनके द्वारा चित्तशुद्धि न हो, न लोक बने और न परलोक ही, न किए जाएँ। (२) किन्तु मनुष्य को सदा वैसे कर्म अवश्य करने चाहिए, जो वासना-प्रेरित न हो, जिनका एकमात्र लक्ष्य हमारी नानाविध इच्छाओं की पूर्ति न हो। ऐसे ही कर्मों से निवृत्त रहने से लोक-परलोक बन सकता है। किन्तु मनुष्य को सदा यज्ञानुष्ठानादि, नित्य-कर्म करना चाहिए; क्योंकि इन कर्मों द्वारा चित्त शुद्ध होता है। ब्रह्म का ज्ञान चित्त शुद्ध होने पर ही सुलभ है। अतएव मनुष्य को कभी भी ऐसे कर्मों का कदापि परित्याग न करना चाहिए, जो हमारी चित्तशुद्धि में सहायक हो तथा जिनके द्वारा चित्त, ब्रह्म के ज्ञान के लिए, योग्य बनता हो। (२)

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान शंकर के परमतत्ववादी दर्शन (Absolutism) मे कर्म का स्थान सचमुच बहुत महत्त्व का है। शंकर के भाष्य-ग्रन्थो का सांगोपाङ्ग अध्ययन न करने तथा उनके वाक्यो का सप्रसंग विचार न करने से ही यह भ्रांति हो सकती है कि उनके दर्शन में कर्म का स्थान

---

१ उपायभूतानि हिं कर्म्माणि संस्कारद्वारेण ज्ञानस्य।

—केनोपनिषद्, शाकर भाष्य।

२ (क) यः नित्यं कर्म करोति, तस्य फलरागादिना अकलुषीक्रियमाणमन्तः करणम्, नित्यैश्च कर्मभिः संस्क्रियमाणं विशुद्ध्यति। विशुद्धं प्रसन्नमात्मालोचन क्षमं भवति। तस्यैव नित्यकर्मानुष्ठानेन विशुद्धान्तः करणस्य, आत्मज्ञानाभिमुखस्य क्रमेण तन्निष्ठा स्यात।—गीता, शांकर भाष्य १८—१०

(ख) यज्ञोदानं तपश्चैव पावनानि विशुद्धिकराणि फलानभि सन्धीनाम्—...सासङ्गस्य फलार्थिनो बन्धहेतव एतान्यपि कर्माणि मुमुक्षोः कर्त्तव्यानि।

गीता, शाकर भाष्य १८-५, ६।

नहीं तथा इसीलिए मारता। दर्शन के प्रधानतः निवृत्तिमूलक होने के कारण उसमे आचरण की चर्चा कृत्रिम जान पडती है।

भारतीय शास्त्रो मे यत्र-तत्र मुक्तात्मा के लक्षण भी इस प्रकार आए हैं कि कोई भी आलोचक उन्हें प्रसंग से पृथक् कर विचार करने पर इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि भारतीय संस्कृति अथवा भारतीय धर्म का आदर्श पुरुष स्वच्छन्द हो जाता है, पाप-पुण्य से उसका कोई संबंध नहीं रहता; वह मनमाना आचरण करता है। (१) ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय संस्कृति या धर्म मे उच्छृंखलता या दुराचार का ही दूसरा नाम नैतिकता है। (२) कौपीतकी उपनिषद मे इन्द्र प्रतर्दण से कहते हैं कि आत्मज्ञानी को मातृहत्या, पितृहत्या, या शिशुहत्या के पाप नहीं लगते। (३) भगवान श्रीकृष्ण के अनुसार भी जिस पुरुष के अन्तःकरण मे अहंकार की भावना नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थों और कर्मों में लिप्यमान नहीं होती, वह पुरुष इन सबलोगो को मारकर भी वास्तव में न तो मारता है और न पाप से बँधता है। उदाहरणार्थ परशुरामजी को मातृहत्या तथा बुद्ध को, उनके शाप के फलस्वरूप, उनके श्वसुर की मृत्यु के पाप नहीं लगे। (४)पंचदशी तथा धम्मपद मे भी इसी प्रकार के विचार पाए जाते हैं; किन्तु यह समझने की बात है कि भारतीय दर्शन के समान आचार-प्रधान दर्शन संसार में कोई नहीं। भले ही मुक्तात्माये के लक्षण बतलाए गए हों; परन्तु वस्तुतः इनका तात्पर्य दूसरा ही है।

१–श्री भगवद्गीता २–५०;१२–१७; मुंडक उपनिषद् १-३; कठ १–१४; वृह० ४–४–२२।

१–यो मां विजानीयात् नास्य केनचित् कर्मणा लोको मीयते न मातृवधेन न पितृवधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया। —कौषीतकी उपनिषद् ३–१

२–श्रीमद्भगवद्गीता; अध्याय १८, श्लोक १७।

३–मातरं, पितरं हन्त्वा राजनो द्वे च खत्तिए।
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा अनीघो याति ब्राह्मणो ॥ (२९४)
मातरं पितरं हन्त्वा राजनो द्वे च सोत्थिए।
वेय्यग्घ पञ्चमं हन्त्वा अनीघो याति ब्राह्मणो ॥ (२९५)

श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में बुद्धियुक्त पुरुष के पुण्य तथा पाप का इसी लोक मे त्याग करने का यह भाव है कि चूँकि उसकी बुद्धि वासना-रहित होने के कारण शुद्ध तथा सम हो जाती है, इसलिए उसके अन्तःकरण में पुण्यकर्म तथा पापकर्म के संस्कार नहीं संचित हो पाते। इस वर्त्तमान जन्म में ही वैसा पुरुष समस्त कर्मों से मुक्त हो जाता है। बारहवें अध्याय मे 'शुभाशुभ परित्यागी' पद का भी यही तात्पर्य है। इसी प्रकार भारतीय शास्त्रों में ऐसा ही समझना चाहिए। बात यह है कि मुक्त पुरुष की बुद्धि पूर्णरूपेण शुद्ध हो जाती है। अतएव मुक्तात्मा का कोई व्यवहार, रागद्वेष-रहित होने के कारण पापपूर्ण नहीं हो सकता। पाप रागद्वेष होने के कारण ही होते हैं। जब बुद्धि सम हो जाती है, रागद्वेष नष्ट हो जाते हैं, तब मुक्तात्मा द्वारा कदापि रंचमात्र भी पापमय व्यवहार नहीं हो सकता। स्थूल दृष्टि से भले ही उनके कतिपय व्यवहार पापमय मालूम पड़ते हों, भले ही परशुराम तथा बुद्ध के उपर्युक्त कर्म पापमय प्रतीत हों, किन्तु वे पापी नहीं कहे जा सकते; क्योंकि उनकी बुद्धि सम थी तथा उनके इन व्यवहारों में कुछ-न-कुछ लोकहित की ही भावना थी। किन्तु हमारे शास्त्रों में ही नहीं पाश्चात्य आचार-शास्त्र में भी भावना की अपेक्षा कर्त्तव्य को श्रेष्ठ बतलाया गया है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक काण्ट मनुष्य की शुद्ध बुद्धि पर जोर डालते हैं तथा शुद्ध बुद्धि द्वारा किया गया काम अवश्य ही अच्छा होगा, भले ही उसका बाहरी फल बुरा क्यों न दीख पड़े। जिन लोगोंकी दृष्टि में, मानवीय शुद्ध बुद्धि का आचार-शास्त्र में कुछ महत्त्व नहीं तथा जो इसी कारण मानवीय व्यवहारों तथा कार्यकलापों का मूल्यांकन कार्यों के बाहरी शुभ अथवा अशुभ परिणामों के दृष्टिकोण से करते हैं, निश्चय ही उन्हीं लोगोंके विचार से उपर्युक्त सिद्धान्त अनैतिक तथा विचित्र हो सकता है।

ज्ञानी पुरुष कदापि बुरे आचरण नहीं कर सकता। ज्ञानी पुरुष की तो सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं। कामनाओं के नहीं रहने के कारण ज्ञानी व्यक्ति द्वारा निषिद्ध आचरण हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार त्रिलोकी का राज्य प्राप्त कर लेने पर, कोई भिक्षाटन नहीं करता, उसी तरह आत्मानन्द का

अनुभव होने पर ज्ञानी क्योंकर विषयों के क्षुद्र आनन्द की कामना करेगा तथा रागद्वेष के कारण पापाचरण करने को उद्यत होगा ? सामान्य अनुभव की बात है कि जब कोई करोड़पति किसी भिक्षुक से कुछ रुपए छीन लेता है, तो लोग करोडपति को तनिक भी दोष नहीं देते । यह समझा जाता है कि कहीं करोड़पति भी किसीके रुपए छीन सकता है ! भिक्षुक ने अवश्य करोड़-पति के प्रति कुछ दुर्व्यवहार किया होगा, जिसके परिणामस्वरूप उसने उसे, उसका द्रव्य छीन, उसे दण्ड दिया है। विशेष—सेंट जान् का कथन है कि परमेश्वर के पुत्र कदापि पापाचरण नहीं कर सकते । (१) ठीक यही बात हिन्दू-धर्म के आदर्श पुरुष के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। यदि यह कहा जाय कि मुक्तात्माओं के अनैतिक होने की बात तो दूर रहे, उन्हींके व्यव-हारों के आधार पर सदाचार के नियम बनाए जाते हैं, तो रंचमात्र भी अतिशयोक्ति नहीं। सनातन वैदिक धर्म ही नहीं, ईसाइ धर्म में भी ऐसे हीं सिद्धान्त उपलब्ध हैं। महात्मा ईसा के शिष्य संत पाल कहते हैं कि उनके लिए सब कुछ सदाचारानुकूल ही है। (२)

अतएव निष्कर्ष यह आया कि भारतीय धर्म तथा संस्कृति का आदर्श व्यक्ति, अनैतिक होने की बात तो दूर रहे, वह सारे सदाचार की आधार-शिला है, क्योंकि उसीके सद्व्यवहारों के आधार पर आचार-शास्त्र तथा समाज-शास्त्र के नियमो की रचना होती है। इस प्रकार भारतीय दर्शन में मुक्तात्मा अथवा ज्ञानी पुरुष की अनैतिकता के आधार पर आचार-शास्त्र के सर्वथा अभाव का आक्षेप केवल अज्ञता का द्योतक है।

फिर भी अपवादस्वरूप, यदि कहीं तथाकथित ज्ञानी पुरुष के आचार आपत्तिजनक एवं अनैतिक जान पड़ते हो, तो यह समझना चाहिए कि वैसा

---

(१) John 1-3-9.

(२) 'All things are lawful for me'

—New Testament I-Cori. 6. 12; Romans 8. 2 में संत पाल का वचन।

पुरुष ज्ञानी होने का केवल स्वांग रचता है। ऐसा व्यक्ति वस्तुतः ज्ञानी कदापि नहीं हो सकता। ज्ञानी पुरुषों के आचार स्वभावतः शुभ ही हुआ करते हैं। उनका स्वभाव ही ऐसा हो जाता है कि निषिद्ध आचरण उनके द्वारा हो ही नहीं सकते। यदि तत्त्वज्ञानी भी यथेच्छ, निषिद्ध अथवा अशुभ आचरण करे, तो ऐसे तत्वज्ञानी और एक कुत्ते मे फिर भेद क्या रहा ? (१) आचार्य शंकर का स्पष्ट शब्दों में यह वचन है कि ज्ञानी चित्त मे सबके साथ अद्वैत भावना रखे। किन्तु व्यवहार मे अद्वैत से न बरते। तीनो लोको के साथ अद्वैतभाव रखे; परन्तु गुरु के प्रति तो सदा भेदभाव ही रखे, अद्वैत-भावना कदापि नहीं। (२)

अब रही बात, ईश्वरवादी दर्शनो (Theistic schools) में संकल्प-स्वातन्त्र्य के सर्वथा अभाव की बात। यह बात ठीक है कि ऐसे दर्शनो में सब कुछ ईश्वर की कृपा से होना बतलाया जाता है; मनुष्य केवल निमित्त माना जाता है। किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि ऐसे दर्शन संकल्प-स्वातन्त्र्य (Freedom of will) के अभाव का प्रतिपादन करते हैं। ऐसे विचारो का एकमात्र तात्पर्य ईश्वर की सर्वव्यापकता तथा सर्वशक्तिसत्ता सिद्ध करना है। मनुष्य के संकल्प-स्वातन्त्र्य पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं। सारे हिन्दू-दर्शन-ग्रन्थो में कर्त्ता को स्वतन्त्र माना गया है। दैव-प्रकृति के अतिरिक्त मनुष्य की स्वाभाविक संकल्प-शक्ति पर जोर डाला गया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि हिन्दू-दर्शन में मनुष्य स्वतन्त्र है। इस विषय की विशेष चर्चा दैव पुरुषकारवाले अध्याय में की जायगी।

सारांश यह कि भारतीय दर्शन मे आचार का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। शंकराचार्य का कहना है कि आचारहीन मनुष्य वेदो द्वारा भी कदापि पवित्र नहीं हो सकता। भारतीय संस्कृति तथा दर्शन की आचार-प्रधानता तो

१—बुद्धाद्वैत तत्त्वस्य यथेच्छा चरणं यदि।
शुना तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे॥ —नैषकर्म्य सिद्धि।

२—भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कुत्रचित्।
अद्वैतं त्रिषु लोकेषु नाद्वैतं गुरुणा सह॥ —शंकराचार्य।

इसीसे सुस्पष्ट हो जाती है कि अत्युदार वैष्णव धर्म के आचार्य व्यासजी स्त्रियो और शूद्रो के साथ-साथ उन द्विजातियो को भी वेद-श्रवण का अधिकार नहीं देते, जो आचारहीन हैं। (१) सभी सम्प्रदायो के आचार्य अपने दार्शनिक मतो में एक दूसरे से मतभेद रखते हुए भी आचार में एकमत हैं। मुक्तात्मा की स्वच्छन्दता, ईश्वर का अनैतिक स्वरूप, जगत् की अनित्यता आदि सभी युक्तियाँ निराधार हैं। उनका वास्तविक अर्थ वस्तुतः आचार-शास्त्र की बलवती प्रेरणा है। स्थूल अर्थों पर ही ज़ोर डालनेवाले आलोचक भारतीय दर्शन के इन सिद्धान्तो का रहस्य न जानकर ही निराधार आक्षेप करते हैं। भारतीय शास्त्रो के सांगोपांग अध्ययन द्वारा एकमात्र यही सिद्धान्त स्थिर हो सकता है कि भारतीय दर्शन की आचार-प्रधानता की तुलना में संसार का कोई दर्शन नहीं आ सकता। (२)

१—स्त्री शूद्र द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एव भवेदिह ॥

—श्रीमदभागवतम् ।

२—नहि सदाचारहीनः कश्चिदधिकृतः स्यात् 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' इत्यादि स्मृतिभ्यः ।

—वेदान्तसूत्र शांकर भाष्य ३ । १ । १०

दूसरा अध्याय

दैव और पुरुषकार

प्रथम अध्याय मे, भारतीय दर्शन में, आचार-शास्त्र के महत्त्व के विषय में पूरी विवेचना की गई है तथा इस निष्कर्ष की स्थापना की गई है कि वस्तुतः भारतीय दर्शन अतिशय आचार-प्रधान दर्शन है। किन्तु उन युक्तियों से ही सारी शंकाओ तथा आक्षेपों का परिहार नहीं हो जाता; क्योंकि बहुत-से लोगोकी अनुमति मे भारतीयो का एकमात्र दैव (Fate) या नियति में ही विश्वास है। सब कुछ पहले ही से निर्धारित हो जाता है और मनुष्य के आचार-व्यवहार तदनुकूल होने के कारण पाप या पुण्य, धर्म या अधर्म, शुभ अथवा अशुभ की कोटियो में नहीं आ सकते; क्योंकि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र नही है। जब तक यह न मान लिया जाय कि मनुष्य अपनी इच्छा से बिना किसीकी प्रेरणा के सारे कर्म करता है, तब तक नीति-शास्त्र का कोई मूल्य नहीं। चूँकि भारतीय दर्शन में सब-कुछ दैव की करामात है; इसलिए यहाँ पुरुष या आत्म-स्वातन्त्र्य (Freedom of will) का रंचमात्र भी अवकाश नहीं।

यह ठीक है कि भारतीय दर्शन मे दैव का स्थान है। भारतीय दर्शन नियतिवाद (Determinism) मे विश्वास करता है; क्योंकि हमारे जीवन के सारे व्यवहार, यहाँ तक कि जाति, आयु, भोग, कुल आदि सब-कुछ हमारे प्राक्तन जन्म मे किए कर्मों द्वारा ही निर्धारित होते हैं। (१)

१—सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। —पातञ्जल योगदर्शन।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥

—श्रीमद्भगवद्गीता १५—८।

हमने अपने पूर्वजन्मों में जितने वासना-प्रेरित कर्म किये हैं, उनका फल अवश्य होगा। सूक्ष्मरूपेण उनका संस्कार हमारे चित्र-पटल पर अवश्य अंकित होते है। स्थूलरूपेण हमारे सारे जीवन-व्यापार संचालित होते हैं। यह नियतिवाद कारण-कार्य-सिद्धान्त का ही परिणाम है। यदि भौतिक जगत् में कारणों से कार्यों की उत्पत्ति होती देखी जाती है तथा कारणों के स्वरूप का प्रभाव कार्यों के स्वरूपगत गुण-दोष पर अवश्य पड़ते हैं। ठीक उसी तरह नैतिक क्षेत्र मे भी हमारे शुभाशुभ कर्मों के शुभाशुभ फल अवश्य ही होते हैं। इसे ही भारतीय दर्शन मे दैव कहा गया है। भारतीय दर्शन मे दैव का महत्त्व-पूर्ण स्थान है। श्रीमद्भगवद्गीता मे कार्यों की सिद्धि में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान दैव को ही दिया गया है। (१) इस मत को भाग्यवाद की संज्ञा भी दी जाती है तथा भारतीयों को भाग्यवादी कहा जाता है। महाभारत में अनेक स्थलों पर दैव का बड़ा प्रबल प्रभाव बतलाया गया है। महाभारत सभा-पर्व में युधिष्ठिर विदुरजी से कहते हैं कि दैव बडा प्रबल है। ईश्वर द्वारा रचित यह सारी सृष्टि दैव के ही अधीन है, स्वतन्त्र नहीं। (२) दैव से ही प्रेरित होकर मनुष्य रज्जु से बँधे हुए की भाँति ईश्वर के वश मे नाचता रहता है। (३)

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ६—४३।

अन्तिम श्लोक के पूर्वार्द्ध मे नियतिवाद अथवा दैव का स्पष्ट वर्णन आया है।

(१) दैवं चात्र पंचमम्।
—देखिए श्रीमद्भगवद्गीता; अध्याय, १८, श्लोक १४

(२) धात्रा तु दिष्टस्य वशे किलेदं।
सर्वं जगत् तिष्ठति न स्वतन्त्रम्। —महाभारत, सभा-पर्व, ५८-१४

(३) धातुश्च वशमन्वेति पाशैरिव नरः सितः।
—महाभारतः सभापर्व, ५८-१८।

किन्तु भारतीय दर्शन दैव को ही सब कुछ नहीं मानता । प्रारब्ध अथवा दैव का क्षय सम्भव है । यदि विचार कर देखा जाय, तो मालूम होगा कि भारतीय आचार-शास्त्र के अनुसार दैव और पुरुषकार एक ही भाव की दो संज्ञाएँ हैं; क्योंकि दोनों एक ही सिद्धान्त का पुष्टीकरण करते हैं। केवल कालभेद के दृष्टिकोण से ही हमारे कर्मों तथा व्यवहारों को दैव की संज्ञा दी जाती है, तो कभी पुरुषकार की संज्ञा दी जाती है। उदाहरणस्वरूप पूर्व-जन्म में किए गए कर्मों के उन फलों को, जिन्हें हम इस वर्त्तमान जीवन में भोग रहे हैं, दैव कहता है। (१) दैव का अर्थ भाग्य नहीं। अतएव दैववाद में विश्वास करनेवाले भारतीय भाग्यवादी नहीं कहे जा सकते। भूत दूसरे शब्दों में भूतकाल में किए गए कार्यकलाप की फलसमष्टि दैव कहलाती है तथा इस वर्त्तमान जन्म में अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति से किए जानेवाले कर्म पुरुषकार कहलाते हैं। दैव की दृष्टि से इस प्रकार मनुष्य परतन्त्र है; किन्तु पुरुषकार के दृष्टिकोण से मनुष्य स्वतन्त्र है। व्याकरणशास्त्र के समान (१) भारतीय शास्त्रों में भी कर्त्ता को स्वतन्त्र माना गया है और वस्तुस्थिति भी यही है। (२)

दैव के अतिरिक्त, भारतीय दर्शन में एक दूसरी विचारधारा भी पाई जाती है। दैव की तरह यत्र-तत्र हमारे शास्त्रों में पुरुषकार या उद्यम, या मानव प्रयत्न की भी बड़ी स्तुति की गई है। हमारी अनेक नीति सूक्तियाँ, पुरुषकार की महिमा गाती हैं। मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र माना गया है। अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है। मनुष्य को आत्मबल पर पूर्ण विश्वास रखकर सारे कर्त्तव्य करने के आदेश दिए गये हैं। मनुष्य अपने प्रयत्नों

१—पूर्वजन्मकृत कर्म तद्भाग्यमित्यभिधीयते।
२—स्वतन्त्रः कर्त्ता।

—पा० सू०

वृहदारण्यक उपनिषद् ४—४—५
छान्दोग्य उपनिषद् ८—१६
मुक्तिउपनिषद् २—५—६

द्वारा अपना उपकार, अपकर्ष, उत्कर्ष सब-कुछ कर सकता है। मनुष्य के प्रयत्नों के अधीन ही उसके इष्ट-अनिष्ट हैं। अतएव यदि यह कथन ठीक हो कि भारतीय दर्शन में दैव पर बड़ा जोर डाला गया है, तो यह कहना भी किंचित् मात्र असत्य नहीं कि भारतीय दर्शन में पुरुषकार का भी उससे कम महत्वपूर्ण स्थान नहीं; क्योंकि तब तो भारतीय संस्कृति अथवा धर्म में विधि-निषेधमूलक स्मृतियाँ अथवा अन्य धार्मिक शास्त्र निरर्थक हो जायँ।

वस्तुतः भारतीय दर्शन में विद्यमान इन दो विचारों के बीच बड़ा सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया गया है। जहाँ कहीं भी दैव की चर्चा की गई है, वहाँ यथासम्भव पुरुषार्थ की भी प्रशंसा की गई है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण का कथन है कि पूर्वजन्मों में किए गए कर्मों के फलस्वरूप ही मनुष्य इस जन्म में फल प्राप्त करता है। यह दैवपक्ष हुआ। किन्तु इसके पश्चात् वह अपनी उन्नति के लिए नानाविध कर्त्तव्य करता है। (१)

गीता के इसी पक्ष में एक श्लोक दिया गया है। उसमें दैव तथा पुरुषकार का बड़ा सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया गया है। महाभारत आदि पर्व में वर्णन आया है कि यह जगत् दैव तथा पुरुषकार दोनों पर अवलम्बित है। दैव तभी सफल होता है, जब यथासमय पुरुषकार किया जाय। (२)

यदि ऐसी बात न होती, तो श्रीकृष्ण का अर्जुन के प्रति नानाविध उपदेश देने के पश्चात् भी इस कथन का कुछ भी अर्थ नहीं होता कि वह जैसा चाहे, कर सकता है। (३)

---

(१) द्रष्टव्य :—श्रीमद्भागवद्गीता ६–५, ४३।
द्वौ हुडाविव' युध्येते पुरुषार्थौ समासमौ।
प्राक्तश्चैहिकश्चैव शाम्यत्यत्राल्पवीर्यवान्॥

(२) दैवे पुरुषकारे च लोकोऽयं सम्प्रतिष्ठितः। —योगवाशिष्ठ।
तत्र दैवं तु विधिना कालयुक्तेन लभ्यते।
—महाभारत, आदि पर्व १२१–२१।

(३) विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु। —गीता १८–६३।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय शास्त्रो में अकेला दैव या अकेला पुरुषकार पर जोर न डालकर दोनो पर समानरूप से जोर डाला गया है। किन्तु ऐसी बात भारतीय दर्शन के लिए स्तुत्य ही हो सकती है। सर्वत्र नियतिवाद तथा संकल्प स्वातंत्र्य दोनो का भाव होना आवश्यक है। अपने शुभाशुभ कर्मों का फल भोगने के लिये बाध्य या परतन्त्र न होने तथा अपने उद्धार-अनुद्धार के निमित्त शुभाशुभ कर्मों के सम्पादन करने में स्वतन्त्र न होने पर नीति-शास्त्र या आचार शास्त्र का कुछ मूल्य ही नहीं रह जाता।

दैव और पुरुषकार के इस सम्बन्ध को ध्यान में रखकर ही प्रसिद्ध मनीषी सर राधाकृष्णन् कहते हैं कि जीवन मानो एक ताश का खेल है। इस खेल मे ताश की पत्तियाँ हमे दे दी गई हैं। इन दी हुई पत्तियो को हमें चुनना नहीं है। दी गई ये पत्तियाँ, मानो प्राक्तन जन्म मे किए गए हमारे कर्मों के फल हैं। ये निर्धारित हैं। किन्तु यही सब कुछ नहीं है। पर इन पत्तियो से किस प्रकार का खेल खेलें, यह हमारी स्वेच्छा पर निर्भर है। हम इस खेल में अपने प्रयत्नो द्वारा हार भी सकते हैं और जीत भी सकते हैं। किसी भी आचार-शास्त्र मे ऐसा ही दृष्टिकोण आदर्श आचार का मूलाधार हो सकता है।

प्रवृत्ति
(Volition)

भारतीय आचारशास्त्र में 'प्रवृत्ति' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में किया गया है। कहीं तो यह विषयों के प्रति इन्द्रियो की आसक्ति, कहीं मोक्षमार्ग, तो कहीं इच्छा अथवा संकल्प संचालित मानवीय क्रियाओ का द्योतक है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे 'प्रवृत्ति' शब्द पर दो अर्थों में विचार किया गया है। एक है, 'संकल्पजन्य कृत्य' और दूसरा, मोक्ष का मार्ग। इस अध्याय मे पहले अर्थ में, 'प्रवृत्ति' पर विचार किया गया है। दूसरे अर्थ मे इस विषय पर चौथे अध्याय मे विचार किया जायगा।

पाश्चात्य नीतिशास्त्र की तरह, भारतीय आचार-शास्त्र मे भी नैतिक तथा अनैतिक कार्यों के बीच (Moral and Non-moral actions)

भेद किया गया है। भारतीय आचारशास्त्र के अनुसर भी सभी प्राणियों के सारे कार्य अच्छे या बुरे नहीं कहे जा सकते। वे ही कार्य नैतिक होते हैं, उन्हीं कार्यों को अच्छा या बुरा कहा जा सकता है, जो इच्छा अथवा संकल्प से उत्पन्न होते हो, जिनमें ज्ञान का कुछ भी हाथ रहता है। स्पष्ट है कि पशुओं के कार्य नैतिक नहीं होते। यदि बाघ या दूसरा कोई जानवर किसी-को मार डाले, तो उसके इस काम को बुरा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यह समझा जाता है कि पशुओं मे ज्ञान का अभाव है। अतएव मनुष्यों के कार्यों का ही नैतिक मूल्यांकन (Moral evaluation) हो सकता है; क्योंकि सभी प्राणियो में मनुष्य ही अपना काम ज्ञान की सहायता से करता है; लेकिन मनुष्यों के भी सारे काम ज्ञानप्रेरित नहीं होते। अतएव मूल प्रवृत्यात्मक अथवा सहज क्रियाएँ, जिनमें मानवीय ज्ञान अथवा इच्छा या संकल्प का अभाव रहता है, नीति-शून्य (non-moral) हैं। उन्हें अच्छा या बुरा नहीं कह सकते। प्रशस्तवाद ने मनुष्य के सारे कर्मों का स्थूल दृष्टि से दो वर्गों में विभाजन किया है, जीवनपूर्वक कर्म तथा इच्छाद्वेषपूर्वक कर्म। प्रशस्तपाद के अनुसार जीवनपूर्वक कर्म नीति-शून्य तथा इच्छाद्वेष-पूर्वक कर्म नैतिक हैं।

जीवनपूर्वक कर्म वे हैं, जो मनुष्य की इच्छा अथवा सकल्प के बिना ही स्वयं संचालित होते रहते हैं। जब तक शरीर जीवित रहता है, तब तक ये क्रियाएँ स्वयं ही बिना किसी चेतन प्रयत्न के हुआ करते हैं। स्पष्ट है कि मनुष्य की ऐसी क्रियाएँ, पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ की कोटियो में नही आ सकतीं; क्योंकि इनमें संकल्प का सर्वथा अभाव है। छीकना, शौचादि करना—ये कार्य जीवनपूर्वक कार्य हैं। इन्हें अच्छा या बुरा, शुभ या अशुभ नहीं कहा जा सकता।

इच्छाद्वेषपूर्वक कर्म (Voluntary Action) मनुष्य के संकल्प से उत्पन्न होते हैं। इनमें मनुष्य अपनी चेतना की सहायता लेता है। उन सारे कर्मों को इस कोटि में रखा जाता है, जिन्हें मनुष्य, इष्टप्राप्ति और अनिष्ट-परिहार के निमित्त करता है। इष्टप्राप्ति के निमित्त जो क्रियाएँ होती हैं, वे

इच्छाजनित तथा अनिष्ट-परिहार के हेतु जो कार्य किए जाते हैं, उन्हें द्वेष-पूर्वक कर्म कहते हैं। इन दोनों को मिलाकर ऐसे कर्मों को प्रशस्तपादाचार्य ने इच्छाद्वेषपूर्वक प्रयत्न कहा है।

भारतीय आचार-शास्त्र मे इच्छाद्वेषपूर्वक प्रयत्न या कर्मों को ही दार्शनिक भाषा मे 'प्रवृत्ति' कहा जाता है। चूँकि इन कार्यों को करने में संकल्प अथवा इच्छा का हाथ रहता है, चूँकि वे यो ही, सहज ही नहीं हुआ करते, इसलिए ये नैतिक (Moral) कार्य हैं। इन्हें अच्छा-बुरा, पाप-पुण्य, धर्माधर्म कहा जा सकता है।

'प्रवृत्ति' के स्वरूप के सम्बन्ध में, विभिन्न भारतीय दार्शनिकों में मतभेद है; किन्तु सभी दार्शनिक इसके निम्नस्थ अंगों को एकमत से स्वीकार करते हैं। इनमें से प्रत्येक 'प्रवृत्ति' का सहायक है; अतएव एक के अभाव मे भी कोई कार्य 'प्रवृत्ति' नहीं कहला सकता। कोई भी कार्य 'प्रवृत्ति' कहला सके, इसके लिए इसमें निम्नस्थ चार बातो का समानरूप से होना जरूरी है—

१—कार्यताज्ञान

२—इष्ट साधनता ज्ञान तथा वलवदनिष्टानुवन्धित्वज्ञानाभाव

३—कृति साध्यताज्ञान

४—चिकीर्षा

५—उपादान प्रत्यक्ष।

सर्वप्रथम, प्रवृत्ति में हमे उस कार्य का पूरा ज्ञान रहता है, जिसे हमें करना है। बिना किसी कार्य को जाने हुए हम उसे करने की चेष्टा स्वप्न मे नहीं कर सकते। अतएव प्रवृत्ति की यह सर्वप्रथम अवस्था अथवा शर्त्त है। उदाहरणार्थ बालक उन कार्यों को करने की कभी इच्छा नहीं प्रकट करते, जिनका उन्हें तनिक भी ज्ञान नहीं रहता। जिस कार्य का एक बार भी उन्हे ज्ञान हो जाता है, उसे ही वे करना चाहते हैं। प्रवृत्ति की इस पहली अवस्था को कार्यताज्ञान कहते हैं।

फिर हम तभी कोई काम करना चाहते हैं, जब उस कार्य के विषय मे

हम जानते हैं कि इससे हमारी भलाई होगी। साथ-साथ इससे कोई बुराई होगी, इस ज्ञान का अभाव भी रहता है। दूसरे शब्दो मे हम तभी कोई कार्य करना चाहते हैं, जब हमे उस कार्य के विषय में यह ज्ञान रहता है कि इससे हमारी भलाई होगी तथा यह ज्ञान नहीं रहता कि इससे हमारी बुराई भी होगी। अतएव, प्रवृत्ति की दूसरी शर्त्त या अवस्था वह है, जिसमे हमे किसी कार्य की भलाई करने की शक्ति का ज्ञान तथा उसकी बुराई करने के ज्ञान का अभाव रहता है। इस अवस्था या शर्त्त को इष्ट साधनताज्ञान तथा वलवदनिष्टानुवन्धित्व ज्ञानाभाव कहते हैं।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि इस प्रकार हम वही काम करने में प्रवृत्त होते हैं, जिसकी इष्ट साधनता का ज्ञान तथा अनिष्ट साधनता के ज्ञान का अभाव रहता है, तो फिर बहुत-से लोग यह जानकर भी कि आत्म-हत्या अनिष्ट साधक काम है; क्यों आत्म-हत्या कर डालते हैं? अपना अनिष्ट करने-वाले इन कामो मे कर्त्ता के किस इष्ट का ज्ञान रहता है कि वह अपनी आत्म-हत्या करने को प्रवृत्त हो जाता है?

भारतीय आचार-शास्त्रियो का इन प्रश्नो के उत्तर में यह कहना है कि ऐसी कृतियों मे भी कर्त्ता को अपने इष्ट का ज्ञान अवश्य रहता है। कर्त्ता यह समझता है कि आत्म-हत्या द्वारा कुछ दुःखो से उसकी निवृत्ति हो जायगी। इसकी बात यह भी कि, आवेश के कारण, कर्त्ता अपनी बुद्धि खो देता है और तब यह न जानकर कि आत्म-हत्या उसके लिए अहितकर है, वह आत्म-हत्या कर डालता है। अतएव सभी प्रवृत्ति कर्मों (All volitional acts) मे इष्ट साधनता ज्ञान का भाव अवश्य ही रहता है।

इष्ट साधनताज्ञान के पश्चात् 'कृतिसाध्यताज्ञान' की अवस्था आती है। उपर्युक्त तीन अवस्थाओ या शर्त्तों से ही कोई कार्य प्रवृत्ति नहीं कहला सकता। जब हम जान लेते हैं कि अमुक कार्य करने से हमारी भलाई होगी, तब हम अपनी तरफ भी जरा सोचते हैं कि उस काम को करने की शक्ति हममे है या नहीं। अतएव उपर्युक्त दो अवस्थाओ या शर्त्तों के उपरान्त कृति साध्यताज्ञान का नम्बर आता है।

अमुक कार्य को करने की शक्ति हममे है या नहीं, इसी ज्ञान को कृतिसाध्यता-ज्ञान कहते हैं। भलाई करनेवाले उन कार्यों को हम करना चाहते हैं, जिसे करने की योग्यता या शक्ति हममे रहती है। जिस कार्य को करने की योग्यता हममें नहीं रहती, उसे करने की इच्छा हम स्वप्न में भी नही करते। असम्भव कार्यों को करने की इच्छा कभी नहीं हो सकती। अन्धेरे में, प्रकाश के सभी लौकिक साधनो के अभाव में, हम कदापि सूर्य या चन्द्रमा को पृथ्वी पर लाने की इच्छा नही कर सकते। अतएव कार्य करते समय कृतिसाध्यताज्ञान का भी रहना आवश्यक है; नहीं तो, प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

उपर्युक्त तीन अवस्थाओ के बाद ही कर्त्ता में कोई काम करने की प्रबल इच्छा जाग्रत होती है। काम करने की इस बलवती इच्छा को ही चिकीर्षा कहते हैं। जब हम जान लेते हैं कि अमुक कार्य से हमारी भलाई होगी, अमुक कार्य को करने की शक्ति हममे है, तभी हममें उस काम को करने की बलवती इच्छा जाग्रत होती है। अतएव चिकीर्षा में, इष्टता तथा योग्यता, या शक्ति का पूरा ज्ञान रहता है।

जब कर्त्ता को कोई काम करने की बलवती इच्छा जाग्रत हो जाती है, तब उसे करने के लिए वह साधनो की खोज में लग जाता है। जिन वस्तुओं से इस कर्त्ता के इष्ट साधक कार्य को सिद्धि होती है, उसे ही उपादान कहते हैं तथा उन सारी वस्तुओ के ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। अतएव इष्टसाधक कार्य की सिद्धि के निमित्त; अनुकूल साधनो के ज्ञान को उपादान प्रत्यक्ष कहते हैं।

राग-द्वेष

'प्रवृत्ति' के अध्ययन से यह बात भली-भाँति मालूम हो गई होगी कि हमारी उन सारी क्रियाओं के मूल मे, जिन्हें हम अपनी इच्छा से करते हैं, राग तथा द्वेष हैं। जिन कार्यों से हमें सुख मिलता है, इष्ट सिद्ध होता है। उनके प्रति हमारी आसक्ति रहती है और इसलिए उन्हें हम आवश्यकतानुसार बार-बार भी करते रहते हैं। मनुष्य की इस मानसिक प्रवृत्ति का

नाम राग है तथा जिनसे अनिष्ट होता है, उनके प्रति हमारी घृणा की भावना रहती है और हम उन्हें नहीं करना चाहते। इसे द्वेष कहते हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि रागमूलक क्रियाएँ ही हम करते हैं तथा द्वेषमूलक क्रियाओं से हम सदा दूर हटते रहते हैं।

प्रवृत्ति के आधारभूत राग-द्वेष, इन दो मानसिक प्रवृत्तियों का हमारे शास्त्रकारों ने बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। हमारे शास्त्रकारों का कहना है कि हमारी ज्ञानेन्द्रियों के विषयों में, जिनके ग्रहण द्वारा सुख प्राप्त होता है, मन की आसक्ति को राग कहते हैं। उदाहरणार्थ, सदा स्वादिष्ट भोजन करना, इत्र, सुगन्ध इत्यादि सूँघना, सुन्दर, वाद्यध्वनि इत्यादि सुनना—इत्यादि मानसिक प्रवृत्तियों को राग कहते हैं। ख्याल रहे कि राग विषयों के ज्ञान के पश्चात् ही होता है। एकबार रसगुल्ला खा लेने के बाद ही पुनः रसगुल्ला खाने की प्रवृत्ति को राग कहा जाता है। संक्षेप में अनुकूल वेदनीय विषयों से उत्पन्न सुख-प्राप्ति की मानसिक प्रवृत्तिविशेष को राग कहा जाता है।

इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अनुभूत प्रतिकूल विषयों के प्रति जागरूक घृणा की मानसिक प्रवृत्ति को द्वेष कहा जाता है। दुर्गन्ध, अपशब्द आदि के प्रति हमारे मन की घृणा-भावना रहती है। इसे ही द्वेष कहते हैं। द्वेष होने पर कोई काम नहीं किया जाता। हम दुर्गन्ध से सदा दूर हटना चाहते हैं। गाली बकनेवालों को मार बैठते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञानेन्द्रियों अथवा हमारे शरीर को सुख प्राप्त करानेवाले विषयों के प्रति मानसिक आसक्ति को राग तथा दुःख देनेवाले विषयों के प्रति तथा सक्रिय घृणा-भाव को द्वेष कहा जाता है। संसार में हम जितने भी कार्य करते हैं, सबके मूल में ये ही दो भावनाएँ—राग-द्वेष काम करती हैं।

राग, अपने को, काम, (Sexual appetite), लोभ (Greed), स्पृहा (सांसारिक वैषायिक पदार्थों की प्राप्ति की कामना), तृष्णा (जीने की इच्छा), आदि प्रवृत्तियों द्वारा व्यक्त करती है तथा द्वेष के भी व्यक्त रूप, क्रोध, ईर्ष्या (दूसरों की उन्नति को नहीं देख सकना), असूया (Jealousy अर्थात्

दूसरों के सद्‌गुणों को नहीं मानना), द्रोह (दूसरों को दुःख देने की प्रवृत्ति), अमर्श (दूसरों से बदला लेने की प्रवृत्ति) द्वारा व्यक्त करता है।

हमारे मोक्ष-शास्त्रों का निश्चित अभिमत है कि राग-द्वेष मनुष्य की बड़ी-बुरी प्रवृत्तियाँ नहीं हैं; क्योंकि इनकी उत्पत्ति अज्ञान से होती है। अतएव ये बन्धनकारक हैं। (१) इसीलिए शास्त्रों में, मनुष्य को राग-द्वेष से मुक्त होने के आदेश दिए गए हैं तथा रागद्वेष-युक्त पुरुषों की स्तुति भी की गई है। (२)

---

(१)—गीता ३-३४।
(२)—गीता ४-१०।

तीसरा अध्याय

पुरुषार्थ

पिछले अध्याय में इस विषय की चर्चा की गई है कि मनुष्य अपनी इष्ट-प्राप्ति के निमित्त अनेक प्रकार के कर्म करता रहता है। जिन वस्तुओं से उसे सुख मिलता है, उनके प्रति उसका राग रहता है तथा उनकी प्राप्ति के लिए वह सदा प्रयत्नशील रहता है। जिन वस्तुओं से उसे दुःख प्राप्त होते हैं, उनके प्रति उसका द्वेषभाव रहता है और इसलिए उनकी प्राप्ति की इच्छा मनुष्य को नहीं रहती तथा प्राप्त होने पर भी उन्हें दूर करने की चेष्टा की जाती है। एक तरह से सुखप्राप्ति तथा दुःख-निरोध को ही भारतीय दर्शन में पुरुषार्थ कहा गया है।

भारतीय दर्शन में मनुष्यों के temperament के अनुसार ही पुरुषार्थ का निरूपण किया गया है। यह कहना अनुचित नहीं कि संसार में जितने मनुष्य हैं, उनके जागतिक दृष्टिकोण के अनुरूप भिन्न-भिन्न आदर्श भी हो सकते हैं। इसीलिए यहाँ पुरुषार्थ चार प्रकार के माने गये हैं। वे हैं—धर्म (Moral value), अर्थ (Economic value), काम (Instinctive value) और मोक्ष (Spiritwal value)। स्पष्ट है कि ये चारों मनुष्यों के मानसिक विकास के अनुकूल हैं। इतना ही नहीं, एक ही व्यक्ति के जीवन में ये सारी समस्याएँ आती हैं और उनसबोंमें संतुलित सम्बन्ध बनाये रखते हुए उनकी प्राप्ति के प्रयास का नाम ही पुरुषार्थ है। ये चारों प्रकार के मूल्य अथवा इष्ट सभी मनुष्यों के लिए शुभकर हैं, अतः मानव जीवन की सार्थकता इसीमें है कि व्यक्ति उनकी प्राप्ति के लिए सतत् प्रयत्नशील हो।

इन चारों को हम एक-एक कर देखेंगे—

धर्म (Moral value)

यह शब्द बड़ा ही प्रचलित है। लौकिक व्यवहार से लेकर परमार्थ विषयक वस्तुओं के विषय में धर्म शब्द का प्रयोग होता है। अतएव, धर्म के विभिन्न अर्थ माने गये हैं। इसके पर्याय स्वभाव, कर्त्तव्य, गुण, नियम, न्याय, शील, कर्म आदि हैं। इनके अनुकूल जो काम होते हैं, उन्हें धर्म तथा प्रतिकूल को अधर्म कहा जाता है। अतः यह विचारणीय हो जाता है कि धर्म से क्या समझा जाय। 'धर्म शब्द संस्कृत के' धृञ् धारणे' धातु में मन् प्रत्यय लगाने से बनता है। इस तरह इस व्युत्पत्ति से, इसके भिन्न-भिन्न अर्थ बतलाए गये हैं। शास्त्रों में भी धर्म की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं। (१) ऐसे तो धर्म का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ वह है कि जिससे लोक-धारण किया जाय अथवा जो लोक को धारण करे अथवा जो दूसरों के द्वारा अपने स्वरूप एवं अस्तित्व के रक्षण के लिए धारण किया जाये। (२) महाभारत में भी धर्म का यही लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि प्रजा का जिसके द्वारा रक्षा या धारण किया जाय, उसे ही धर्म कहते हैं। (३)

धर्म की उपर्युक्त दी गई इन सभी परिभाषाओं को देखने से यह शंका उठ सकती है कि धर्म का कोई निश्चित स्वरूप नहीं है। किन्तु, यदि विचार

१—(क) यतोऽभ्युदयनिः श्रेयसिद्धिः सधर्मः—वैशेषिक सूत्र

(ख) वेदोऽखिलो धर्ममूलम्—मनु० (२ । ६)

(ग) चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः—जैमिनि सूत्र १।१।२

२—(क) ध्रियते लोकः अनेन इति धर्मः (जिससे लोक-धारण किया जाय, वही धर्म है)।

(ख) धरति धारयति वा लोकम् इति धर्मः (जो लोक को धारण करे, वह धर्म है।)

(ग) ध्रियते यः स धर्मः (जो दूसरों से धारण किया जाय, वह धर्म है)।

३—धारणाद्धर्म मित्याह धर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥ महाभारत, कर्णपर्व ६९ ।५८।

कर देखा जाय तो हम देखेंगे कि ये परिभाषाएँ बाहर से ही एक दूसरे की विरोधी मालूम पड़ती हैं, वस्तुतः वे एक दूसरे की विरोधी नहीं हैं। उनका वास्तविक तात्पर्य एक ही है और उन सबों से धर्म का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ ही प्रकट होता है। यही अर्थ सभी परिभाषाओं का तात्पर्य है।

सबसे पहले हम कणाद (वैशेषिक) की दी हुई परिभाषा पर विचार करें। पहले ही यह बतलाया गया कि है उनके अनुसार धर्म वह है, जिससे सभी लोगों को इस लोक की सफलता के साथ ही परलोक की सफलता भी प्राप्त हो। इस लोक की सर्वक्षेत्रीय सफलता को ही कणाद 'अभ्युदय' कहते हैं और परलोक की सफलता को 'निःश्रेयस्'।

स्पष्ट है कि 'अभ्युदय' द्वारा उन कर्मों का प्रकाशन होता है, जो हमारे द्वारा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सफलता के निमित्त कर्त्तव्य हैं; क्योंकि उन विभिन्न क्षेत्रों के कर्त्तव्य-पालन द्वारा ही हम इस लोक में सफल हो सकते हैं। इस तरह धर्म का अभ्युदय पक्ष लौकिक सफलता का द्योतक है। इसमें सांसारिक नीति के सारे कर्त्तव्य आ जाते हैं। जसे—राज्य-धर्म (राजा का प्रजा के प्रति), प्रजा-धर्म (प्रजा का राजा के प्रति , देश-धर्म (देश के प्रति कर्त्तव्य), जाति-धर्म (जाति के प्रति), कुल-धर्म (कुल के प्रति) इत्यादि, इत्यादि। इस तरह यदि इन कर्त्तव्यों का पालन किया जाय, तो निश्चय ही मनुष्य को अभ्युदय की प्राप्ति होती है। इतना ही नहीं, मनुष्य को शरीर से भिन्न आत्मा की मुक्ति के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। इसे निःश्रेयस् कहा जाता है। यह हमारी परमार्थ-सिद्धि का द्योतक है। इस तरह हम देखते हैं कि विचार करने पर धर्म हमारा धारक या रक्षक सिद्ध होता है—इस लोक में भी और परलोक मे भी।

धर्म की दूसरी परिभाषा मे बतलाया गया है कि वेदो के द्वारा प्रतिपादित कर्म-समष्टि को ही धर्म कहते हैं। वेदो मे भी उपर्युक्त दृष्टिकोण से ही अनेक क्षेत्रों में हमारे कर्त्तव्यो का विधान किया गया है और उनका फल बतलाते हुए कहा गया है कि उन कर्मों के अनुष्ठान द्वारा हमारी सारी

कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। इस तरह मीमांसा और मनु के अनुसार भी धर्म का वास्तविक अर्थ वही हो जाता है, जो इसके व्युत्पत्तिजन्य अर्थ का है। मनु ने धर्म के कुछ स्थूल लक्षण भी बतलाए हैं, जिनके पालन द्वारा राष्ट्र एवं व्यक्ति के लोक एवं परलोक सबोंकी उन्नति होती है। (१)

इस तरह हम देखते हैं कि विभिन्न परिभाषाओं या अर्थों के होने पर भी धर्म शब्द हमारे सामने कोई समस्या नहीं उपस्थित करता कि इससे हम क्या समझते हैं। हम देख चुके हैं कि धर्म उन कर्मों की समष्टि को कहते हैं, जिनके द्वारा सामाजिक, राष्ट्रीय, नैतिक इत्यादि सभी क्षेत्रों में व्यक्ति तथा समाज की, लौकिक एवं पारलौकिक सिद्धि प्राप्त होती है।

विभिन्न दर्शनों में धर्म का स्वरूप

न्याय-वैशेषिक—न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों की अनुमति में आत्मा के गुणों में से एक गुण धर्म भी है। आत्मा के गुण को धर्म कहते हैं। अतएव इस दर्शन में धर्म विषयगत (objective) नहीं है। इसीलिये इनके अनुसार कोई काम धर्म है अथवा अधर्म, इसका निर्णय कर्त्ता के प्रयोयन (Intention) पर निर्भर है। अच्छा प्रयोयन रहने से कर्मों का फल बुरा रहने पर भी उसे धर्म ही कहेंगे और बुरा रहने से अच्छा फल होने पर भी वह कर्म अधर्म ही कहा जायगा।

मीमांसा—इसके अनुसार धर्म विषयगत (Objective) माना गया है। धर्म उन कर्मों की समष्टि है, जो वेद के द्वारा बतलाये गये हैं। यज्ञ आदि धर्म बताये गये हैं। जिन्हें वेदों द्वारा निषिद्ध बताया गया है, वे अधर्म हैं। इस तरह मीमांसा के अनुसार धर्म या अधर्म मनुष्य के प्रयोजन नहीं, अपितु वेदों द्वारा प्रचालित एवं निषिद्ध कर्म ही हैं।

सांख्य और वेदान्त—इस दृष्टिकोण से धर्म अथवा अधर्म का पुरुष के लिये कोई भी मूल्य नहीं है। इन दोनों ही दर्शनों के अनुसार

१—धृतिःक्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रह :।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधः दशकं धर्म लक्षणम् ॥ मनु०

धर्म-अधर्म का मूल्य प्रकृति के क्षेत्र तक ही सीमित रहता है। पुरुष या आत्मा के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार अज्ञानावस्था तक ही धर्म-अधर्म की मान्यता रहती है। मोक्ष-प्राप्ति के बाद आत्मा धर्म-अधर्म से परे हो जाता है। (१) सांख्य के अनुसार धर्म बुद्धि का विशेष गुण है। पुनः बुद्धि प्रकृति का विकार है; अतः धर्म प्रकृति का विकार है। इस प्रकार सांख्य और अद्वैत वेदान्त के अनुसार धर्म-अधर्म अज्ञानावस्था तक ही सीमित है।

धर्म के प्रकार

ऊपर कहा गया है कि धर्म के द्वारा लोक की रक्षा होती है। इस दृष्टिकोण से ही शास्त्रों में धर्म के अनेक प्रकार बतलाये गये हैं। मनु के अनुसार धर्म दो प्रकार के हैं—सामान्य धर्म और विशेष धर्म। सामान्य धर्म वे हैं, जो सभी मनुष्यों के लिये जाति, दल अथवा अवस्था के भेद पर बिना विचार किये हुये आवश्यक हैं। इसके अन्तर्गत धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध इत्यादि आते हैं। विशेष धर्म वे हैं, जो मनुष्य के जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के दृष्टिकोण से बतलाये गये हैं। वे हैं वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म।

सामान्य धर्म की व्याख्या हम 'सद्गुण' के अध्ययन के सिलसिले में करेंगे। यहाँ सिर्फ वर्ण एवं आश्रम-धर्म की विवेचना की जायगी।

वर्ण-धर्म

हिन्दुओं ने सभी दृष्टिकोणों से समाज की व्यवस्था की है। यह तो सर्वविदित है कि राष्ट्र या समाज की रक्षा के लिये ज्ञान, सैनिक, सम्पत्ति और सेवा परमावश्यक हैं। यह भी ध्यान रहे कि सभी मनुष्य यदि एक ही प्रकार के व्यवसाय करने लगें, तो समाज की स्थिरता कायम नहीं रह सकती। समाज में श्रम-विभाजन अवश्य ही होना चाहिये। इसी दृष्टिकोण से आर्यों ने चार

१—अतः पापमकरवमिति, अतः कल्याणमकरवमिति; उभे उ हैवैष एते तरति, नेनं कृताकृते तपतः। —बृहदारण्यक ४—४—२२।

वर्णों की व्यवस्था की। वे हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। प्लेटो ने भी अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में आदर्श राज्य की चर्चा करते हुये तीन वर्गों की कल्पना की है। ध्यान देने की बात है कि इन दोनो ही मतो मे वर्ण या वर्ग की व्यवस्था कर्म के आधार पर की गई है, न कि जन्म के आधार पर। ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होने पर भी युद्ध-कौशल में प्रवीण व्यक्ति क्षत्रिय वर्ण का कहला सकता है। इसी प्रकार क्षत्रिय कुल मे भी जन्म लेनेवाला ब्राह्मण का कार्य करने पर ब्राह्मण ही माना जायगा। प्राचीन हिन्दू धर्म-शास्त्रों में इसके अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। (१) आजकल वर्ण का आधार कर्म न होकर जन्म होने के कारण ही इतनी अधिक जातीयता बढ़ गई है।

अब हम प्रत्येक वर्ण के धर्म का विचार करेंगे।

ब्राह्मण के धर्म

(२) गीता के अनुसार, अन्तःकरण का निग्रह करना, इन्द्रियो को वश में रखना, तपस्या, बाह्य और आन्तरिक शुद्धि, क्षमा, सरलता, स्वाध्याय, श्रद्धा, अध्ययन-अध्यापन तथा ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करना ब्राह्मण के धर्म हैं। (३)मनुस्मृति में भी ब्राह्मण के जो धर्म बतलाये गये हैं, उनका गीता मे बतलाये गये ब्राह्मण के धर्मों से कोई मौलिक भेद नहीं। मनु के अनुसार, अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना तथा यज्ञ कराना, दान लेना तथा दान देना ब्राह्मण के कर्म हैं।

१—भागवत पुराण—९.२१,१९
महाभारत—अनुशासन पर्व—३०
वाल्मीकि रामायण—बालकाण्ड ५७—६५
गीता—४—१३—१८—४१

२—शमोदमस्तपःशौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम्॥—गीता १८-४२

३—अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मण नामकल्पयत्॥—मनुस्मृति १-८८

क्षत्रियों के धर्म

क्षत्रियो के स्वाभाविक कर्म शूर-वीरता, बल, धैर्य, चतुराई, युद्ध से न भागना, दान देना और स्वामी-भाव हैं। (१)

वैश्य के धर्म

खेती करना, गो-पालन, क्रय-विक्रय, दान देना, यज्ञ करना, वेदाध्यन करना इत्यादि वैश्यो के कर्त्तव्य हैं। (२)

शूद्रों के धर्म

इनके एकमात्र कर्म केवल सभी वर्णों की सेवा करना है। (३)

आश्रम धर्म

जिस तरह चार वर्णों के द्वारा सामाजिक उत्कर्ष के साधनों की रचना की गई, उसी प्रकार वैयक्तिक उत्कर्ष के लिये भी जीवन का चार अवस्थाओं में विभाजन किया गया। उन्हे क्रमशः, ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वाणप्रस्थ और संन्यास आश्रम कहा जाता है। उनमें से प्रत्येक के निम्नलिखित कर्त्तव्य हैं—

ब्रह्मचर्य या विद्यार्थी-जीवन

यह अवस्था जीवन के प्रथम पचीस वर्षों की है। यह वस्तुतः विद्यार्थी-जीवन है। इस जीवन में मनुष्य को पूर्ण ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुये सभी कलाओ और विज्ञानों का अध्ययन करना पड़ता है। गुरुकुल में ही गुरु की छत्रछाया मे उन्हें रहना पड़ता है। नजदीक के गाँव में

१—शौर्य तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।—गीता १८-४३

२—कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्। —गीता १८-४४ पूर्वार्द्ध
पशूना रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेवच।
वणिकपथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च। मनु ८७-८९

३—एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णाना शुश्रूषा मनसूयया॥ मनु० ८७-९०

रहनेवाले गृहस्थो से प्राप्त अन्न पर ही जीवन निर्वाह करना पड़ता है। केवल शास्त्रो का अध्ययन ही नहीं, अपितु ब्रह्मचारी को शुद्धकला भी सीखनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त उसे कुछ समय परमार्थ चिन्तन, अपने तथा गुरु के लिये भिक्षाटन, विविध प्रकारो से उनकी सेवा तथा अपने शरीर को नियमित रूप से आराम करने मे लगाना चाहिये। ऐशो-आराम की सामग्रियो से उसे परहेज रखना चाहिये। गाना, नाचना, झूठ बोलना, गप्प लड़ाना, निन्दा करना आदि त्याज्य माने गये हैं।

गार्हस्थ्य या पारिवारिक जीवन

जीवन के प्रथम पचीस वर्षों में उपर्युक्त नियमो के अनुसार ब्रह्मचर्य जीवन बिताकर मनुष्य को गार्हस्थ्य आश्रम में प्रवेश करना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य का यह पवित्र कर्त्तव्य है कि वयस्क होने पर विवाह कर वह सन्तान-उत्पादन करे और परिवार एवं समाज के दायित्व का भार ग्रहण करे। यह आश्रम अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि ब्रह्मचर्य, वाणप्रस्थ और संन्यास सभी किसी-न-किसी रूप मे इसीपर आश्रित हैं। ध्यान रहे कि हिन्दू-धर्म मे विवाह की संस्था का निर्माण केवल ऐन्द्रिय सुख के लिये ही नहीं किया गया है, वरन् आत्मा एवं व्यक्तित्व की पूर्णता के लिये भी यह आवश्यक है।

गृहस्थ को प्रतिदिन पाँच महायज्ञ करने का विधान किया गया है। देव-यज्ञ, ऋषि यज्ञ, पितृ यज्ञ, निरी यज्ञ और भूत यज्ञ। देव यज्ञ से तात्पर्य है ईश्वर या अन्य देवताओ की आराधना करना, ताकि उनकी कृपा प्राप्त हो। वेदों, उपनिषदो तथा अन्य शास्त्रो के स्वाध्याय को ही ऋषि यज्ञ कहते हैं। स्वर्गीय पितरों को तर्पण देना ही पितृ यज्ञ है। चौथे और पाँचवें यज्ञ का अर्थ है कि मनुष्य सभी प्राणियो की सेवा करे। इसके लिये अनेक प्रकार के लोकोपकार का काम करना, जैसे—सदाव्रत करना, कुँआँ या तालाब खोदना, स्कूल, कालेज, अस्पताल आदि संस्थाओ को कायम करना इत्यादि कर्मों का आदेश किया गया है। पालतू पशुओ को उनकी क्षुधा की निवृति के लिये भी अन्न देना बतलाया गया है।

वाणप्रस्थ या अवकाश-प्राप्त जीवन

यह गार्हस्थ्य के बाद की अवस्था है। गार्हस्थ्य जीवन के सभी कर्त्तव्यों के यथावत् सम्पादन के बाद ही मनुष्य को वाणप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिये। इस अवस्था मे सांसारिक जीवन का त्याग कर पारलौकिक जीवन बिताना चाहिये। जंगल मे एकान्तवास करना ही वाणप्रस्थ कहलाता है। पत्नी की इच्छा रहने पर उसे भी साथ ले जाया जा सकता है। इस अवस्था में प्रार्थना और यज्ञ के द्वारा लोक की सेवा करना मनुष्य का कर्त्तव्य हो जाता है। इसीलिये वाणप्रस्थ आश्रम में भी पाँच महायज्ञो को करने का आदेश दिया गया है। त्याग के अन्य लोकोपकार कर्म भी करने चाहिये। मनुस्मृति में इस अवस्था के यज्ञ, अनवरत स्वाध्याय, तप, समता, मुदिता, दानशीलता, अपरिग्रह, प्रेम और सभी प्राणियो के प्रति दयाभाव आदि कर्त्तव्य बतलाये गये हैं।

संन्यास

यह अन्तिम अवस्था है। वाणप्रस्थ आश्रम स्वतः ही संन्यास आश्रम में परिणत हो जाता है। वस्तुतः वाणप्रस्थ संन्यास आश्रम की ही पूर्वावस्था है। यह पूर्ण त्यागमय अवस्था है। यहाँ सब कुछ त्याग कर केवल ईश्वर में चित्त लगाना पड़ता है। संन्यासी शरीर, इन्द्रिय और जीवन सम्बन्धी सभी विषयों के प्रति आसक्ति से मुक्त होकर बुद्धि की पूर्ण समता प्राप्त करता है।

धर्म और कर्त्तव्य

धर्म यदि एक सामान्य नियम है, तो कर्त्तव्य-परिस्थिति में उसका प्रयोग है। हम भली-भाँति जानते हैं कि सामान्य नियम सार्वभौम (Universal) सामान्य (general) एवं अमूर्त्त (abstract) होने के नाते किसी एक विशेष कार्य को, जो विशेष (particular) एवं मूर्त्त (concrete) होता है, पूर्ण रूप से ढँक ही नहीं सकते। अतः आवश्यक हो जाता है कि सामान्य नियमों को ध्यान में रखते हुये हम विशेष व्यक्तियों की विशेष परिस्थिति पर भी विचार करें। मान लीजिये, किसी निर्दोष व्यक्ति पर एक दुराचारी आक्रमण

करता है। सामान्य धर्म तो अहिंसा है ही ? परन्तु यहाँ अहिंसा के नाम पर जान दे देना पुरुषार्थ नहीं माना जायगा, वरन् उसका यह परम पुनीत कर्त्तव्य हो जाता है कि हिंसा करके ही वह आत्मरक्षा करे। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि समान्य धर्म कुछ है ही नहीं। धर्म में भी परिस्थिति का विचार अवश्य ही किया गया है। तभी तो एक वाणप्रस्थी का धर्म एक संन्यासी अथवा गृहस्थ के धर्म से भिन्न माना जाता है। परन्तु परिस्थितियाँ इतनी विभिन्न होती हैं और व्यक्ति इतने असंख्य कि हर व्यक्ति का हर परिस्थिति पर विचार करना असम्भव हो जाता है। इसीलिये सामान्य नियमों की स्थापना में सामान्य व्यक्तियों की सामान्य परिस्थितियों पर ही विचार किया जाता है। निष्कर्ष यह है कि धर्म और कर्त्तव्य विपरीत नहीं। कर्त्तव्य का अर्थ है कि हम परिस्थिति-विशेष में उस धर्म का यथोचित प्रयोग करें।

इस प्रकार हम धर्म और कर्त्तव्य में निम्नलिखित भेद कर सकते हैं—

१—धर्म सामान्य है और कर्त्तव्य विशेष।

२—धर्म सामान्य परिस्थितियों पर ही आधारित होता है और कर्त्तव्य विशेष परिस्थितियों पर।

३—धर्म, कर्त्तव्य से अपेक्षाकृत कम परिवर्त्तनशील है। कतिपय विद्वानों ने धर्म को अपरिवर्त्तशील माना है। परन्तु यदि ऐसा होता, तो फिर विभिन्न वर्णों एवं आश्रमों के धर्म में अन्तर कैसे होता ? एक ही व्यक्ति जब गृहस्थ होता है, तो उसका धर्म एक प्रकार का होता है और संन्यासी होने पर दूसरे प्रकार का। अतः हम धर्म को अपेक्षाकृत अपरिवर्त्तनशील मानते हैं।

काम

भारतीय दार्शनिकों ने काम को भी एक पुरुषार्थ ही माना है। काम का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है—संकुचित और वृहत्त। संकुचित अर्थ में यौन-वासना की तृप्ति को ही काम कहा जाता है। परन्तु विस्तृत अर्थ में किसी भी प्रकार के ऐन्द्रिक एवं मानसिक सुख को काम कहते हैं। भारतीय विचारकों के इस काम की तुलना हम फ्रायड (Freud) से कर सकते हैं।

इसीलिये काम को 'अनंग' भी कहा जाता है। महाभारत के अनुसार स्त्री, माला, चन्दन, सोना इत्यादि की प्राप्ति से जो प्रसन्नता होती है और उसके निमित्त जो संकल्प होता है, उसे ही काम कहते हैं।(१) इतना ही नहीं, आगे चलकर तो इसका स्वरूप और भी विस्तृत एवं स्पष्ट कर दिया गया है। पाँचो ज्ञानेन्द्रियो, मन और बुद्धि को अपने विषयो में प्रवृत होने के समय जो प्रसन्नता होती है, उसे ही काम कहते हैं।(२) इस प्रकार किसी भी ऐन्द्रिक एवं बौद्धिक सुख को काम की संज्ञा दी जाती है।

अतः काम के अन्तर्गत यौन सुख एवं अन्य प्रकार के ऐन्द्रिक एवं बौद्धिक सुख भी आ जाते हैं। चूँकि मनुष्य का धर्म सुख प्राप्ति है, अतः काम भी उसका पुरुषार्थ हो जाता है।

अर्थ

अर्थ से तात्पर्य है, सम्पति। यह जीवन के लिये कितना आवश्यक है, यह सर्वविदित है। आज के युग में तो यह और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही इसकी वृद्धि एवं उचित वितरण का प्रयास होता आया है। चूँकि धर्म के बिना न तो मनुष्य जी सकता है और न उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास ही सम्भव है, इसीलिये भारतीय विचारकों ने उसे एक पुरुषार्थ मान लिया है। महाभारत मे कहा गया है कि विद्वानों का कर्त्तव्य है कि वे उचित समय पर धर्म, अर्थ और काम, तीनों का सेवन

---

१. द्रव्यार्थ स्पर्श संयोगे या प्रीतिरुप जायते।
स कामश्चित्तसंकल्पः शरीरं नास्य दृश्यते॥
—महाभारत : वनपर्व, ३३ ३०

२. इन्द्रियाणा च पंचाना मनसो हृदयस्य च।
विषये वर्त्तमानाना या प्रीतिरूप जायते॥
स काम इति मे बुद्धिः कर्मणा फलमुक्रमनः
—महाभारत, वनपर्व ३३-३७

करें। (१) परन्तु इसे पुरुषार्थ मानने का यह अर्थ कदापि नहीं कि व्यक्ति अपार धन-राशि इकट्ठा करता जाय। उसे सिर्फ आवश्यकतानुसार ही अर्थ-संचय करना चाहिये।

अतः भारतीय ऋषियों ने वैयक्तिक तथा सामाजिक उत्थान के लिये अर्थ को बहुत ही महत्त्वपूर्ण साधन माना है। इसके बिना आवश्यकताओं की पूर्त्ति सम्भव नहीं।

मोक्ष

हिन्दू दार्शनिकों ने मानव-जीवन को शरीर और आत्मा इन दो पक्षों में विभाजित करके ही चार प्रकार के पुरुषार्थों का निरूपण किया है। अब तो यह भलीभाँति ज्ञात हो चुका है कि धर्म, अर्थ और काम ये तीनों मनुष्य के पार्थिव सुखों के साधन हैं। किन्तु, यह सर्वविदित है कि इन पार्थिव सुखों से मनुष्य कभी शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। इसीलिये हिन्दू-दर्शन में इन मूल्यों को सापेक्ष बतलाया गया है। इतना ही नहीं, ये नश्वर भी हैं। अतएव, बहुत प्रारम्भ मे ही हिन्दू-दार्शनिकों ने बतलाया है कि मनुष्य का चरम लक्ष्य मोक्ष है; चूँकि मोक्ष आत्मा अथवा हमारे शुद्ध स्वरूप का द्योतक है, इसलिये इसे परम-पुरुषार्थ अथवा निःश्रेयस माना गया है। मोक्ष को निःश्रेयस इसलिये कहा जाता है, चूँकि इससे बढ़कर श्रेष्ठ और कोई दूसरा मूल्य नहीं है। हमारे शास्त्रों में बतलाया गया है कि मुक्त मनुष्य जिस आनन्द की प्राप्ति करता है, उससे बढ़कर कोई भी आनन्द नहीं है। इसलिये इसे निरपेक्ष माना जाता है। (२)

१—धर्मं चार्थं च कामं च यथावद् वदतां वर।
विभज्य काले कालज्ञः सर्वान् सेवेत पण्डित ॥
—महाभारत, वनपर्व, ३३—४२

२— यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणा विचाल्यते—
—श्री मद्भगवद्गीता ६—२२

पाश्चात्य विद्वानो ने भी शुभ (Good) को परम शुभ (Highest Good) एवं यान्त्रिक शुभ (Instrumental Good) में विभाजित किया है। चूँकि मोक्ष किसी अन्य शुभ का साधन नहीं, वरन यह स्वतः ही शुभ है, अतः इसे परम शुभ, निःश्रेयस अथवा परम-पुरुषार्थ माना गया है।

जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति

मोक्ष इस जीवन में प्राप्त होता है या मरने के बाद, इस विषय मे भारतीय दार्शनिको मे मतभेद है। बौद्ध, सांख्य तथा अद्वैत वेदान्ती मानते हैं कि इस जीवन में भी बुद्धि की समता प्राप्त हो जाने पर मनुष्य मुक्त हो जाता है। इसे जीवन मुक्ति कहते हैं। किन्तु, वैष्णव वेदान्तियो तथा नैयायिकों के अनुसार मोक्ष शरीर त्यागने के बाद ही प्राप्त हो सकता है। अपने विरोधियों का खण्डन करते हुये वैष्णव दार्शनिक कहते हैं कि जब तक शरीर रहेगा, तब तक मनुष्य नाना प्रकार के द्वन्द्वों से अवश्य घिरा होगा। बौद्धिक समता प्राप्त होने पर भी उसे शारीरिक दुःख अवश्य उठाने पड़ेंगे। अतएव, विशुद्ध सुख मरने के बाद ही प्राप्त हो सकता है। वैष्णवो के इस सिद्धान्त को विदेह मुक्त कहते हैं।

मोक्ष का स्वरूप

मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में भारतीय दार्शनिको मे मतभेद है। यहाँ हम कतिपय दार्शनिकों के मतों पर विचार करेंगे।

न्याय वैशेषिक—इनके अनुसार मोक्ष की अवस्था दुःख की निवृति की अवस्था है। सभी दुःखों की निवृति को ही 'अपवर्ग' कहा जाता है। नैयायिकों के मत में ऐसा कोई सुख नहीं है, जो दुःखमिश्रित न हो। इसीलिये इनका मोक्ष अभावात्मक (Negative) है। अर्थात् मोक्ष की अवस्था में सुख की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु दुःख की निवृत्ति मात्र होती है। इस अवस्था में आत्मा सुःख-दुख ही नहीं, अपितु सारे अनुभवों से मुक्त हो जाता; क्योंकि नैयायिकों के अनुसार सभी अनुभवों में कुछ-न-कुछ दुःख अवश्य रहता है,

अतः इनके मत में मोक्ष की अवस्था अनुभवातीत अवस्था है। अनुभवहीन होकर आत्मा बहुत कुछ चेतनाहीन पत्थर से मिलता-जुलता है। बौद्धों के मोक्ष से इस अर्थ मे नैयायिकों का मोक्ष मिलता-जुलता है। अन्तर दोनो में इतना ही है कि बौद्ध आत्मा में विश्वास करते है। नैयायिक जीवन-मुक्ति में नहीं विश्वास करते; क्योंकि जीवन रहने पर अनुभव होगा ही, जिसके फलस्वरूप दुःख कभी दूर नहीं हो सकते। अतः अनुभवातीत अवस्था ही मोक्षावस्था है।

सांख्य-योग— न्याय वैशेषिक की तरह साख्य-योग का मोक्ष-सिद्धान्त भी अभावात्मक है। पहले के समान साख्य-योग के अनुसार भी मुक्त आत्मा में सारे दुःखों का अभाव रहता है। किन्तु, यह आत्मा को चैतन्य-स्वरूप मानते हैं; अतएव, मोक्षावस्था में मुक्तात्मा को यह ज्ञान रहता है कि वह मुक्त है और पहले वह बद्ध था। प्रकृति के सारे विकारो से आत्मा मुक्त हो जाता है। यह सुख-दुःख दोनो से परे को स्थिति है।

वेदान्त—इसके अनुसार आत्मा सत्, चित्, आनन्द है। अतएव, यहाँ अन्य उपर्युक्त दार्शनिक मतो की अपेक्षा अधिक भावात्मक (Position) मोक्ष का सिद्धान्त पाया जाता है। ज्ञान प्राप्ति ही मोक्ष है। आत्मा स्वभावतः सदा से मुक्त होता है। इसकी इस स्वाभाविक मुक्ति के अज्ञान को ही बन्धन कहा जाता है। जब आत्मा को अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तो इसके सारे दुःख केवल नष्ट ही नहीं हो जाते; बल्कि अक्षय सुख की प्राप्ति भी हो जाती है। अक्षय सुख की इस प्राप्ति को ही मोक्ष या निःश्रेयस कहा जाता है। मनुष्य के जीवन-काल मे भी मोक्ष पाया जा सकता है; क्योंकि ज्ञान ही का दूसरा नाम मोक्ष है। इसे जीवन मुक्ति कहा जाता है। मृत्यु-उपरान्त इसी अवस्था को विदेह मुक्ति कहा जाता है। अतः वेदान्त के मत में मोक्षावस्था आनन्द की अवस्था है।

चौथा अध्याय

मोक्ष-साधन

तीसरे अध्याय में हमने पुरुषार्थ का विवेचन किया। हम भली-भाँति देख चुके हैं कि मोक्ष ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ अथवा निःश्रेयस है। यही मनुष्य मात्र का परम लक्ष्य होना चाहिये। परन्तु प्रत्येक लक्ष्य या आदर्श-प्राप्ति के मार्ग या साधन भी होते हैं। भारतीय विचारकों ने मोक्ष-प्राप्ति के निम्न-लिखित साधन बतलाये हैं :—

१—विवेक

२—शास्त्र

३—संयम

४—प्रवृति

५—निवृति

६—निष्काम कर्म

ध्यान देने की बात है कि ये सभी साधन एक दूसरे के विरोधी नहीं, वरन् एक ही आदर्श-प्राप्ति के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। प्रस्तुत अध्याय में हमें इन्हीं में से प्रत्येक की व्याख्या करनी है।

विवेक

भारतीय दार्शनिकों ने मोक्ष-प्राप्ति के निमित्त तत्वज्ञान को अत्यावश्यक माना है। सर्वविदित है कि परमार्थ की बात तो दूर रहे, लौकिक व्यवहारों में भी वही सफल होता है, जिसे अपने वातावरण का पूरा ज्ञान हो। भारतीय विचारकों ने इसलिये दुःखों से निवृति के लिये तत्त्वज्ञान को अनिवार्य बतलाया

है। हम अज्ञान के कारण अपने स्वरूप को भूल जाते हैं। आत्मा और शरीर में भेद नहीं कर पाते। इसीलिये अनेक प्रकार के राग, द्वेष, कलह, पाप इत्यादि बन्धनकारक प्रवृत्तियों में लगे रहते हैं। फलस्वरूप न हमारा अपना कल्याण होता है, न समाज या राष्ट्र का। इसलिये हमे शरीर और आत्मा, पुरुष और प्रकृति, अनित्य तथा नित्य सबों के भेद को जानना चाहिये। इसी ज्ञान को विवेक कहते हैं।

ध्यान देने की बात है कि चार्वाक को छोड़कर बौद्ध, जैन, सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, वेदान्त आदि सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने अविद्या या अज्ञान को ही बन्धन का कारण मानकर, इसकी निवृत्ति विवेक या ज्ञान द्वारा ही बतलायी है। शंकराचार्य का 'ज्ञान' भी विवेक से मूलतः भिन्न नहीं है। किन्तु यह विवेक हमारी मानसिक शक्ति से किसी भिन्न शक्ति का व्यापार नहीं है। अतः हम कह सकते हैं कि विवेक हममें एक ऐसी शक्ति है, जो सत्-असत् में भेद कर हमे मोक्ष-प्राप्ति के लिये तैयार करती है।

यहाँ विवेक और पाश्चात्य दर्शन के अन्तःकरण (Intuition) के भेद को समझ लेना आवश्यक है। पाश्चात्य अन्तःकरणवादियों के अनुसार विवेक अन्तःकरण का व्यापार है। यह एक प्रकार की छठी ज्ञानेन्द्रिय है, जो उचित-अनुचित, पाप-पुण्य आदि में भेद करनेवाली एकमात्र शक्ति है। यह अन्य मानसिक व्यापारों से बिल्कुल ही भिन्न है। इसका विवेचन हम 'अन्तःकरणवाद' के अध्ययन के सिलसिले में कर चुके हैं। भारतीय विचारकों के अनुसार विवेक एक प्रकार का मानसिक व्यापार ही है; उससे स्वतन्त्र नहीं। एक ही मन ज्ञान अर्जन करते समय मनस् कहलाता है और फिर उचित-अनुचित, सत-असत् आदि में भेद करते समय बुद्धि की संज्ञा ग्रहण करता है। इसी बुद्धि की क्रिया का नाम विवेक है।

इस प्रकार पाश्चात्य एवं भारतीय विचारकों में अन्तर है कि जहाँ पहले के अनुसार विवेक मानसिक व्यापार से भिन्न है, वहाँ दूसरे के अनुसार यह एक प्रकार की मानसिक क्रिया ही है।

शास्त्र

संस्कृत के 'शास्' धातु से शास्त्र शब्द बना है। अतएव इसका अर्थ हुआ शासन करनेवाला। वे सभी ग्रन्थ शास्त्र कहलाते हैं, जो मनुष्यों की हित-साधना के लिये उनपर शासन करते हैं। शास्त्र लौकिक तथा पारलौकिक सभी क्षेत्रों में हमारी कष्ट-सिद्धि के लिये नाना प्रकार के उपाय बतलाते हैं। शास्त्रों द्वारा ही हम परमार्थ में भी अग्रसर हो सकते हैं। अज्ञानी पुरुषों के लिये तो शास्त्र ही सब कुछ हैं। ज्ञान-प्राप्ति के बाद भले ही विवेक द्वारा हम कार्य-अकार्य, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म आदि का निर्णय कर लें, परन्तु जबतक हमें ऐसी अवस्था प्राप्त नहीं हुई है, हमें शास्त्रों के अनुसार ही चलना चाहिये। गीता में कहा गया है कि कार्य तथा अकार्य के निर्णय के लिये शास्त्र ही प्रमाण हैं। शास्त्रों के विधान को जानकर ही संसार में कर्म करना चाहिये। (१)

कतिपय आलोचकों का कहना है कि शास्त्र उचित मापदण्ड नहीं हो सकता; क्योंकि यहाँ बुद्धि-प्रयोग की गुंजायश नहीं है, जिसके फलस्वरूप अन्धविश्वास फैलता है। परन्तु यह विचार उचित नहीं जान पड़ता। सर्व-प्रथम शास्त्र और विवेक में विरोध नहीं है। शास्त्रों के अध्ययन करने पर विवेक द्वारा कर्त्तव्य-निर्धारण का कोई भी खण्डन नहीं करता। विवेक तो मनुष्य की जन्मजात शक्ति है। उसका प्रयोग तो हर समय होना ही चाहिये। शास्त्र यह कदापि नहीं कहता कि विवेक का प्रयोग न किया जाय, दूसरी बात है कि शास्त्र तो उनके लिये है, जिन्हें विवेक द्वारा सही ज्ञान की प्राप्ति न हुई हो। यदि विवेक की शक्ति किसीमें न हो, तो फिर उसके लिये शास्त्र से उत्तम साधन क्या हो सकता है? अतः यह आलोचना उचित नहीं है।

१—तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्तुमिहार्हसि॥
—श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १६, श्लोक २४।

संयम

मनुष्य मे दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं—इन्द्रियानुगामी और बुद्ध्यानुगामी। पहली अवस्था मे व्यक्ति इन्द्रियो के वश में होकर ऐन्द्रिक सुख के पीछे दौड़ता रहता है। यहाँपर उसकी इच्छाएँ अपरिमित होती हैं जिनके फलस्वरूप वह कष्ट भोगता है। मनुष्य होने के नाते उसकी शक्तियाँ सीमित होती हैं। इसके कारण वह अपनी सभी इच्छाओं की पूर्त्ति नहीं कर सकता। फलस्वरूप उसे निराशा होती है और उसका जीवन भार-सा बन जाता है। ऐसी परिस्थिति में बुद्धि ही उसका सहारा बनती है। वह सोचता है कि इन्द्रियो को वश मे रखना ही उसका कर्त्तव्य होना चाहिये। जितनी कम उसकी इच्छाएँ होगी, उसी मात्रा में उसे निराशा भी कम होगी। बुद्धि द्वारा इन्द्रियो एवं मन पर इस नियन्त्रण को ही संयम कहते हैं। हमने अभी देखा हैकि सिर्फ मोक्ष प्राप्ति के लिये ही नहीं, वरन् लौकिक व्यवहारो के लिये भी संयम की बड़ी आवश्यकता है।

प्लेटो ने भी माना है कि इन्द्रियो पर बुद्धि का नियन्त्रण आवश्यक है। काण्ट तो इन्द्रियों को नाश ही कर देना चाहता है। परन्तु यह उसकी भूल है। इन्द्रियाँ बेकार नहीं, जीवन में उनकी भी सार्थकता है। आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि वे बेलगाम न हो जायँ। उनकी बागडोर बुद्धि के हाथो मे होनी चाहिये। उपनिषदो में भी इन्द्रियो पर नियन्त्रण अथवा संयम की चर्चा की गयी है। (१) अतः संयम भी मोक्ष-प्राप्ति का एक मार्ग है।

१—आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

—कठोपनिषद् प्रथमाध्याय, तृतीयवल्ली।

प्रवृत्ति

भारतीय दर्शन में जीवन के प्रधानतया तीन मार्ग बतलाये गये हैं—प्रवृत्ति मार्ग, निवृत्ति मार्ग और कर्मयोग मार्ग या निष्काम कर्म। प्राचीन काल से ही, साथ ही साथ, ये तीनों ही मार्ग माने गये हैं। प्रवृत्ति मार्ग मीमांसकों द्वारा उपदिष्ट हुआ है। इनके अनुसार मनुष्य का चरम आदर्श स्वर्ग-प्राप्ति है। अतएव इस लोक में तथा परलोक में सुख-प्राप्ति के निमित्त उन सारे कर्मों को करना आवश्यक है, जो वेदों में, कल्पसूत्रों में, गृहसूत्रों में बतलाये गये हैं। इस प्रकार पुत्र-प्राप्ति, स्वर्ग-प्राप्ति, राज्य-प्राप्ति इत्यादि के लिये अनेक प्रकार के यज्ञों का विधान किया गया है। इन सभी कर्मों को काम्य कर्म (Desire-prompted action) कहा जाता है। इसके अतिरिक्त नित्य और नैमित्तिक कर्म भी मनुष्य को करने चाहिये। जैसे—संध्या-वन्दन करना नित्यकर्म है। भले ही इनकी प्राप्ति से पुण्य प्राप्त न हो, तथापि आने-वाले पाप दूर हट जाते हैं। नित्य कर्मों के करने का यही फल है। नैमित्तिक कर्म निमित्त या विशेष अवसरों पर ही किये जाते हैं। जैसे—उपनयन, विवाह आदि अवसरों पर किये जाने वाले कर्म नैमित्तिक कर्म कहलाते हैं। इस प्रकार शास्त्रों में बतलाये गये इन सभी प्रकार के कर्मों का करना आवश्यक है। पहले के मीमांसकों के अनुसार इन कर्मों के करने से स्वर्ग ही मिलता है; परन्तु बाद के मीमांसकों के अनुसार बिना किसी स्वार्थ की भावना से इन कर्मों के करने से मोक्ष-प्राप्ति होती है। प्रतिसिद्ध (Forbidden) कर्मों को नहीं करना चाहिये। शंकराचार्य के अनुसार भी प्रवृत्ति-मार्ग का कुछ मूल्य अवश्य है। जीव तक अज्ञान की अवस्था में रहता है, उसे शास्त्रों में बतलाये गये सारे विहित कर्मों को करना चाहिये और प्रतिसिद्ध कर्मों से अलग रहना चाहिये, क्योंकि उनके द्वारा चित्त-शुद्धि होती है, जो ज्ञान के लिये अत्यावश्यक है।

उपर्युक्त विवरण से यह बात स्पष्ट है कि प्रवृत्ति मार्ग का सम्बन्ध राग-द्वेष से है। मनुष्य पुण्य या पाप के दृष्टिकोण से ही अनेक प्रकार के कर्मों

को करता है, जिनका फल सुख या दुःख प्राप्ति में होता है। सुख प्राप्तिवाले कर्मों के प्रति उसका राग होता है और दुःख-प्राप्तिवाले कर्मों के प्रति द्वेष।

निवृत्ति

जीवन का दूसरा मार्ग निवृत्ति या संन्यास मार्ग बतलाया गया है। इस मार्ग के अनुसार जीवन का चरम सत्य एकमात्र ब्रह्म है। ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या है। तथापि व्यावहारिक दृष्टिकोण से विश्व की सत्यता है। जब तक इसकी असत्यता ज्ञात न हो जाय, हमें कर्मों को करते रहना चाहिये। इसी कारण शंकर ने व्यावहारिक और पारमार्थिक दृष्टिकोणों से विश्व को देखते हुए प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनो ही मार्गों को ठीक माना है। अज्ञानावस्था में तो प्रवृत्ति-मार्ग ही ठीक है; क्योंकि यहाँ विश्व पूर्णतया सत्य प्रतीत होता है। किन्तु ज्ञान-प्राप्ति के बाद जब ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य चीजे माया-मात्र हो जाती हैं, तो मनुष्य के लिये उचित है कि वह सब कुछ छोड़कर एकमात्र ब्रह्म का ही चिन्तन करे। विश्व के प्रति उदासीन हो जाने का ही नाम संन्यास अथवा निवृत्ति-मार्ग है।

अतएव निवृत्ति मार्ग के अनुसार संसार मिथ्या एवं अनित्य है। इसलिये सारे कर्म भी अनित्य हैं तथा उनका ज्ञान से विरोध है। शंकर ने अपने भाष्य ग्रन्थों में अनेक स्थलो पर कर्म और ज्ञान की तुलना क्रमशः अन्धकार और प्रकाश से की है। (१) चूँकि उनके फल बिलकुल एक-दूसरे से भिन्न हैं, अतएव ज्ञानावस्था में कर्म उपयुक्त नहीं माने जा सकते।

ज्ञान और कर्म के अन्तर को बतलाते हुये शंकर ने कहा है कि जीवन का लक्ष्य एकमात्र ब्रह्म-प्राप्ति है। अतएव कर्म द्वारा इसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। कर्मों के द्वारा तो सासारिक सुख ही प्राप्त होते हैं। इसलिये मोक्ष-प्राप्ति का एकमात्र साधन ज्ञान ही है। पुनः कर्म का सम्बन्ध उन वस्तुओं

१—नहि तमःप्रकाशयोः युगपदेकत्रस्थितिः सम्भवति।

—मुण्डकोपनिषद् शांकरभाष्य ३।१४

के साथ है, जो उत्पन्न (Produced) हैं; किन्तु वह तो सर्वदा वर्त्तमान है। अतः उसकी प्राप्ति के लिये कर्म की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार निवृत्ति मार्ग के अनुसार ज्ञान-प्राप्ति के बाद मनुष्य का कोई कर्त्तव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता। ज्ञान रूपी अग्नि ज्ञानी के सारे कर्मों को भस्मसात् कर डालती है।(१) वह सांसारिक कर्मों से मुँह मोड़ लेता है।

निष्काम कर्म

कर्त्ता की बुद्धि के दृष्टिकोण से कर्म दो प्रकार के हैं—सकाम और निष्काम। कुछ लोगोंकी अनुमति में जीवन का एकमात्र लक्ष्य सांसारिक सुखों की प्राप्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। ऐसे लोग धन, स्वास्थ्य, शक्ति, यश आदि की प्राप्ति के निमित्त तथा दीनता, बीमारी, निर्बलता, अयश आदि की निवृत्ति के लिये ही कर्म करते हैं। ऐसे कर्म, जिनके एकमात्र उद्देश्य सुखद वस्तुओं के प्रति राग एवं दुःखद वस्तुओं के प्रति विराग या द्वेष होते हैं, उन्हें सकाम कर्म कहा जाता है। प्रवृत्ति मार्ग सकाम कर्म का ही मार्ग है।

भले ही सांसारिक अभ्युदय के लिये प्रवृत्ति मार्ग आवश्यक है, तथापि जब तक कर्त्ता की बुद्धि संस्कृत न हो जाय, ऐसे मार्ग द्वारा व्यक्ति का ह्रास भी सम्भव है। गीता में बतलाया गया है कि कर्मों के करने में यदि कर्त्ता केवल राग-द्वेष-द्वारा ही संचालित हो, तो यह हो सकता है कि उसका मति-विभ्रम हो जाय और अन्ततोगत्वा उसका सर्वनाश हो जाये। (१) ऐसे कर्मों से मनुष्य की सारी शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। इसलिये नैतिकता के दृष्टि-कोण से सकाम कर्म निम्न कोटि का है।

निष्काम कर्म के अध्ययन के पूर्व हम निवृत्ति-मार्ग को भी देख लें।

१—यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ४–३८

१—गीता २/४१-४२७, ६१-६३, ६६।

यद्यपि यह ठीक है कि वैयक्तिक तथा राष्ट्रीय विकास के लिये राग-द्वेष (प्रवृत्ति) से मुक्ति पाना आवश्यक है; फिर भी, सांसारिक कर्मों से बिल्कुल विमुख ही हो जाना उचित नहीं जान पड़ता। यह ठीक है कि प्रवृत्ति मार्गानुगामी अपने सिद्धान्त का पुष्टिकरण करते हुये यह बड़ी गलती करते हैं कि सभी कर्मों का मूल राग-द्वेष ही मानते हैं; क्योंकि यदि स्वार्थ की भावना से ही प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मों को करे, तो कभी भी न तो व्यक्ति का विकास हो सकता है और न राष्ट्र का ही। अतएव कर्मों के करने में त्याग की भावना आवश्यक है। निवृत्ति-मार्ग त्याग की भावना पर जोर अवश्य डालता है; परन्तु यह भी इस कारण दोषपूर्ण है कि ज्ञान-प्राप्ति के बाद यह कर्म करना बिल्कुल अनावश्यक बतलाता है। यदि निवृत्ति-मार्ग ही जीवन का आदर्श हो और प्रत्येक व्यक्ति उसी पर चलने लगे, तो फिर संसार का चलना ही असम्भव हो जायगा।

प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग की इन्हीं कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुये निष्काम कर्म ने बीच का रास्ता लिया है। निष्काम कर्म-मार्ग के अनुसार अज्ञानावस्था की बात तो दूर रहे, ज्ञान प्राप्ति के बाद भी लोक-कल्याण के निमित्त स्वार्थरहित होकर कर्मों के फल के प्रति अनासक्त होकर सारे कर्म करने चाहिये। गीता में निष्काम कर्म के पक्ष में निम्नलिखित युक्तियाँ दी गई हैं :—

१—निवृति मार्ग के अनुसार ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् हमें कुछ भी नहीं करना चाहिये; परन्तु निष्काम कर्म के अनुसार यह सम्भव ही नहीं कि शरीर के रहते हुये कर्म से पूर्णतया छुटकारा मिल सके। मनुष्य एक क्षण भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। इसलिये मनुष्य को कर्म करते रहना चाहिये।

२—निवृत्ति मार्ग का कहना है कि कर्मों से इच्छा तथा राग द्वेष को प्रेरणा मिलती है, जिसके कारण दुःख और बन्धन होते है। कर्मयोग या निष्काम कर्म-मार्ग मानता है कि कर्म स्वयं बन्धनकारक नहीं है। हमें कर्मों को शुद्ध बुद्धि से करना चाहिये। ऐसे बहुत सारे कर्म या राग-द्वेष से रहित

होते हैं, संसार में किये जाते हैं। जैसे—कुँए-तालाब खुदवाना, स्कूल-कालेज आदि स्थापित करना।

३—संन्यास अथवा निवृत्ति मार्ग का विश्वास है कि कर्मों का एकमात्र उद्देश्य चित्त-शुद्धि है। जब तक चित्त-शुद्धि न हो, कर्म करना चाहिये। निष्काम कर्म के अनुसार चित्त-शुद्धि के बाद भी कर्म आवश्यक है। कर्म छोड़े नहीं जा सकते।

४—निवृत्ति मार्ग के अनुसार चूँकि शरीर की स्वाभाविक आवश्यकताओं के प्रति उदासीनता नहीं हो सकती, इसलिये ज्ञान-प्राप्ति के बाद भी जीवन-यात्रा के लिये भिक्षाटन अनुचित नहीं है। लेकिन निष्काम कर्म के अनुसार भिक्षाटन भी एक प्रकार का कर्म ही है और वह भी अपमानजनक। यदि ऐसे हीन कर्म किये जायें, तो क्यों नहीं सारे काम स्वार्थरहित होकर किये जायँ? इसके अतिरिक्त यदि गृहस्थाश्रम को दूर कर दिया जाय और सभी संन्यासी हो जायँ, तो फिर संन्यासियों को भिक्षा कौन देगा?

५—संन्यास मार्ग केवल व्यक्तिगत मुक्ति पर जोर लगाता है; इसीलिये उनका कहना है कि ज्ञान-प्राप्ति के बाद मनुष्य के अपने कल्याण के लिये कोई भी कर्त्तव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता। इसके विपरीत यद्यपि कर्मयोगी के लिये अपनी स्वार्थपूर्त्ति के हेतु कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है; फिर भी, लोक-कल्याण के लिये वह सारे सांसारिक कर्म करता रहता है। इस सिलसिले में यह ज्ञात है कि श्रीकृष्ण, जनक आदि बड़े ब्रह्मज्ञानी लोक-कल्याण के लिये सदा सांसारिक कर्म करते रहे।

इन्हीं सभी युक्तियों के आधार पर गीता निष्काम कर्म को जीवन का सर्वोच्च आदर्श मानती है। इस प्रसंग में गीता का निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है, जिसमें कर्म-योग के सारे रहस्य निहित हैं:—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

इसका अर्थ है कि मनुष्य का केवल कर्म करने में ही अधिकार है, कर्मों की फल-प्राप्ति के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहना चाहिये। इसलिये

मनुष्य को अपने किये हुये कर्मों के फल में अपने को हेतु नहीं मानना चाहिये, अतएव कर्म करने मे किसी प्रकार की आसक्ति नहीं होनी चाहिये।

ध्यान देने पर स्पष्ट हो जायगा कि उपर्युक्त उदाहरण मे चारो सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। सर्वप्रथम, बतलाया गया है कि मनुष्य को केवल कर्म करते रहना चाहिये। लेकिन कर्मों के साथ फलो का अटूट सम्बन्ध है। इसलिये यह शंका हो सकती है कि कर्म करनेवाले का फल मे भी आवश्यक रूप से अधिकार हो। दूसरे सिद्धान्त मे जो श्लोक के पूर्वार्द्ध का अन्तिम अंश है, इस शंका का निवारण करते हुये बतलाया गया है कि यद्यपि मनुष्य कर्म करे, तथापि उसके फलों के प्रति उसकी तनिक भी आसक्ति न रहने पाये। लेकिन इससे भी एक भयंकर परिणाम हो सकता है। लोगों में यह धारणा हो सकती है कि तब तो कर्म करना सम्भव ही नहीं है। इस शंका का निवारण उत्तरार्द्ध के प्रथम अंश मे किया गया है। वहाँ कहा गया है कि कर्म के फल में मनुष्य स्वयं अपने को हेतु न समझे, फल-प्राप्ति के लिये कर्त्ता के अतिरिक्त अन्य भी कारण हो सकते हैं।(१) अतएव अकर्म (कर्म नहीं करना) मे बिना प्रवृत्त हुये फलाशरहित होकर मनुष्य को कर्म करते रहना चाहिये।

सारांश यह है कि "कर्म करते रहना चाहिये" इस कथन का यह अर्थ कदापि नहीं कि वह उन कर्मों के फल की आशा भी करे और विपरीततः कर्मों के फल की आशा के त्याग का यह कदापि अर्थ नहीं कि कर्म ही नहीं किये जायें। अनासक्त भाव से कर्म करने का नाम ही निष्काम कर्म है।

गीता और काण्ट के सिद्धान्तों की तुलना

गीता में प्रतिपादित निष्काम कर्म काण्ट के सिद्धान्तों से सादृश्य रखता है। सर्वप्रथम हम दोनों ही मतो की समानताओं की ओर देखेंगे।

१—अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं चैव पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टाः दैवं चात्र पंचमम्॥

—गीता १८—१४

१—गीता और काण्ट दोनो ही ने कर्मों के मूल्यांकन का आधार कर्म-फल न मानकर कर्त्ता की बुद्धि को ही माना है। इस प्रकार दोनों का उपयोगितावादी विचारकों से मतभेद है। उपयोगितावाद के अनुसार कर्मों का औचित्य उनके फल अथवा उपयोगिता पर ही निर्भर होता है। परन्तु गीता एवं काण्ट के अनुसार कर्मों का औचित्य फल या उपयोगिता पर आधारित न होकर बुद्धि ही पर होता है। जो कर्म तर्क-संगत या बुद्धि-जन्य हों, वे ही करने योग्य हैं।

२—दोनों ही ने माना है कि इन्द्रियो को बुद्धि के नियन्त्रण मे रहना चाहिये। फिर भी दोनों में अन्तर है, जिसे हम असमानताओं के सिलसिले में देखेंगे।

३—दोनो ही ने "कर्त्तव्य-कर्त्तव्य के लिये" मत का ही प्रतिपादन किया है। इसका अर्थ है कि कर्त्तव्य करते समय हमे फल का विचार नहीं कर कर्त्तव्य पालन के लिये उसे करना चाहिये। हम कोई कर्म इसलिये न करें कि उससे अच्छा या बुरा फल मिलनेवाला है। वरन् पूर्णतया अनासक्त भाव से अपना कर्त्तव्य समझकर ही उसे करें।

४—दोनो ही में लोक कल्याण की भावना निहित है। काण्ट के अध्ययन के सिलसिले मे हमने देखा है कि व्यक्ति का क्या कहना है, राज्य को भी यह अधिकार नहीं कि वह व्यक्ति को अपने हित का साधन बनाये। इसलिये वह मानता है कि विश्व में आदर्शों का साम्राज्य, है जहाँ हर व्यक्ति आदर्श ही है। इसी तरह निष्काम कर्म के अनुसार भी ज्ञानी पुरुष को कर्म करने की आवश्यकता इसीलिये बताई जाती है कि उन कर्मों के द्वारा लोक-कल्याण हो सके।

इन समानताओं के रहते हुये भी दोनों मतों मे निम्नलिखित असमानताएँ भी हैं। वे हैं—

१—बुद्धि की महत्ता दोनो द्वारा स्वीकार किये जानेपर भी जहाँ काण्ट जीवन मे इन्द्रियो का कुछ स्थान ही नही मानता है, वहा गीता का सिर्फ यही कहना है कि इन्द्रियो को बुद्धि के नियन्त्रण में रहना चाहिये। इसके अनुसार इन्द्रियो का भी जीवन मे समुचित स्थान है। गीता में जगह-जगह

इन्द्रियों का दमन कर इष्ट-प्राप्ति की आशा करने वाले को पापी कहा गया है तथा यह भी बतलाया गया है कि इन्द्रियों के दमन करने से योग की प्राप्ति नहीं होती। (१)

२—काण्ट का मत पूर्णतया आकारिक (Formal) है। उसमें विशेष नैतिक आदर्शों का अभाव है। परन्तु गीता में व्यक्तियों के लिये विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल विभिन्न आचरणों का भी विधान किया गया है। अतः जहाँ काण्ट का मत सिर्फ सैद्धान्तिक है, वहाँ गीता का मत व्यावहारिक भी है।

३—काण्ट के अनुसार नैतिकता के क्षेत्र में नैतिक नियम ही एकमात्र आदर्श हैं। उनका पालन ही हमारा आदर्श है। परन्तु गीता के अनुसार ब्रह्म-ज्ञान अथवा मोक्ष-प्राप्ति हमारा आदर्श है, जिसके लिये नैतिक कर्म आदि साधन मात्र हैं। अतः जहाँ काण्ट मे 'नैतिक नियम' ही चरम आदर्श है, वहाँ गीता की दृष्टि में ब्रह्म-ज्ञान अथवा मोक्ष-प्राप्ति हमारा आदर्श है।

१—(क) नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥

—गीता ६—१६।

(ख) अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसमायुक्ताः पतन्ति नरकेऽशुचौ॥

—गीता १७—५।

पाँचवाँ अध्याय

भारतीय नैतिक प्रत्यय

पाप-पुण्य

यह तो सर्व-विदित है कि भारतीय मत में जीवन का लक्ष्य ब्रह्म या मोक्ष-प्राप्ति है। अतएव इस मोक्ष-प्राप्ति के निमित्त बहुत-से कर्मों का विधान किया गया है तथा इसमें जो बाधक हैं, वैसे कर्मों का निषेध किया गया है। मोक्ष प्राप्ति के सहायक इन्हीं कर्मों को पुण्य और निषिद्ध कर्मों को पाप कहते हैं। यह ध्यान रहे कि पाप और पुण्य यहाँ स्थूल कर्मों के द्योतक नहीं, वरन् उनसे संलग्न अदृश्य संस्कार-विशेष के परिचायक हैं। मोक्ष-प्राप्ति के सहायक कर्मों के अदृश्य संस्कार पुण्य कहे जाते हैं तथा उसके बाधक कर्मों के अदृश्य संस्कार पाप। पुण्य का फल बुद्धि पर बहुत अच्छा पड़ता है, जिसके फलस्वरूप बुद्धि की उत्तरोत्तर शुद्धि होती है। पाप द्वारा बुद्धि कलुषित हो जाती है।

भारतीय दार्शनिकों ने कर्म के तीन पक्ष माने हैं—मानसिक पक्ष, स्थूल पक्ष और संस्कार पक्ष। मानसिक पक्ष से उनका तात्पर्य कर्त्ता के अभिप्राय से है। अतएव यदि अभिप्राय या प्रेरणा (Motive) दूषित हो, तो अच्छा फल देनेवाला कर्म भी पाप ही का परिचायक होगा। स्थूल पक्ष से कर्म का भौतिक या क्रियमाणस्वरूप समझा जाता है। संस्कार पक्ष का सम्बन्ध पाप या पुण्य से है, जिसकी चर्चा पहले ही कर दी गयी है। भारतीय विचारकों के अनुसार पुण्य-पाप हमारे अच्छे या बुरे कर्मों के आवश्यक परिणाम हैं। उनसे कभी छुटकारा नहीं हो सकता।

धर्म-अधर्म

धर्म की व्याख्या पुरुषार्थ के अध्याय में पूर्ण रूप से कर दी गई है। वैसे कर्मों को, जो पूर्वकथित शुभाचरण के अनुकूल होते हैं, धर्म कहा जाता है और उनके विपरीत आचरण को अधर्म। धर्म का फल सुख होता है और अधर्म का दुःख। अधर्म द्वारा नरक अथवा बन्धन-प्राप्ति और धर्म द्वारा स्वर्ग अथवा मोक्ष-प्राप्ति होती है।

धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य आदि नैतिक प्रत्ययों का मूल्य मनुष्य की अपूर्णावस्था अर्थात् अज्ञानावस्था तक ही सीमित है। जब तक हम नैतिकता के क्षेत्र में पूर्ण नहीं, तभी तक इस क्षेत्र में धर्म-अधर्म आदि के विचार मानो हमपर बाहर से लादे जाते हैं। जब हम अन्ततःपूर्णता प्राप्त कर लेते हैं, तब हमारा स्वभाव ही ऐसा हो जाता है कि हम अधर्म या पाप कर ही नहीं सकते। तब इनका मूल्य नहीं रह पाता।

छठा अध्याय

सद्गुणों का वर्गीकरण

(Classification of Virtue)

सद्गुण के अर्थ से हम पुस्तक के पहले ही भाग मे परिचित हो चुके हैं। वहाँ हमने सद्गुणो के वर्गीकरण को भी देखा। अतः उन सभी बातों की पुनरावृत्ति यहाँ उचित नहीं जान पड़ती। प्रस्तुत अध्याय में हम भारतीय दार्शनिक पतञ्जलि के अनुसार सद्गुणों के वर्गीकरण पर विचार करेंगे। ये सद्गुण पाँच प्रकार के माने गये हैं। (१)

१—अहिंसा

२—सत्य

३—अस्तेय

४—ब्रह्मचर्य

५—अपरिग्रह

अब हम प्रत्येक की अलग-अलग व्याख्या करेंगे।

अहिंसा

पतंजलि ने उपर्युक्त पाँच प्रकार के सद्गुणों को सार्वभौम माना है अर्थात् जाति, देश, काल, पात्र आदि से सम्बन्ध रखनेवाली सीमाओं द्वारा ये गुण सीमित नहीं हैं। सभी प्रकार के लोगोंको इनका पालन करना चाहिये। सर्वप्रथम अहिंसा है। यह प्राणियों की समानता के सिद्धान्त पर अवलम्बित है। हिन्दू दार्शनिकों के अनुसार सभी प्राणी बराबर हैं और सबों-को जीने का समान अधिकार है। इसलिये विवेकी मनुष्य का कर्त्तव्य है कि

१—अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः —योगसूत्र २।३०।

वह किसी प्राणी की हिंसा न करे। हर व्यक्ति अपना जब यह अधिकार समझता है कि दूसरे उसकी रक्षा करें, तो उसका भी यह दायित्व हो जाता है कि वह भी दूसरों की रक्षा करे। हिंसा का साधारण अर्थ प्राण लेना है। साधारण बोलचाल की भाषा में किसी जीव के प्राण लेने के अर्थ में ही हिंसा का प्रयोग होता है तथा ऐसी प्रवृत्ति से निवृत्ति को ही अहिंसा कहते है। इसके इस रूप से पता लगता है कि अहिंसा एक निषेधात्मक (Negative) प्रत्यय है। यह सही है कि निषेधात्मक रूप में हिंसा न करना ही अहिंसा है। परन्तु इसका भावात्मक अर्थ भी है। इस अर्थ मे आत्मसंयम, त्याग, दयालुता, सहानुभूति आदि सद्गुण भी इसके अन्तर्गत आते हैं। जिनमें इन गुणों का अभाव होगा, भला वे अहिंसा-व्रत का पालन कैसे कर पायेंगे। अहिंसा, कायरता, अधैर्य आदि का परिचायक नहीं, वरन् इसके पालन के लिये तो अटूट निर्भीकता एवं धैर्य की आवश्यकता पड़ती है। हिन्दू दार्शनिकों के अनुसार अहिंसा सभी अन्य सद्गुणों की जननी है।

जैसा ऊपर कहा गया है हिंसा का वैज्ञानिक अर्थ केवल किसी जीव के प्राण लेना ही नहीं, अपितु उसे किसी प्रकार की भी हानि पहुँचाना भी है। अतएव किसी भी प्राणी को किसी प्रकार की भी हानि न पहुँचाने को ही अहिंसा कहा जाता है। हिंसा या हानि केवल कर्मों द्वारा ही नहीं की जाती, वरन् मन और वचन से भी सम्भव है। हम भले ही कर्मों द्वारा किसी की हत्या न करें या हत्या करने में असफल हो; परन्तु यदि हत्या का विचार-मात्र भी मन मे आ गया हो या हम वचन द्वारा ही उसके लिये कटु और अपशब्दों का प्रयोग करें, तो यह भी हिंसा ही मानी जायगी। अतः अहिंसा व्रत का पालन मन, वचन और कर्म तीनों स्तरों पर करना चाहिये।

आधुनिक युग मे महात्मा गांधी ने भी इसपर बहुत जोर डाला। आरम्भ मे लोग उनकी खिल्लियाँ उड़ाकर कहा करते थे कि यह तो कायरता है। परन्तु उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा और यह कहना सत्य भी है कि इसके लिये अत्यन्त ही आत्मबल की आवश्यकता है। कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ

आई जिनके कारण लोगो को भ्रम हुआ कि अहिंसा का प्रयोग गाँधी जी उचित रूप से नहीं कर रहे हैं। एक बार उन्होने एक बछड़े को जिसे बचने की कोई आशा नहीं थी, जहर दे कर मार डाला। फिर हिन्दू मुस्लिम दंगे के सिलसिले मे उन्होने कहा कि यदि कोई अनाचारी किसी स्त्री पर आक्रमण करता है तो आत्मरक्षा मे उस अनाचारी की जान लेना भी हिंसा नहीं कही जायगी। इन्हीं उदाहरणो से सन्देह होता है कि आखिर जान लेना हिंसा नहीं तो और क्या है?

ऐसा सोचना भ्रामक है। प्रथम तो लोक-कल्याण के लिये यदि हिंसा के अतिरिक्त अन्य कोई भी साधन बच ही नहीं जाये तो ऐसी परिस्थिति मे हिसा आवश्यक है। इस प्रकार चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये यदि हिंसा ही एकमात्र साधन हो तो उसे करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।[१] बछड़े को मारने मे यही सिद्धान्त था। फिर यदि कोई अनाचारी अपने कुकृत्यो के कारण मारा जाता है तो यह पाप मारने वाले को नही लगता।[२] वह तो अपने ही कार्यों द्वारा मारा गया। इसलिये स्थूल अर्थ मे भी यह हिसा नहीं है। इस प्रकार से सभी विचार भ्रामक हैं। यह सिर्फ सैद्धान्तिक ही नही वरन आज का न्याय शास्त्र भी मानता है कि आत्मरक्षा के लिये की गई हत्या के लिये कोई दोषी नही ठहराया जा सकता।

सत्य

हमारे शास्त्रों में सत्य की भी बड़ी महिमा गाई गयी है। ऋत और सत्य का अस्तित्व सृष्टि की रचना से पूर्व ही से बतलाया जाता है। वेदो

१—त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जानपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

२—गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥

—मनु० ८—३५०।

ने सत्य के विषय में कहा है कि सत्य ही के द्वारा आकाश, पृथ्वी, वायु आदि भौतिक तत्वों का धारण होता है।३

सत्य का प्रयोग तात्विक (Metaphysical) एवं नैतिक (Moral) इन दो अर्थों में किया जाता है। तात्विक अर्थ मे इसका बोध चरम तत्व (Ultimate Reality) से होता है जिसका अस्तित्व सदा बना रहता है अर्थात जिसका अभाव कभी नहीं होता। नैतिक अर्थ में सत्य आचरण से सम्बन्धित है। यहाँ इसका अर्थ है सत्यवादिता।

सत्यवादिता के लिये सत्य के दो रूप हो जाते है। १—वस्तुस्थिति का सही ज्ञान। २—उसकी उसी रूप मे अभिव्यक्ति। पहला ज्ञान सम्बन्धी हुआ और दूसरा कर्म अथवा अभिव्यक्ति सम्बन्धी। अतः स्पष्ट है कि अहिंसा की भाँति ही सत्य का प्रयोग मन, वचन और कर्म तीनो ही स्तरो पर होना चाहिये वस्तु स्थिति का ज्ञान सही हो फिर उसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति भी ठीक हो परन्तु मन में विकार हो जाने पर वह असत्य ही बन जायेगा। महाभारत युधिष्ठिर ही कहानी सर्वविदित है। द्रोणाचार्य की हत्या के लिये उन्होंने अस्प रूप से कहा कि अश्वत्थामा की मृत्यु हो गई। हाथी की या मनुष्य की इसक उन्होने जान-बूझकर स्पष्ट नहीं किया। अतः मन मे विकार रहने के का वे पाप के भागी बने और उन्हें भी नरक भोगना पड़ा। अतः मन, वचन कर्म सभी स्तरो पर सत्य का पालन करना चाहिये।

उपर्युक्त विवरण से सन्देह हो सकता है कि तब तो हर परिस्थिति सत्य का पालन करना ही चाहिये। परन्तु यह सही नहीं है। हर सामा नियमो की तरह इसके भी अपवाद हैं। मान लीजिये आपने कुछ निर्दो व्यक्तियों को हत्यारो के पंजो से छुड़ाकर घने जंगल मे छिपते हुए देखा है अब वे हत्यारे आपसे पूछें कि वे सब कहाँ गये, तो ऐसी स्थिति मे वस्तुस्थिा का यथावत् रूप मे निवेदन करना सत्यवादिता नहीं कहला सकता। शास्त्र

३—ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धस्तपसोऽध्यजायत।

—ऋग्वेद, १०—१६०—

मे कहा गया है कि सत्य केवल वाणी द्वारा ही सीमित नही है। यदि ऐसा आचार जिसके द्वारा लोक-कल्याण हो रहा हो उसे असत्य नहीं माना जा सकता। महाभारत के शान्तिपर्व, सत्यान्हताध्याय मे भीष्म ने युधिष्ठिर से सत्य के स्वरूप का निर्णय करते हुए कहा है कि यदि ऐसी परिस्थिति मे बिना बोले हुए ही काम चल जाय तो चुप रहना ही श्रेयस्कर है। लेकिन यदि बोलना आवश्यक हो अथवा न बोलने पर श्रोता के मन में सन्देह उत्पन्न हो तो झूठ बोलना भी अच्छा ही है क्यो कि ऐसे आचरण के द्वारा लोक-कल्याण होता है। (१) ऐसी सत्यवादिता जिसके द्वारा लोक को हानि पहुँचे न तो सत्य कहला सकती है और न अहिंसा ही। (२) अतः इन परिस्थितियों में सत्य नहीं बोलना भी पाप नहीं माना जायगा।

इसके अतिरिक्त मनु महाराज ने इसके अपवाद माने हैं। १ उनके अनुसार सत्यवादी को मधुरभाषी होना चाहिये। जिससे दूसरो को कष्ट हो, ऐसा सत्य नहीं बोलना चाहिये। मधुर असत्य और अमधुर सत्य दोनो ही का परित्याग करना चाहिये।

ब्रह्मचर्य

इसकी तो कुछ चर्चा वर्णाश्रम धर्म के अध्ययन के प्रसंग मे कर ही दी

१—अकूजनेन चेन्मोक्षो नावकूजेत्कथञ्चन।
अवश्यं कूजितव्ये वा शंकेरन्वाप्यकूजनात्॥
श्रेयस्तत्रान्हतं वक्तुं सत्यादिति विचारितम्॥
—महाभारत, शान्तिपर्व, १०६—१५—१६।

२—सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद्भूताहितमत्यन्तमेवतत्सत्यं मतं मम॥
—महाभारत, शान्तिपर्व, ३२६—१३; २८७—१६।

१—सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयातेपद्धर्मः सनातनः॥
(मनु० ४—१३८)

गई है। किन्तु वहाँ आश्रम के दृष्टिकोण से इसकी व्याख्या करने के कारण यहाँ हमें सद्गुण के दृष्टिकोण से इसकी व्याख्या करना उचित जान पड़ता है।

साधारण अर्थ मे ब्रह्मचर्य का अर्थ कामवासनाओ का त्याग है किन्तु हिन्दू दार्शनिकों के अनुसार इसका विशेष अर्थ है। इस अर्थ मे ज्ञानेन्द्रियो और कर्मेन्द्रियो तथा मन पर यथावत् नियन्त्रण रखने को ही ब्रह्मचर्य कहते हैं। हिन्दुओ और जैनियो मे इस प्रसंग में मतैक्य है। ज्ञानेन्द्रियो तथा कर्मेन्द्रियो पर संयम रखते हुये मन द्वारा भी उनके विषयो का चिन्तन हमें नहीं करना चाहिये। इसे ही ब्रह्मचर्य कहते हैं।२ अतः इस व्रत का पालन भी मन, वचन और कर्म तीनो ही स्तरों पर करना चाहिये। ऊपर के विवरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मचर्य को सिर्फ यौन सम्बन्धी क्रियायो से बचने तक ही सीमित नहीं किया जा सकता।

महात्मा गाँधी ने विवाहितो के लिये भी इस व्रत का आदेश दिया है। उनके अनुसार विवाह दो आत्माओं का मिलन है। इसलिये सुखानुभूति के लिये पति-पत्नी का यौन क्रिया में रहना पाप है। यह तो सिर्फ सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से होनी चाहिये। विवाहितों का ब्रह्मचर्य यही है।

अतः सभी प्रकार से अपनी इन्द्रियो एवं मन पर नियन्त्रण रखने को ही ब्रह्मचर्य कहा जाता है।

अस्तेय

दूसरों की सम्पत्ति के अवैधानिक अपहरण को ही स्तेय कहते हैं। इस तरह अन्यायपूर्वक (चोरी, धोखा आदि) दूसरों के धन को लेने को अस्तेय कहा जाता है। भारतीय दर्शन मे सम्पत्ति को यथोचित स्थान दिया गया है। इसी कारण से 'अर्थ' को पुरुषार्थ भी माना गया है। जैनियो ने भी

२—कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ३—६।

बतलाया है कि जीवन-रक्षण में अर्थ बड़ा सहायक है। अतएव दूसरों की सम्पत्ति का अपाहरण मात्र स्तेय ही नहीं, वरन् हिंसा भी है। इतना ही नहीं, किसी प्रकार के अन्यायपूर्ण ग्रहण को भी स्तेय कहते हैं। स्तेय का क्षेत्र और भी विस्तृत है। किसी दूसरे की सम्पत्ति के प्रति लोभ की भावना भी स्तेय ही है। अतः अस्तेय व्रत के पालन के लिये मन, वचन और कर्म सबों की शुद्धि आवश्यक है।

महात्मा गाँधी ने कहा है कि आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति रखना भी चोरी अथवा स्तेय है। जीवनोपार्जन से अधिक धन संचय नहीं करना चाहिये। इसी दृष्टिकोण से मार्क्सवादियों ने भी सम्पत्ति को चोरी ही कहकर पुकारा है। श्रीमद्भागवत में भी इसी आशय का विचार पाया जाता है।[१] इसके अनुसार प्राणियों की सम्पत्ति उतनी ही समझी जानी चाहियें जितनी से अपना पेट भर जाये। उससे अधिक धन को जो अपनी सम्पत्ति मानता है, वह चोर ही है।

अपरिग्रह

मनुष्यों को उतनी ही सम्पत्ति रखनी चाहिये जितनी अपनी आवश्यकताओं के लिये पर्याप्त हो। इस प्रयास को परिग्रह कहते हैं। परन्तु आवश्यकता से अधिक संचय को अपरिग्रह कहते हैं। अस्तेय में भी इसी बात पर जोर दिया गया है।

स्पष्ट है कि अपरिग्रह के लिये त्याग एवं निवृत्ति की भावना आवश्यक है। जब तक हम सासारिक वस्तुओं और उनसे उत्पन्न सुखों की ओर उदासीनता का भाव न लायेंगे, इस व्रत का पालन असम्भव है। हिन्दू आचारशास्त्र में यह बतलाया गया है कि किन-किन अवसरों पर सम्पति या अन्य वस्तुएँ ग्रहणीय हैं। उन विशेष अवसरों से सम्बद्ध वस्तु या सम्पत्ति के ग्रहण

१—यावद्भ्रियेत्जठरं तावत्स्वत्वं देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्यते स स्तेनः इति कथ्यते ॥

—श्रीमद्भागवत्

को प्रतिग्रह कहते हैं और इनके अतिरिक्त अन्य अन्यायपूर्ण सम्पत्ति-ग्रहण को स्तेय। अपरिग्रह और अस्तेय एक दूसरे के पूरक होते हुए भी, दोनो में अन्तर है कि जहाँ अस्तेय में दूसरो की वस्तु या सम्पत्ति को न लेने अथवा लोभ न करने पर जोर डाला गया है वहाँ अपरिग्रह मे वस्तुओ के प्रति उदासीनता अथवा अनासक्ति बतलायी गयी है।

आज के युग मे आर्थिक विषमताओ और उनसे उत्पन्न बुराइयो का एकमात्र कारण इन्ही भावनाओ का सर्वथा अभाव है। संत विनोवा के भूदान में वस्तुतः इन्हीं दोनो व्रतो पर जोर डाला गया है। भूदान तो एक साधन मात्र है। जब तक लोगों मे ये भावनाएँ नहीं आतीं, सच्चा समाजवाद एक कल्पना ही होकर रहेगा। इसलिए सभी लोगो द्वारा इन व्रतों के पालन से ही विश्व का कल्याण सम्भव है।

देवव्रत द्वारा नवराष्ट्र प्रेस, राजेन्द्रपथ, पटना—१ मे मुद्रित।